अंक : 59, भाग : 2, वर्ष : 2013-14
Volume : 59, No. : 2, Year : 2013-14

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

विद्यार्थी अपने जीवन को शौर्य से विभूषित करें,
पर शौर्य भी मनुष्यता और न्यायनिष्ठा से अलंकृत हो।

–महामना पं. मदन मोहन मालवीय

महामना वाणी

- जीवन का सर्वांगीण विकास शिक्षा का मूलमन्त्र हो। शिक्षा की ऐसी व्यवस्था हो कि विद्यार्थी अपनी शारीरिक, मानसिक, भावात्मक शक्तियों का विकास कर आगे चलकर किसी व्यवसाय द्वारा सच्चाई और ईमानदारी से अपना जीवन निर्वाह कर सकें, कलापूर्ण सौन्दर्यमय जीवन व्यतीत कर सकें, समाज में आदरणीय और विश्वासपात्र बन सकें, तथा देशभक्ति से, जो मनुष्य को उच्च कोटि की सेवा करने को प्रेरित करती है, अपने जीवन को अलंकृत कर राष्ट्र की सेवा कर सकें।
- सब विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति और वाङ्मय की गौरव पूर्ण उपलब्धियों का बोध कराया जाय, ताकि विद्यार्थी अपने देश और समाज की बौद्धिक समृद्धि की जानकारी प्राप्त कर सकें, अपने जीवन को अपने पूर्वजों के सद्गुणों से अनुप्राणित तथा जनता के जीवन से आत्मसात कर सकें।
- विश्वविद्यालयों में भारतीय और अर्वाचीन पाश्चात्य विद्वानों के अनुभवों और ज्ञान–विज्ञान के तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्यापन की समुचित व्यवस्था हो। विद्यार्थियों को सामयिक समस्याओं के समाधान के उपायों की खोज के लिए प्रोत्साहित किया जाय। वे अपनी संस्कृति के सजीव तत्त्वों की रक्षा करते हुए, संसार के ज्ञान–विज्ञान के लाभदायक तत्त्वों को ग्रहण करें, राष्ट्र की वृद्धि में उनका समुचित प्रयोग करें।
- ऐसे शैक्षिक विश्वविद्यालय खोले जायँ, जहाँ विभिन्न विषयों के उच्चस्तरीय विद्वान अपने अध्यापन और अनुसन्धान द्वारा विद्यार्थियों को अनुप्राणित और परिशिक्षित करें और जो वास्तव में विद्वता और प्रतिभा की खोज और विकास, वैज्ञानिक ज्ञान और अनुसन्धान की तरक्की एवं व्यावहारिक स्तर के उन्नयन का केन्द्र बन सकें।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

पं. मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भावः वि. सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभावः वि. सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

शिक्षक दिवस (दिनांक 05.09.2013)- 'प्रज्ञा' अंक-59, भाग-1, वर्ष 2013-14 के विमोचन के अवसर पर उपस्थित मंचासीन सदस्य एवं सम्पादक मंडल के सदस्य :

बायें से (बैठे)- प्रो. विनय कुमार सिंह, छात्र अधिष्ठाता; पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह, कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; प्रो. पृथ्वीश नाग, कुलपति, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ एवं प्रो. जी.एस. यादव, कुलसचिव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

(खड़े)- प्रो. राम सकल यादव, भूगोल विभाग; प्रो. देवेन्द्र कुमार, सिरामिक विभाग, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान; प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल, डॉ. हीरालाल प्रजापति, दृश्य कला संकाय एवं प्रो. राधेश्याम राय, हिन्दी विभाग।

*(**स्थान-** के. एन. उडुप्पा प्रेक्षागृह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)*

डा. लालजी सिंह
कुलपति

Dr. Lalji Singh Ph.D., D.Sc. (Hon.)
FNA, FASc, FNASc, FNAAS, FTWAS
Padmashri
Bhatnagar Fellow (CSIR)
Former Director, CCMB, Hyderabad
Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
(Established by Parliament by Notification No. 225 of 1916)
VARANASI-221 005 (INDIA)
Phones : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
e-mail : vcbhu1@gmail.com, vc_bhu@sify.com
website : www.bhu.ac.in

नवम्बर 30, 2013

शुभ संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका 'प्रज्ञा' के वर्तमान अंक (अंक-59, भाग-2, वर्ष-2013-14) का प्रकाशन किया जा रहा है।

यह पत्रिका विगत् 55 वर्षों से महामना के इस पावन विद्यामन्दिर की वैदुष्य परम्परा का सफलतापूर्वक निर्वहन करती चली आ रही है। इस पत्रिका में ज्ञान-विज्ञान के विविध पहलुओं से सम्बन्धित अनेक स्तरीय लेख तीन भाषाओं (हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी) में प्रकाशित किए जाते हैं। मैं यह आशा करता हूँ कि पत्रिका का यह अंक पाठकगणों में लोकप्रिय होगा तथा पाठकगण इससे अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

मैं पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को बधाई देता हूँ तथा पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

लालजी सिंह

(लालजी सिंह)

सम्पादकीय

सर्वविद्या की राजधानी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ख्यातिप्राप्त शोध पत्रिका ''प्रज्ञा'' का प्रकाशन 1958 ई. से लेकर आज तक निरन्तर रूप से हो रहा है। महामना के शुभसंकल्पों एवं विचारों का प्रबुद्ध वर्ग में निरन्तर प्रचार/प्रसार करना इस पत्रिका का मूल उद्देश्य है। वर्तमान परिवेश की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति भी यह पत्रिका सजग रही है और देश एवं समाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित स्तरीय अनेक लेख इसमें हिन्दी, अंग्रेजी एवं संस्कृत भाषा में प्रकाशित होते हैं। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक विद्वानों एवं चिन्तकों का बराबर सहयोग इस पत्रिका को मिलता रहा है।

''प्रज्ञा'' के प्रस्तुत अंक (अंक-59, भाग-2, वर्ष 2013-14) में कुल 39 लेख/शोध-प्रपत्र संकलित हैं, जिसमें 23 लेख हिन्दी भाषा में, 7 लेख संस्कृत भाषा में एवं 9 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं। इस अंक में हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा के साहित्य से सम्बन्धित अनेक स्तरीय लेख संकलित हैं। इन विषयों के अतिरिक्त योग एवं विश्व शान्ति, वैदिक वाङ्गमय एवं ज्योतिष शास्त्र, बौद्ध धर्म एवं दर्शन, लोक संस्कृति एवं लोक साहित्य, राजनीति एवं समाजशास्त्र, आध्यात्म एवं मनोविज्ञान, आयुर्वेद एवं वनस्पति विज्ञान तथा स्थापत्य कला एवं संस्कृति आदि विविध विषयों से सम्बन्धित ज्ञानवर्द्धक अनेक शोध-प्रपत्र एवं लेख पाठकों को इस अंक में पढ़ने को मिलेगें। आशा है कि गत अंकों की भाँति यह अंक भी प्रबुद्ध पाठक वर्ग का पर्याप्त ध्यान आकृष्ट करने में सक्षम सिद्ध होगा।

''प्रज्ञा'' जर्नल के इस अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम इस महान विश्वविद्यालय के कुलपति पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनके कुशल मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन से हम लोगों को सदैव शक्ति मिलती रही है। उसके बाद कुलसचिव प्रो. जी. एस. यादव; वित्त अधिकारी श्री अभय कुमार ठाकुर एवं अन्य अधिकारियों को धन्यवाद देता हूँ, जिनके सहयोग द्वारा ''प्रज्ञा'' का प्रकाशन कार्य संभव हुआ है। ''प्रज्ञा'' के संरक्षक मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के महानुभावों के सहयोग के लिए मैं उन सभी को धन्यवाद देता हूँ। स्तरीय शैक्षणिक सहयोग के लिए मैं इस अंक के विद्वान लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस अंक के सफल प्रकाशन हेतु मैं भी बी.एच.यू. प्रेस के अध्यक्ष, प्रो. रवि प्रताप सिंह एवं संयोजक, प्रो. माया शंकर पाण्डेय तथा समस्त सहयोगियों की शुक्रिया अदा करता हूँ। आकर्षक एवं सुरूचिपूर्ण आवरण पृष्ठ के प्रकाशन हेतु मैं मेसर्स गौतम प्रिंटर्स, वाराणसी को साधुवाद देता हूँ। अंत में मैं ''प्रज्ञा'' कार्यालय के सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जय प्रकाश एवं अशोक कुमार को भी धन्यवाद देता हूँ, जिनका मुझे बराबर सहयोग मिलता रहा है।

(प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय)
सम्पादक 'प्रज्ञा' जर्नल

योग और विश्वशान्ति

डॉ. उमा मौर्या एवं प्रो. कृष्णकान्त शर्मा***

आधुनिक विश्व भारत के उस बहुमूल्य उपहार के लिए ऋणी है, जो इसको 'योग' की विचारधारा तथा कला के रूप में प्राप्त है। योग के बीज वैदिक संहिता में प्राप्त होते हैं, क्योंकि भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म की नींव वेदों में निहित है। वेद और उपनिषदों के आरम्भिक काल में योग के विषय में वर्णित है–

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन

स धीनां योगमिन्वति।[1]

काठकोपनिषद् में आत्मज्ञान के साधन के रूप में योग को स्वीकार किया गया है–

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।[2]

महाभारत में योग के विषय में वर्णित है–

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।[3]

प्रत्येक उपनिषद् के मन्त्र के अन्त में 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' संकल्प में अपरिमित शान्ति है। वातावरण को शान्त करने के लिए मन को शान्त करना होगा। मन की स्थिरता के लिए योग की आवश्यकता है और 'योग' के द्वारा ही आभ्यन्तर एवं बाह्य वातावरण में शान्ति सम्भव है।

महर्षि पतञ्जलि ने 'योगसूत्र' में यह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठ अङ्गों का वर्णन किया है–

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-

धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।'[4]

'योग' की पूर्ण साधना के लिए इन आठ अङ्गों का क्रमशः अभ्यास परम आवश्यक है। पतञ्जलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरङ्ग योग और धारणा, ध्यान तथा समाधि को अन्तरङ्ग योग कहा है–

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।[5]

और अन्तरङ्ग (धारणा, ध्यान, समाधि) तीनों साधन निर्बीज योग के बहिरङ्ग हैं।।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।[6]

तथा धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीनों संयुक्त रूप से संयम कहलाते हैं–

त्रयमेकत्र संयमः।[7]

इन अष्टाङ्गों में से यम, नियम, आचार सम्बन्धी अभ्यास हैं। आसन, प्राणायाम शरीर को भौतिक रूप से योगाभ्यास योग्य बनाने के उपाय हैं। प्रत्याहार प्रधानतः इन्द्रियनिग्रह का उपाय है और उसके बाद की प्रक्रियाएँ धारणा, ध्यान और समाधि पूर्ण रूप से मानसिक तथा आध्यात्मिक नियमन की साधनाएँ हैं।

प्राचीनकाल से ऋषियों में शान्तिपाठ की परम्परा थी। पीछे के वर्षों में जो शान्ति, शुद्धता और निर्मलता थी, आज वह भङ्ग हो गयी है। मन्त्रों में 'शान्तिः' शब्द, जो तीन बार आया है, उसका तात्पर्य तीन अशान्तियाँ अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इनको शान्त करना है।

ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्यकारिका में त्रिविध दुःखों का वर्णन किया है–

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।'[8]

आध्यात्मिक दुःख का तात्पर्य शरीर और मन दोनों से है। मन में अशान्ति, तनाव, उदासीनता, मन में विक्षेप होने से होता है। फलस्वरूप शरीर में भी प्रभाव पड़ता है। शरीर में वात, पित्त, कफ इन तीनों के वैषम्य के कारण उदर रोग, ज्वर और शरीर के समस्त अङ्गों में पीड़ा उत्पन्न होती है। 'आधिभौतिक दुःख' मनुष्य, पशु, पक्षी, मृग, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला है। 'आधिदैविक दुःख' यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह, भूकम्प, बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादि से होने वाला है।

'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' हमारे कार्य हमारे सङ्कल्प के अनुसार होते हैं। सङ्कल्प का मूल मन है। अतः वैदिक ऋषि हमारे उस मन को शिवसङ्कल्प होने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं- ईश्वर का भी एक सङ्कल्प सृष्टि की रचना करना है, जहाँ सृष्टि होगी, वहाँ कोलाहल होगा, जहाँ जीवन होगा, वहाँ संघर्ष होगा, अतः अशान्ति होगी। भगवद्गीता में अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से कहते हैं कि भगवन्! मुझे शान्ति चाहिए, मैं गुरुजनों को मारने की अपेक्षा भिक्षा माँग कर जीवनयापन करना श्रेष्ठ समझता हूँ–

*पूर्व शोधच्छात्रा, वैदिकदर्शनविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, वैदिकदर्शनविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुञ्जीथ भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।[9]

कठोपनिषद् के अनुसार योग वह उच्चतम अवस्था है, जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित आत्मा में स्थिर हो जाती हैं, बुद्धि का व्यापार भी रुक जाता है। इसप्रकार इन्द्रियों के नियन्त्रित होने से मन स्थिर हो जाता है। उस अवस्था में साधक प्रमादरहित रहता है–

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह
बुद्धिश्च न विचेष्टेन तामाहुः परमां गतिम्।
तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[10]

आधुनिक समय में घर, परिवार, विद्वानों में, विश्व में अशान्ति देखने को मिल रही है। आज के युग में सभी तनाव, अनिद्रा तथा हृदयरोग इत्यादि रोगों से ग्रस्त होते जा रहे हैं। पश्चिम के वैभवसम्पन्न देशों में यह समस्या इतनी तीव्र गति से बढ़ रही है कि अमेरिका जैसे देश में लाखों की संख्या में लोग शहरी जीवन छोड़कर भाग रहे हैं। इस अशान्त स्थिति में लोगों का ध्यान भारत की योगपद्धति एवं कला की ओर आकर्षित हो रहा है।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने मन के निरोध के विषय में कहा–

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'[11]

चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि चित्त की वृत्तियाँ क्या-क्या हैं। यद्यपि विषयसापेक्ष चित्तवृत्तियां विषयों के आनन्त्य से असंख्य प्रकार की हैं तथापि योगसूत्रकार ने 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'[12] सूत्र से पाँच प्रकार में वृत्तियों को समाविष्ट किया है।

इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा सम्भव है–

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'[13]

अभ्यास मन की स्थिरता के निमित्त प्रयत्न करना है–

'तत्र स्थितौ यत्नोभ्यासः'[14]

वैराग्य दो प्रकार का है, अपरवैराग्य और परवैराग्य। ऐहिक पारलौकिक विषयों से निस्पृह चित्त का 'वशीकार' अपरवैराग्य है–

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णास्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।'[15]

और पुरुष की ख्याति (साक्षात्कार) के कारण गुणों के प्रति जो उपेक्षाबुद्धि होती है, वह परवैराग्य है–

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।'[16]

आज का जीवन बहुत ही समृद्ध है, प्रत्येक व्यक्ति वाहन से चल रहा है, सुख के साधन बढ़ रहे हैं। पहले व्यक्ति एक कपड़े पहन कर संतुष्ट रहता था, किन्तु आज इतना वैभव रहने पर भी अशान्त है। इस अशान्ति को दूर करने के लिए योग से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। आज योग के विषय में विडम्बनाएँ दिख रही हैं। लोग शरीर सौष्ठव अर्थात् सुन्दर दिखने के लिए, स्थूल न होने के लिए तथा स्वास्थ्य सुधार के लिए योग का अभ्यास कर रहे हैं। यह भी आवश्यक है, परन्तु हमें योग के मुख्य उद्देश्य चित्त की स्थिरता को भूलना नहीं चाहिए।

आज मनुष्य में त्याग की अपेक्षा भोग की कामना बढ़ गयी है। वह विभिन्न प्रकार के सुखों का आनन्द लेना चाहता है, इस प्रकार कामनाएँ अशान्ति उत्पन्न करती हैं। व्यक्ति में आसक्ति आ जाती है, क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध के कारण मनुष्य में कार्य-अकार्य का अविवेकरूप मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मृति विचलित होती है, स्मृति के विचलित होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि का नाश होने से पुरुष का नाश हो जाता है, जैसा कि भगवद्गीता में वर्णित है–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।[17]

आज का युग विज्ञापन का युग है। आज आकाशवाणी, दूरदर्शन इत्यादि में विभिन्न प्रकार के विज्ञापनों का प्रचार होता है, जिससे लोगों में उस वस्तु को खरीदने की लालसा जागृत होती है कि जो भी नई वस्तु सर्वप्रथम विज्ञापन में आये, वह मेरे पास हो। इस प्रकार इच्छाओं की समाप्ति कभी पूर्ण नहीं हो सकती और उनका मन अशान्त हो जाता है। अतः मनुष्य में नियमरूप योगाङ्ग के अन्तर्गत वर्णित सन्तोष को अपनाना चाहिए।

आज के युग के मानव की यह विचारधारा होनी चाहिए कि जिस प्रकार उगता हुआ सूर्य अपने प्रकाश को पूरे विश्व में फैलाता है और अस्त होने पर किरणों को स्वयं में समेट होता है, उसी प्रकार यदि हमारा मन दूर तक भ्रमण करता है, अच्छाई-बुराई को देखता है, किन्तु उसका ग्रहण न करते हुए पुनः अपनी पूर्व स्थिति में ही रहता है तो समाज के प्रत्येक व्यक्ति में उच्च आदर्श रहेगा तथा उसका मन अशान्त नहीं होगा और मन शुभ विचारों वाला होगा, जैसा कि शुक्लयजुर्वेद में वर्णित है–

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदाजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[18]

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहते हैं कि

मन बड़ा चञ्चल है, यह शरीर और इन्द्रियों को क्षुभित करने वाला बलवान और दृढ़ है। इसे रोकना वायु को रोकने के समान दुष्कर है, तब भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं– हे महाबाहो! मन निःसन्देह कठिनता से वश में होने वाला और चञ्चल है, किन्तु कुन्तीनन्दन यह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो सकता है–

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥[19]

आधुनिक समय में प्रत्येक मनुष्य में ईर्ष्या की भावना विद्यमान है, प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि अमुक के पास यह वस्तु है, मेरे पास नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति में असन्तोष बढ़ता है, अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने से किसी बड़ी सत्ता पर विश्वास करें और अपना सम्पूर्ण जीवन उस पर अर्पित कर दें, क्योंकि भक्तिविशेष से प्रसन्न किया गया ईश्वर योगी को सङ्कल्पमात्र से अनुगृहीत करता है–

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'[20]

प्रत्येक मनुष्य को जन्म, आयु और भोग रूपी कर्माशय के फल में विश्वास करना चाहिए और यदि वह ऐसा करता है तो वह पाप नहीं कर सकता, क्योंकि उसे ज्ञात रहेगा कि यदि वह बुरा कर्म करेगा तो उसे मनुष्य योनि प्राप्त नहीं होगी और दुःख का भागी बनेगा। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि क्लेश रूपी मूल के रहने पर जन्म, आयु और भोग रूपी कर्माशय के फल प्राप्त होते हैं–

'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।[21]

अतः मनुष्य यदि शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे अष्टाङ्गयोग का नियमित रूप से पालन करना होगा और यदि वह ऐसा करता है तो चित्त के शान्त होने पर विषयों का अभाव हो जाने पर उसकी अपने स्वरूप में स्थिति हो जायेगी, जैसा योगसूत्र में कहा गया है–

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।[22]

आजकल पूरे विश्व में जिस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अशान्ति का वातावरण बना हुआ है, वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हमारे स्वास्थ्य और हमारी मानसिक शान्ति को व्यापक रूप से हानि पहुँचा रहा है। परिस्थितियाँ हमारे लिए कार्य करने हेतु अनुकूल बनें, ऐसा प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है और इस दिशा में योग निश्चित रूप से हमें उन्मुख कर सकता है। यही कारण है कि आज विश्व स्वास्थ्य संगठन योग के वैश्विक प्रचार के कार्य में व्यापक रूप से अग्रसर होने लगा है और यदि ये सारे प्रयास दृढ़ मन, विश्वास से किया जायेगा तो 'योग' निश्चित ही 'विश्वशान्ति' के मार्ग में प्रस्थान बिन्दु की भूमिका निभा सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. ऋक् संहिता, मण्डल 1, सूक्त 18, मन्त्र 7
2. काठकोपनिषद्, 1/2/21
3. महाभारत, 11/349/65
4. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 2/29
5. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 3/7
6. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 3/8
7. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 3/4
8. सांख्यकारिका, 1
9. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/5
10. कठोपनिषद्, 2/3/10-11
11. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/2
12. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/6
13. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/12
14. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/13
15. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/15
16. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/16
17. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/62-63
18. शुक्लयजुर्वेदसंहिता, 34 अध्याय/6 मन्त्र
19. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/34-35
20. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/23
21. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 2/13
22. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/3

विवेकचूडामणि व पञ्चदशी के आलोक में मायाविमर्श

परमेश तिवारी एवं प्रो. सोमनाथ नेने***

जगत् की सृष्टि रहस्यमयी है। इसके रहस्य को जानने के लिए मानवमस्तिष्क सदैव से चिन्तनशील रहा है। भारतीय मनीषियों ने अपनी सूक्ष्म-कुशाग्र-बुद्धि के बल पर जिन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया हैं, वे दर्शन के इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हीं सिद्धान्तों में वेदान्त-दर्शन का मायावाद भी है। अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को ही जगत्-प्रपञ्च का कारण स्वीकार करते हैं। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म इस जगत् का निमित्त एवं उपादान दोनों कारण है। ऊर्णनाभि (मकड़ी) आदि के दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्म का उभयकारणत्व मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है-

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥'[1]

'जन्माद्यस्य यतः'[2] यह ब्रह्मसूत्र भी जगत्कारणत्व का निरूपण करता है। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति.....'**[3], **'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'**[4], **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः.....'**[5], **'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति'**[6], **'अहं सर्वस्य प्रभवो मतः सर्वं प्रवर्तते'**[7], **'बीजं मां सर्वभूतानाम्'**[8] इत्यादि श्रुतिस्मृतियों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसार का कारण है, किन्तु अद्वैतमत के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्य-स्वभावपरमानन्दानन्ताद्वय, अविकारी, अद्वितीय, निर्विशेष, निर्गुण-निराकार, अखण्ड, अवाङ्मनसगोचर तथा एक है। निम्नलिखित श्रुतियाँ प्रमाण हैं- **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**[9], **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'**[10], **'एकमेवाद्वितीयम्'**[11], **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'**[12], **'असङ्गो ह्यं पुरुषः'**[13], **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**[14] इत्यादि। अतः उपाधिशून्य, निर्विकार, निर्गुण-निराकार, निर्विकल्पक, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म इस नामरूपात्मक नित्य विकारी जगत् का कारण कैसे हो सकता है अर्थात् इस जगत्-प्रपञ्च को उत्पन्न करने में कैसे समर्थ हो सकता है? वह कर्तृत्वरहित निष्क्रिय है- **'अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्। प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्॥'**[15] यदि कारण मान भी लें, तो ब्रह्म उन समस्त दोषों से संस्पृष्ट होने लगेगा, जो इस जगत् में हैं। उसके अनन्तता, निरवयवता, अखण्डता आदि बाधित होने लगेंगे। दूसरी बात कि **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**[16] इस कथनानुसार अद्वैतसिद्धान्त में केवल ब्रह्म ही सत् है, अन्य सब कुछ मिथ्या है। यदि ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है, किन्तु जगत् की अनुभूति हमें सदा होती है तो इन दोनों विचारों में तार्किक समन्वय कैसे सम्भव है? परमार्थतः ब्रह्म ही एकमात्र सत् है जो निर्गुण, निर्विशेष, अद्वय एवं भेद रहित सत्ता है, किन्तु सांसारिक-जीव कुछ अन्य ही अनुभव करता है, जिसके अन्तर्गत जगत् का प्रपञ्च एवं जीवों की विविधता आती है। अतः ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्-जीव-प्रपञ्च की समन्विति कैसे स्थापित की जाए? अद्वैतवेदान्त में इन समस्त समस्याओं का समाधान खोजा गया है- 'माया' नाम्नी शक्ति में। माया के कारण ही उपर्युक्त वर्णित श्रुतियों में सामञ्जस्य स्थापित होता है। यह माया ब्रह्म की अतिशक्तिशाली, अनिर्वचनीय एवं अनादि शक्ति है। इसी के द्वारा वह सृष्टि करने में समर्थ होता है और जागतिक दोषों से भी अस्पृष्ट रह जाता है। इस सिद्धान्त में यदि मायारूप तत्त्व को न माना जाय तो सृष्टि ही संभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं सृष्टि नहीं करता। इस प्रकार निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकार ब्रह्म से नानानामरूपात्मक विलक्षण जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण केवल माया है। वह संसार की कारणशक्ति है। नानानामरूपात्मक जगत् इसी में सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है। इसी शक्ति से उपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है तथा वही परमेश्वर जगत् का अभिन्नविवर्तनिमित्तोपादानकारण होता है। निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर माया के कारण ही प्रपञ्चात्मक जगत् एवं जीव की विविधता का अनुभव होता है। यह ब्रह्म की शक्ति माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है, अपितु अनिर्वचनीय है। विलक्षण एवं आश्चर्यरूपा है। इसके कई नाम प्राप्त होते हैं। यथा- अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अध्यास आदि। सदानन्द ने माया के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है- 'अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधिभावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति- 'अहमज्ञ' इत्याद्यनुभवात्''[17] अर्थात् माया या अज्ञान सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधि तथा भावरूप है।

विवेकचूडामणि में माया- भगवत्पूज्यपादश्रीशङ्करविरचित 'विवेकचूडामणि' अद्वैतसिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक ग्रन्थ है। इस मत के अनुसार केवल ब्रह्म को ही अद्वितीय तथा सत् स्वीकार किया गया है, तदतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[18]। अतः आचार्य शङ्कर ने इस सत् और असत् को परस्पर संयुक्त करने वाली एक कड़ी की कल्पना की है, जिसकी संज्ञा उन्होंने माया (अविद्या) की है।

---

*शोधच्छात्र, संस्कृतविभाग, कलासङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

**शोधनिर्देशक, संस्कृतविभाग, कलासङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

यह माया अव्यक्त नामवाली, अनादि तथा परमेश्वर की शक्ति है। जिस शक्ति से संयुक्त होकर ब्रह्म ईश्वर कहलाता है तथा जगत् की सृष्टि करता है। श्रुति भी इस बात का निर्देश कर रही है- 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।''[19] सत्त्व, रज तथा तमोगुण ही इसका स्वरूप है अर्थात् यह त्रिगुणात्मिका है। तीन गुणों से युक्त यह मायाशक्ति इन्द्रियज्ञान के परे है। इसके कार्य (परिणाम) ही केवल देखे जा सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे विद्युत को हम केवल उसके कार्य अर्थात् अभिव्यक्त रूप से ही जान सकते हैं। इस प्रकार माया कार्यानुमेया है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रसूत है। यही भाव 'विवेकचूडामणि' स्पष्ट करता है-

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥[20]

हम अपने चारो तरफ जिस अनित्य, परिच्छिन्न एवं परिवर्तनशील जगत् को देखते हैं, वह केवल माया से ही आविर्भूत है। सत्य के अज्ञान के कारण ही हमें विषय, दृश्य, भाव एवं विचारों की दुनियाँ गोचर प्रतीत होती है। शरीर, मन, बुद्धि रूपी उपकरणों के माध्यम से हम जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा अधिकाधिक वासनाओं का निर्माण करते हैं। ये वासनाएँ पुनः उसे अधिकाधिक क्रियाशील बनाती है तथा अन्त में हम उन्हीं में उलझकर रह जाते हैं, जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही कोश में बद्ध हो जाता है। फलतः हम सदैव के लिए अपने व्यक्तित्व में 'जीवभाव' को प्रादुर्भूत कर लेते हैं। यह सारा खेल 'सत्य के अज्ञान' अर्थात् 'माया' के कारण होता है।

वह माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है, न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न उभयरूप ही है। अतः वह अत्यन्त अद्भूत तथा अनिर्वचनीयरूपा है, जैसा कि उक्त है-

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥[21]

यहाँ सत् का अर्थ अपने नियत रूप से कभी व्यभिचरित न होना है- ''यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।[22] त्रिकालाबाधित वस्तु सत् है- ''**सत्यत्वं बाधराहित्यम्।**''[23] अत एव सत् का कभी भी अभाव नहीं होता। भगवान ने भी कहा है- ''नाभावो विद्यते सतः।''[24] सत् की इस परिभाषानुसार माया कभी भी सत् नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान से माया की निवृत्ति हो जाती है। आचार्यशङ्कर लिखते हैं- **'शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा।'**[25] **'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'**[26], **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'**[27] इत्यादि श्रुतिस्मृति के द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि ज्ञान के द्वारा माया बाधित हो जाती है। अतः माया को सत् नहीं कहा जा सकता। इसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। असत् का अर्थ है किसी भी अधिकरण में वस्तु की सत्ता का न होना अर्थात् तीनों कालों में जिसकी सत्ता न हो। कहा गया है- **'त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेको नासत्त्वम्, किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम्।**[28] जैसे- बन्ध्यापुत्र, खपुष्प आदि। किन्तु **'अहमज्ञः', 'मामहं न जानामि'** इत्यादि रूप में अज्ञान की प्रतीति तो हमें होती ही है। अतः इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। इसे सत् और असत् उभयरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकाश एवं अन्धकार के समान सत् एवं असत् अत्यन्त भिन्न धर्म वाले हैं। अतः एक साथ इनकी उपस्थिति सम्भव नहीं है। अत एव माया अनिर्वचनीय है। यह माया ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न माने तो अद्वैत बोधक श्रुतियों का विरोध होगा, लोक में भी शक्ति व शक्तिमान् का अत्यन्त भेद नहीं माना जाता। यह ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं है, यदि ब्रह्म से अभिन्न माने तो इसका बोध नहीं हो सकेगा एवञ्च भिन्न और अभिन्न दोनों विरोधी होने के कारण एक साथ दोनों का होना सम्भव नहीं है। अतः माया भिन्नाभिन्न उभयात्मिका भी नहीं है। इसी प्रकार अनादि होने के कारण यह अवयववयुक्त नहीं है, क्योंकि इसका जन्म नहीं हुआ है। माया अज है अर्थात् कभी जन्म नहीं लेती। इस विषय में श्रुति प्रमाण है'-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥[29]

जिसका जन्म होता है, वही अवयववयुक्त होता है। इसे अवयवरहित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निरवयव का परिणाम नहीं होता, किन्तु माया का परिणाम तो सर्वविदित ही है। पुनश्च सावयवत्व निरवयवत्व दोनों का एक स्थान में रहना असम्भव होने के कारण उभयात्मिका भी नहीं कह सकते। अतः किसी भी तरह माया का निर्वचन सम्भव नहीं है। अत एव माया अनिर्वचनीया, विलक्षण तथा आश्चर्यरूपा है।

इसके रज, तम और सत्त्व रूप तीन गुण बहुत ही प्रसिद्ध हैं, जो कि अपने-अपने कार्यों से प्रख्यात हैं। इनमें रजोगुण की विक्षेपशक्ति कार्यरूपा है। जिससे अनादिकाल से संसार की हेतुभूत प्रवृत्ति फैली है। जिस शक्ति से वस्तु अन्यथा प्रतीत होती है, वह आवरण नामक तमोगुण की शक्ति है, जो जन्म-मरण रूप संसार का आदि कारण है और विक्षेप शक्ति के विस्तार का भी कारण है। जैसा कि उक्त है-

एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा॥[30]

इसी प्रकार सत्त्वगुण जल के समान यद्यपि विशुद्ध है तथापि रज एवं तम से मिलकर यह संसरण के लिए समर्थ होता है। इस सत्त्वगुण में आत्मबिम्ब प्रतिबिम्बित होकर सूर्य के समान समस्त अनात्मा को प्रकाशित करता है। क्योंकि सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। गीता भी कहती है- 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'[31]। इस त्रिगुणात्मिका, अव्यक्त, अनादि माया (अविद्या) को ही कारणशक्ति भी कहा गया है। जिसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है। यद्यपि अज्ञान तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है तथापि जाग्रत एवं स्वप्न में साधारण रूप से रहता है, किन्तु सुषुप्ति में असाधारण रूप से अभिव्यक्त होता है।

'तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः। सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था...'[32] इस अवस्था में पुरुष को मैं कुछ भी नहीं जानता- 'किञ्चिन्न वेद्मीति'' ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार, सम्पूर्ण जगत् इस त्रिगुणात्मिका माया से ही प्रादुर्भूत है, जो ब्रह्मज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है।

पञ्चदशी में माया- 'पञ्चदशी' विद्यारण्य स्वामी द्वारा प्रणीत अद्वैतवेदान्त का निरूपक प्रमुख ग्रन्थ है। इसके अनुसार चिदानन्द रूप परमब्रह्म के आभास से युक्त सत्त्व, रज एवं तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जो माया एवं अविद्या के भेद से दो प्रकार की है। उनमें से विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान माया तथा मलिनसत्त्वगुणप्रधान अविद्या कहलाती है। जैसा कि आचार्य ने कहा है-

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।।
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।।[33]

जगत् के कारणभूत ब्रह्म से अभिन्न, आकाशादि कार्यरूपलिङ्ग से गम्य सद्रूप ब्रह्म की शक्ति, जो समस्त प्रपञ्च आदि कार्य वर्ग के उत्पादन की सामर्थ्य रखती है, माया शब्दवाच्य है। यह माया ऐसी है, जैसी अग्नि की शक्ति। वह शक्ति किसी के द्वारा कहीं पर भी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञात नहीं होती-

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा।।[34]

अतः कार्यरूपलिङ्ग से ही मायाशक्ति का ज्ञान सम्भव है। ब्रह्म से भिन्न इसका कोई तत्त्व नहीं है। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सद्वस्तु की शक्ति क्या सत् है अथवा असत्? वह सत् की शक्ति सद्वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि अग्नि स्वयं अपनी शक्ति नहीं होती। यदि अग्नि ही अग्नि की शक्ति माना जाय तो चन्द्रकान्तमणि आदि प्रतिबन्धों के कारण दाह का होना अवरूद्ध हो जाता है अथवा प्रतिबन्ध के अवरोधक मन्त्र औषधि आदि उत्तेजक की विद्यमानता में प्रतिबन्ध के रहने पर भी दाह पुनः होने लगती है, इससे ज्ञात होता है कि अग्नि की दाहादिकी शक्ति अग्नि से पृथक् है। अतः सत् की शक्ति सद्वस्तु नहीं हो सकती। द्वितीय पक्ष भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह नरविषाण के समान नहीं हो सकता। यदि उस शक्ति का रूप शून्य को बताया जाय तो शून्य तो माया का कार्य ही है। इस कारण यही कहना पड़ता है कि वह माया न तो शून्य ही है और न सत् ही है। ऐसा कोई सदसद्विलक्षण तत्त्व अगर हम समझ सकते हैं तो वैसा ही माया को समझ ले। उस माया का निर्वचन सत् व असत् इन दो शब्दों से नहीं हो सकता है-

'न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम्।।
शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम्।।'[35]

नृसिंहतापनीय उपनिषद् में माया का प्रतिपादन हुआ है कि माया तमोरूपा है- **''माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात्।''**[36], वह माया जड तथा आवरणरूप है। इस प्रकार लौकिक अनुभव की दृष्टि को लेकर जडरूप तथा मोहरूप तमोरूपा माया की साधारणतया सभी लोग अनुभूति करते हैं। किन्तु युक्ति से तो माया का स्वरूप अनिर्वचनीय सिद्ध है। वह माया असत् नहीं, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और वह सत् भी नहीं, क्योंकि इसका बाध हो जाता है। विद्या की दृष्टि से वह तुच्छ कही गयी है, जिसकी तो सदा ही निवृत्ति है। आचार्य कहते भी है-

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात्।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः।।[37]

इस माया को श्रुतिजन्य ज्ञान से तुच्छ अर्थात् तीनों कालों में असद्रूप, युक्तिजन्य ज्ञान से अनिर्वचनीया, अर्थात् सत् व असत् से भिन्न मिथ्या तथा लौकिक दृष्टि से सत्यरूप समझना चाहिए-

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।[38]

'स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन'[39] इस श्रुतिवाक्य से माया का स्वरूप स्वतन्त्र भी है और अस्वतन्त्र भी है। ब्रह्म के बिना माया प्रतीत नहीं होती, इसलिए माया अस्वतन्त्र भी है तथा असङ्ग चिद्रूप आत्मा को भिन्न प्रकार का स्वरूप दे देती है, इस कारण माया स्वतन्त्र भी कहलाती है।

अतः माया का निरूपण अशक्य है तथापि यह स्पष्टतया भासती है, जैसे इन्द्रजाल आदि में लोग समझते हैं। कहा गया है- **''न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।।''**[40] यहाँ माया में भासना अर्थात् उसमें सत्ता के न होने पर भी अधिष्ठान रूप ब्रह्म के कल्पित तादात्म्यसम्बन्ध के योग से माया में सत्त्व आ जाता है- **''सद्योगात्तमसः सत्त्वम्।।''**[41] यद्यपि माया का स्वतन्त्र सत्त्व नहीं है। जिस प्रकार शून्य को दूसरा पदार्थ नहीं गिना जाता, उसी प्रकार माया को सद्रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं माना जाता। लोक में भी चैत्र व उसकी शक्ति का पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं होता।

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक्।।[42]

अतः मिथ्या वस्तु का द्वितीय रूप स्वीकार नहीं किया जाता है। यह माया ब्रह्म की शक्ति है। यह शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में व्यापक होकर नहीं रहती, अपितु उस ब्रह्म के एकदेश में ही रहती है- **न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक्।।**[43] मायाशक्ति का ब्रह्म के एकदेश में होना श्रुति प्रमाण से भी प्रमाणित है- **पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः। इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः।।**[44]

इसमें श्रुति ही नहीं, स्मृति भी प्रमाण है- **विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।**[45]

इसी मायाशक्ति में प्रतिफलित चिद्रूपब्रह्म ईश्वर कहलाता है तथा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है। अविद्या के वशीभूत जीव होता है, जो अविद्या के कारण अनेक प्रकार का हो जाता है। ईश्वर, जीव, जगत् आदि की व्यवस्था अद्वैत वेदान्त में इसी माया शक्ति के कारण व्यवस्थित होती है। स्वामी जी ने कहा है-

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्।।[46]

माया ही चिदाभास के द्वारा जीव तथा ईश्वर का निर्माण करती है- **'मायाभासेन जीवेशौ करोति'**[47]। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की वासनाएँ इस माया में ही अवस्थित रहती है। अतएव सम्पूर्ण जगत् का बीज माया ही है।

माया की शक्तियाँ

माया की दो शक्तियाँ हैं- आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति। पञ्चदशीकार ने कहा है- 'विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता'।[48] इनमें द्रष्टा की दृष्टि को आच्छादित कर लक्ष्य (आत्मा) के सच्चिदानन्दस्वरूप को आवृत्त कर देने वाली माया की शक्ति का नाम आवरणशक्ति है। जैसे बादल की स्वल्प खण्ड देखने वाले की दृष्टि के समक्ष आकर उसके नेत्र मार्ग को ढ़ँक लेता है, जिससे प्रतीत होता है कि अनेक योजन आयत सूर्यमण्डल ही बादल खण्ड से आवृत्त हो गया। अस्तु, सूर्यमण्डल दिखाई नहीं दे रहा है। वैसे ही यह परिमित अज्ञान भी प्रमाता की आत्मदर्शी बुद्धि को ढ़ँक लेता है, जिससे ऐसा आभासित होने लगता है कि अपरिमित और असंसारी आत्मा को अज्ञान ने ढ़ँक लिया है। जबकि यथार्थ यह है कि उस अज्ञान ने बुद्धि को ढ़का है, आत्मा को नहीं। बुद्धि के आच्छादित होने से ही आत्मा आच्छादित-सा प्रतीत होता है। वास्तव में आत्मा तो नित्योपलब्धिस्वरूप है, जो न किसी से ढ़ँका जाता है और न ही स्वयं किसी सांसारिक बंधन में बंधता है। केवल मूर्ख लोग ही उसे बंधा हुआ या ढ़ँका हुआ मानते हैं। यही तथ्य इस श्लोक से अभिव्यक्त होता है-

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।[49]

आचार्यशंकर कहते हैं कि अखण्ड, नित्य, अद्वयबोधरूप जो शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा प्रकाशमान आत्मा को यह तमोगुणमयी आवरणशक्ति सूर्यबिम्ब को राहु के समान आच्छादित कर देती है-

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम्।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम्।।[50]

इसी शक्ति के द्वारा ही जीवात्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा सुखदुःखमोहात्मक तुच्छ संसार की भावना उत्पन्न होती है। यदि आवरणशक्ति से माया ब्रह्म का आवरण न करे तो 'एकोऽहं बहुस्याम्' यह ब्रह्मेक्षण ही पूरा न हो।

माया की जिस शक्ति से ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त जगत् की उत्पत्ति होती है, उसे विक्षेपशक्ति कहते हैं। जैसे- रज्जुविषयक अज्ञान सर्वप्रथम अपनी आवरणशक्ति से रज्जु को ढ़ँकता है, फिर बाद में उस ढ़ँकी हुई रस्सी में अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा सर्पत्वभावना को उत्पन्न करता है, वैसे ही आत्मसम्बन्धी अज्ञान प्रथमतः अपनी आवरणशक्ति से बुद्धि को आच्छादित करता है, फिर विक्षेपशक्ति से आत्मा में सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक आकाशादि समस्त प्रपञ्च को पैदा करता है। 'दृग्दृश्यविवेक' लिखता है-

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।।[51]

आचार्यशङ्कर ने दोनों ही शक्तियों का बड़ा मनोहर काव्यात्मक वर्णन किया है-

'कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघैर्व्यथयति
हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः।।[52]

इस प्रकार आवरण व विक्षेप इन दोनों के द्वारा ही पुरुष को बन्धन की प्राप्ति होती है, जिनके द्वारा मोहित हुआ पुरुष देह को ही आत्मा मानकर भटकता रहता है-

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्।।[53]

उपसंहार

इस प्रकार 'विवेकचूडामणि' तथा 'पञ्चदशी' दोनों ही ग्रन्थ एक ही परम्परा के उपस्थापक होने के कारण मायाविषयक विचार भी समान है तथापि किञ्चित् अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है, आचार्यशङ्कर ने माया तथा अविद्या का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है, जबकि विद्यारण्यस्वामी ने माया तथा अविद्या में भेद स्वीकार किया है। इनके अनुसार माया शुद्धसत्त्वप्रधान होती है तथा अविद्या मलिनसत्त्वप्रधान। माया ईश्वर की उपाधि है तथा अविद्या जीव की। उन्होंने कहा है-

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विधा च सा।।
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।।[54]

किन्तु यह भेद वास्तविक न मानकर गुणों के कारण उपाधिवशात् ही स्वीकार करना चाहिए।

स्वामी जी माया के तीन रूप स्वीकार करते हैं- वास्तव, अनिर्वचनीय तथा तुच्छ। उसके ये तीन रूप क्रमशः लौकिक, यौक्तिक और श्रौत

इन तीन प्रकार के बोधों से जाने जाते हैं। लौकिक ज्ञान की दृष्टि से माया वास्तविक प्रतीत होती है। उससे समस्त लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं। यौक्तिक ज्ञान से माया सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या सिद्ध होती है तथा श्रौतज्ञान से अर्थात् श्रुतिगम्य अपरोक्षानुभव या ब्रह्मज्ञान से माया की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर उसकी नितान्त असत्ता या तुच्छता का बोध होता है।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।[55]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थ ही माया को त्रिगुणात्मिका, सदसदनिर्वचनीया, अनादि, जड, आश्चर्यरूपा तथा ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं। अतः मायावाद अद्वैतवेदान्त का अन्यतम सिद्धान्त है, जिस सिद्धान्त के आधार पर अद्वैतवेदान्त ईश्वर, जीव तथा जगत् की व्याख्या करता है एवं अद्वैततत्त्व ब्रह्म की एकमात्र सत्ता सिद्ध होती है। ब्रह्म ही अविद्या या माया के कारण जीव-जगत्-प्रपञ्च के रूप में प्रतीत होता है। माया का निर्वचन करते हुए डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी ने लिखा है– ''वेदान्त में वर्णित माया एक ऐसी विलक्षण शक्ति है, जिसके अस्तित्व पर ही 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' जैसे दो विरोधी वाक्यों में एकता की प्रतीति होती है, क्योंकि सत्य वस्तु होने से ब्रह्म का कभी नाश नहीं होना चाहिए एवं मिथ्या होने के कारण जगत् का कभी दर्शन नहीं होना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत स्थूलरूप से जगत् प्रतिपल दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष रूप से निरन्तर दिखाई देने वाले लता, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि को मिथ्या कहना बड़ा विचित्र एवं असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु माया शक्ति के प्रभाववश ही ये विरोधी तत्त्व विरोधहीन ज्ञात होते हैं।''[56] माया का महत्त्व इसी प्रकार समझना चाहिए, जैसे लोग धन की निन्दा करते हैं, परन्तु उनके जीवन का व्यवहार धन के अभाव में नहीं चल पाता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि माया के बिना ब्रह्म का भी काम नहीं चल पाता। उसे भी जगत् तथा जीव के निर्माण के लिए माया का आश्रय लेना पड़ता है।[57]

सन्दर्भ

1. मुण्डकोपनिषद्, 1/1/7.
2. ब्रह्मसूत्र, 1/1/2.
3. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/1/1.
4. मुण्ड., 2/1/3.
5. तै.उ., 2/1/1.
6. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/1/20.
7. गीता, 10/8.
8. वही, 7/10.
9. तै.उ., 2/1/1.
10. वही, 3/6/1.
11. छान्दोग्योपनिषद्, 6/2/1.
12. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/11.
13. बृ.उ., 4/3/15.
14. तै.उ., 2/4/1.
15. विवेकचूडामणि, श्लोक 239, आचार्य शङ्कर, सम्पा. स्वामी सदानन्द सरस्वती, शारदापीठ, विद्यासभा, द्वारका, 2068 वि.
16. निरालम्बोपनिषद्, उपनिषद्संग्रह से उद्धृत, पं. जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृ. 256.
17. वेदान्तसार, सदानन्द
18. निरालम्बोपनिषद्।
19. श्वेता., 4/10.
20. विवेकचूडामणि, श्लो. 110.
21. वही, श्लो. 111.
22. तै.उ., 2/1, शाङ्करभाष्य.
23. पञ्चदशी, पञ्चकोशविवेकप्रकरण, श्लो. 29, विद्यारण्यस्वामी Pub. by- Acharya Krishnand Sagar Shri Madhavanand Ashram P.O.-Dharmaj, Distt.- Kheda, Gujarat, 1984.
24. गीता, 2/16.
25. विवेकचूडामणि, श्लो. 112
26. श्वेता, 1/10.
27. गीता, 7/14.
28. अद्वैतसिद्धि, प्र. परिच्छेद, मधुसूदनसरस्वती, व्या. रामेश्वरदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 2004, पृ.सं. 17.
29. श्वेता, 4/5.
30. विवेकचूड़ामणि, श्लो. 115.
31. गीता, 14/17.
32. विवेकचूड़ामणि, श्लो. 122.
33. पञ्चदशी, तत्त्वविवेकप्रकरण, श्लो. 15, श्लो. 16.
34. पञ्चदशी, पञ्चभूतवि. प्र., श्लो. 47.
35. वही, श्लो. 48, श्लो. 49.
36. पञ्चदशी, चित्रदीपप्र., श्लो. 125.
37. वही, श्लो. 129.
38. वही, श्लो. 130.
39. नृ.ता.उ., 9.
40. पञ्चदशी, चित्रदीपप्र., श्लो. 141.
41. पञ्चदशी, पञ्चभूतवि. प्र., श्लो. 50.
42. वही, श्लो. 51.
43. वही, श्लो. 54.
44. वही, श्लो. 55.
45. वही, 56, गीता, 10/42.
46. पञ्चदशी, चित्रदीपप्र., श्लो. 212.
47. वही, श्लो. 155.
48. वही, श्लो. 26.
49. वेदान्तसार, सदानन्द व्या. डॉ. यमुनाराम त्रिपाठी 'यमुनेश चातक' शारदा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी, 1998, पृ. 40.
50. विवेकचूड़ामणि, श्लो. 141.
51. दृग्दृश्यविवेक, 13.
52. विवेकचूड़ामणि, श्लो. 146.
53. वही, श्लो. 146.
54. पञ्चदशी, तत्त्वि.प्र., श्लो. 15, श्लो. 16.
55. पञ्चदशी चित्रदीपप्र., श्लो. 130.
56. वेदान्तसार, सम्पा. डॉ. एच.एन. यादव, एवं डॉ. रेखा कौशल, हरीश प्रकाशन मन्दिर, 301, गोल्डन पैलेस, अस्पताल मार्ग, आगरा-282003 (उ.प्र.) से उद्धृत, पृ. 6, आलोचना भाग।
57. वही, पृ. 7.

कवि भारती

*डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी**

इस वाक्य सुधा धारा की उछलन से सूचित है कि— ''जीत लिया जंग कवि भारती ने'' किससे? विधाता की सृष्टि रचना से, अरे कुछ खोलकर बोलिये–सीधी सी बात को कविता तो घुमा कर ही कहेगी न। और फिर वह खुद मम्मट भट्ट हों, जो वाग्देवतावतार हैं, सम्भवतः उन्होंने एक यही कविता भी लिखी है। अन्य तो सभी कारिकाएं हैं उनकी लिखी हुई।

बस एक यही है वाग्देवतावतार आचार्य प्रवर की एक मात्र कविता, जिनकी श्रद्धाभरी विख्याति में संस्कृत जानने वाला समुदाय श्रद्धावनत है। क्या है आचार्य मम्मट भट्ट के 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ के आरम्भ के मंगलमय आर्या छन्द में अवतरित उनकी इस एक मात्र रचना में, जिसमें आए एक मनोरम शब्द ने सहस्रों संस्थाओं और व्यक्ति वाचक संज्ञाओं में अपना आसन लिया है— वह है ''भारती कवे;'' या अन्वय करने पर ''कवे भारती'' और समास कर देने पर हो जायेगी- ''कविभारती'' शायद आचार्य मम्मट से पहले और बाद में ''कवेः भारती'' यह संज्ञा कहीं प्रयोग में नहीं देखी गई।

इस एक ही आर्या छन्दोमयी रचना से आचार्य प्रवर मम्मट भट्ट ने अपने ज्ञानमय जीवन के सार सर्वस्व को शब्द धारा में प्रवाहित कर दिया। जिन शब्दों की समस्त भंगिमाएँ, एक एक कर सामने जैसे मम्मट भट्ट के आईं, वैसे के वैसे उनके अक्षर, अक्षर; मात्रा; मात्रा;-शब्द, शब्द; आरोह, अवरोह;-सहृदयों के हृदयों में इस एकमात्र छन्द से आचार्य मम्मट ने डाल दिये। सीधे अक्षरों में उनके लिखे आर्या छन्द—

नियतिकृत-नियमरहितां-
ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरचिरां निर्मिति-
मादधती भारती कवेर्जयति॥

का हिन्दी में अनुवाद होगा। कवि की वाणी सबसे ऊँची है, उसके लिए जय जय ध्वनि निकलती है।

ये है आचार्य ममम्ट की आर्या छन्दो मयी रचना। उन्होंने कवि की वाणी का इसमें जयकार किया है। 'जयति' शब्द की भंगिमा को स्पष्ट करने के लिए कहा जाता है– 'सर्वोत्कर्षेण वर्तते।' अपने लोक व्यवहार में भी जब हम किसी के लिए 'जय' बोलते हैं तो उसका आशय यही होता है कि जिसकी जय बोली जा रही है, वह अन्य सभी से ऊपर है, श्रेष्ठ है, उच्च है। 'कवि वाणी की जय' बोलने का अर्थ है कि वह अन्य सबसे उच्च है, श्रेष्ठ है। यहाँ आचार्य मम्मट ने कवि वाणी में अनेक निर्मितियों को दिखाया है। इन निर्मितियों को कविभारती या कविता धारण कर रही है, इसीलिए उसकी जय मनाई जा रही है, उसे सर्वोत्कृष्ट कहा जा रहा है। इससे स्पष्ट कर रहे हैं आचार्य कि इससे भिन्न निर्मितियों को धारण करने वाली जो अन्य सृष्टि है, उससे यह कविता या कविकी भारती, ऊँची बात है, ऊँची वस्तु है, और वह विधाता की निर्मिति ही हो सकती है वही है भी, कविता उस विधाता की संरचना से ऊँची उठी हुई है, विधाता की रचना से चार बातों में कविता ने या कवि भारती ने बाजी मार रखी है, इसलिए उसकी जय की जा रही है, उसे उत्कृष्ट बताया जा रहा है।

पहली बात जो कविता को शेष सृष्टि से ऊँचा बना रही है, वह है उसका प्रकृति के बन्धनों से दूर रहना, रहित होना। सारे संसार में प्रकृति के नियमों का साम्राज्य है, सूर्योदय, सूर्यास्त, कालक्रम, आदि सारा विश्व एक प्राकृतिक नियम से विजड़ित है, परन्तु कविता में प्रकृति के नियमों का कोई भी दबाव स्वीकार नहीं। वहाँ रात को भी दिन में बदल दिया जा सकता है, बिना आकाश भी चन्द्रमा दिखाया जा सकता है, और वह भी कलंक शून्य दूसरी बात, जिस पर ध्यान दिया है वह है कि विधाता की संरचना में सुख भी है, दुख भी है, परन्तु कविता-जगत् में केवल सुख मात्र है, वहाँ दुख का नाम भी नहीं है, तीसरी बात संसार रचना प्रकृति और विधाता के अधिकार में रहती हे। परन्तु कविता केवल कवि के अधिकार में है। चौथी और अन्तिम बात है कि कविता में रस या अनुभवों की संख्या 9 तक पहुँची हुई है, जबकि संसार में रसों की संख्या छः ही है। यहाँ रस शब्द संसार में जिह्वा से अनुभूत होने वाले स्वाद के लिए आया है, जो कि संख्या में छः ही होते हैं, मीठा, नमकीन आदि। कविता में श्रृंगार आदि रसों की संख्या नौ है, और वहाँ केवल संख्या की ही बात नहीं है अपितु जिह्वा से ग्राह्य छः रसों में कटु आदि भी शामिल हैं, जो पसन्द नहीं किये जाते हैं, परन्तु श्रृंगारादि सभी नौ रस पूर्णतया आनन्दित करने वाले होते हैं।

मम्मट ने विधाता की सृष्टि से कविता को ऊँचा शब्दतः कह कर उसे छोटा नहीं बनाया है, अपितु इस व्यतिरेक को व्यंजना से बोधित किया है।

यह तो हुई इस मंगलपद्य की सराहना की शब्दावली।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नाम के एक मात्र ग्रन्थ की ही रचना की है, कोई अन्य ग्रन्थ मम्मट का विरचित उपलब्ध नहीं

*राष्ट्रपति सम्मानित, जी-28 अरविन्दो कालोनी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

है। काव्य प्रकाश नामक इस एक ग्रन्थ ने इतना ध्यान विद्वानों का खींचा है, कि इस ग्रन्थ पर लिखी हुई व्याख्याएँ बहुत अधिक हैं। किसी एकाध ग्रन्थ को छोड़कर सबसे अधिक व्याख्याएँ मम्मट के इसी काव्यप्रकाश ग्रन्थ पर लिखी गई हैं। गीता, भागवत आदि की व्याख्या रचनाएँ अधिक हैं, उनका क्षेत्र फलक भी बिलकुल भिन्न प्रकार का है। काव्य प्रकाश की व्याख्याओं के अध्येता जान पाते हैं कि आचार्य मम्मट का ज्ञान कितना अगाध है। जिनको मम्मट ने जादुई शब्दों में प्रकट किया है। मम्मट का विभिन्न विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान अथाह है, जो उनके शब्दों की बारीक अभिव्यक्तियों से सामने आ रहा है। सभी शास्त्रों का इतना अथाह ज्ञान रखने वाले आचार्य मम्मट को जब 'वाग्देवतावतार' कहा गया तो उनके ज्ञान की अप्रतिहतता सर्वत्र है, यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है। परन्तु आचार्य मम्मट ने किसी अन्य विषय पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, जबकि वे जिस भी विषय पर चाहते उसी विषय की गम्भीर से गम्भीर विवेचन कर सकते थे। परन्तु उन्होंने सभी विषयों के ज्ञान को प्राप्त करने के उपरान्त केवल कविता को ही अपनी विवेचना शक्ति का केन्द्र बनाया। इससे भी कविता का अन्य सभी विषयों से अधिक ऊँचा स्थान है, यह जानने में कोई असमंजस की स्थिति नहीं आती।

संस्कृत भाषा की सभी विद्याओं में कालजयी ग्रन्थ विद्यमान है, इसीलिए अनन्त काल खण्डों के भीषणतम् उच्चावच प्रवाहों में होते हुए ये ग्रन्थरत्न अपने चमकीले प्रकाश से आज तक हमें धन्य कर रहे हैं। काव्यप्रकाश नाम की आचार्य मम्मट की रचना अपने निर्माण के अनन्तर से ही सहृदयों की स्मृतियों में, कण्ठों में, उक्तियों में तथा यत्र तत्र असहमत उग्र विरोधों में भी जागृति देती आ रही है।

आचार्य मम्मट के भाषा व्यवहार के वचनों (एकवचन, बहुवचन) से स्तुति, अवहेलना आदि गंभीर भावों को दिखाया गया है। ऐसा ही एक स्थल है– 'आभिहि तान्वयवाद' और अन्विताभिधानवाद। इन दोनों को सूचित करते हुए जो– 'इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्' तथा 'इत्यन्विताभिधानवादिनः' इन वाक्यों में एक वचन और बहुवचन के प्रयोगों पर ग्रन्थकार की रुचि और अरुचि का प्रकाशन व्याख्यकारों ने माना है। हमारी दृष्टि से उक्त दोनों वाक्यों में बहुवचन का ही प्रयोग होने के कारण अरुचि का कोई प्रदर्शन आचार्य के द्वारा नहीं हुआ है। 'इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्' के आगे भी क्रिया पद से वाक्यपूर्ति करने के लिए 'अस्ति' शब्द का अध्याहार करना ही होगा। वही बात 'इत्यन्विताभिधानवादितनः' के आगे 'मतम्' न कह कर 'वदन्ति' कहने पर वाक्य बनेगा, 'इत्यन्विताभिधानवादिनो वदन्ति।' आचार्यों के द्वारा इस प्रकार बहुवचनान्त प्रयोग करके क्रिया पद के अध्याहार का व्यवहार ग्रन्थों में सुप्रचलित है।

इस प्रकार दूसरे वाक्य में भी बहुवचनान्त प्रयोग मान लेने पर यह उन मतों की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ या प्रतिपादन ही कहा जायेगा, न कि एकत्र बहुवचनों के कारण अपने अभिमतकर प्रकाशन और अन्यत्र एकवचन के कारण अपनी अरुचि की अभिव्यक्ति।

यहाँ इस रहस्य को भी ध्यान में लेना उचित और आवश्यक होगा कि किसी भी शब्द का अर्थज्ञान या उसका शक्तिग्रह आठ उपायों के द्वारा सुप्रसिद्ध सर्वस्वीकृत उक्ति में बतलाया गया है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्त-
वाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदान्ति-
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् किसी शब्द का शक्ति ग्रह या अर्थ ज्ञान– 1. व्याकरण, 2. उपमान, 3. शब्द कोश, 4. आप्तवाक्य, 5. व्यवहार, 6. वाक्यशेष, 7. व्याख्या और 8. ज्ञात अर्थ वाले शब्द का साथ होना। इन उपायों से होता है।

इनमें से अनेकत्र अभिहितान्वयपद्धति काम कर रही है और कई स्थलों पर अभिहितान्वय पद्धति व्यवहार में आ रही है। वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश ग्रन्थ के अब तक जितने संस्करण और व्याख्याएँ हुई हैं, उनके महाविद्वान् लेखकों ने मम्मटाचार्य को सभी शास्त्रों का गहन विद्वान् माना है। परन्तु सभी शास्त्रों का गहन ज्ञान होने पर भी उन्होंने जयकार किया कविभारती का ही, कविता का ही। इसी से सभी शास्त्रों से कविता ही सर्वश्रेष्ठ है यह बात उन्होंने स्पष्टतया ध्वनित कर दी। साथ ही स्वयं को रचना से अलग रख कर उदाहरणों के रूप में अपने सामने प्रस्तुत अधिकांश मुक्तक काव्यों में काव्य की पहिचानों को स्पष्ट किया है।

वैशाली की नगरवधू : नारी अस्मिता के संघर्ष एवं प्रतिशोध की कहानी

राजेश कुमार यादव एवं प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय***

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथाकारों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। आचार्य शास्त्री जी ने आधी शताब्दी पर्यंत साहित्य की अनवरत साधना करते हुए गुण तथा परिमाण दोनों दृष्टियों से प्रभूत रचनाएँ की हैं। हिन्दी कथा साहित्य में उनका योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न था। साढ़े चार सौ कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने बत्तीस उपन्यास तथा कई नाटकों की रचना की। गद्यकाव्य, इतिहास, धर्म, राजनीति, समाज, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि विविध विषयों पर भी उन्होंने सशक्त लेखनी चलायी। उनका साहित्य हिन्दी के लिए गौरव है। उपन्यासों में, 'वैशाली की नगरवधू' (1948 ई.), 'सोमनाथ' (1954 ई.) एवं 'वयं रक्षामः' (1955 ई.) उनकी प्रसिद्ध एवं बहुपठित तथा बहुचर्चित कृतियाँ हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री उदारचेता और संवेदनशील चिकित्सक होने के साथ-साथ उच्चकोटि के विचारक और रचनाकार थे। उन्हें लोक-जीवन का गहन अनुभव था। वे केवल मनुष्य के हाथ की नाड़ी के ही पारखी न थे बल्कि जाति और समाज की विभिन्न संवेदनशील गतिविधियों में भी उनकी गहरी रुचि थी। देश के विभिन्न भागों का उन्होंने अनेक बार पर्यटन करके वहाँ के जन जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया था।

सहस्त्रों वर्षों से नारी संस्कारों और सामाजिक औपचारिकताओं के ऐसे व्यूह में जकड़ी है, जिसे काट पाना उसके सामर्थ्य से बाहर की बात है। बन्धन की इन विषम स्थितियों से मुक्ति पाने के लिए स्वतंत्र चेतना की आवश्यकता है। चेतना की ऊर्जा का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व साहित्य है। बीसवीं शती के सजग रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा अबला कही जाने वाली नारी को सबला के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। ऐसे समाजचेता साहित्यकारों में आचार्य चतुरसेन शास्त्री का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों के द्वारा उनकी नारी विषयक चेतना के विकास का अध्ययन किया जा सकता है। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों ('हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'बहते आँसू', 'आत्मदाह') में उन्होंने बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारतीय समाज की टूटती-ढहती परम्पराओं की टकराहट का चित्रण करते हुए बताया है कि संक्रमणकाल के उस संकट में नारी ही सबसे अधिक पीड़ित थी। भोली, निरीह, दीन, स्नेही और समर्पित नारी पुरुष की वासनाओं की शिकार बनकर भी न ठीक से रो पाती है, न कराह सकती है। चतुरसेन के हृदय में बैठी अबला, अन्यायी और लोलुप पुरुषों से प्रतिशोध लेने के लिए बेचैन है। उनके हृदय-ताप ने उस करुण नारी-मूर्ति के स्थान पर ओजमयी, शक्तिमती और पुरुषों को अपने भृकुटि-संकेत पर नचाने वाली, सबला नारी की सृष्टि की।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने जिस युग में लेखनी उठाई वह नव जागरण का युग था। भारतीय समाज पाश्चात्य सभ्यता के तीव्र प्रसार के विरोध में राजाराम मोहन राय, महर्षि दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, ईश्वरचंद विद्यासागर प्रभृति प्रबल सुधारकों द्वारा आन्दोलित हो चुका था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी एवं लाला लाजपतराय जैसे नेता भी इसी संदर्भ में जनता को नई दिशा एवं प्रेरणा प्रदान कर रहे थे। जीवन के हर क्षेत्र में हर स्तर पर स्वाधीनता की पुकार अधिकाधिक बलवती होती जा रही थी। उस स्वाधीनता संग्राम में बाधक तत्त्वों को जड़ से समाप्त करने के लिए सुनियोजित चिंतन सक्रियता से चल रहा था। स्वाधीनता और सर्वांगीण विकास की जनाकांक्षा के रास्ते में कई ऐसी सामाजिक रूढ़ियाँ बाधक थीं, जिसका नारी वर्ग से विशेष संबंध था।

उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक नीति तथा शिक्षा-सम्बन्धी एवं ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की परम्परा चल पड़ी थी। इन उपन्यासों का उद्देश्य सुधार नीति के साथ-साथ प्रेम और शौर्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करना था। इस संदर्भ में डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है– ''ऐतिहासिक उपन्यासों का ध्येय देश में राष्ट्रप्रेम और सामाजिक सुधारों का प्रचार करना था। इस काल के उपन्यासों में देश के प्राचीन गौरव और उसके पतन की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस काल के लेखक समाज-सुधार, धर्म-सुधार, व्यक्तिगत चारित्रिक-सुधार, अंग्रेजी प्रभाव से बचाव आदि बातों पर बल देते थे। पश्चिमी शिक्षा के कुप्रभाव से देश के स्त्री-पुरुषों में विलासिता, बाह्याडम्बर आदि बातें बढ़ती जा रही थीं, दूसरी ओर शिक्षा के अभाव के कारण जनता में अनेक कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ प्रचलित हो रही थीं। उपन्यास लेखक इन सब बातों को रोकना चाहते थे। वे मध्यम मार्ग पसंद करते थे। पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने पर भी जनता को भारतीय सभ्यता और संस्कृति से विमुख न होने देना इनका लक्ष्य था। इस सम्बन्ध में उन्होंने पौराणिक-ऐतिहासिक कथाओं, सामाजिक और गार्हस्थ जीवन से सामग्री ली और कल्पना एवं किंवदन्तियों का आश्रय ग्रहण किया।''[1]

'वैशाली की नगरवधू' एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ऐतिहासिक उपन्यास के संदर्भ में डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज का कथन है– ''ऐतिहासिक उपन्यास का लक्ष्य है व्यष्टि में समष्टि का दर्शन कराना। एक व्यक्ति के झरोखे से पूरे समाज का दर्शन किया जा सकता है, एक ऐतिहासिक उपन्यास के झरोखे से तत् सम्बन्धी सम्पूर्ण देशकाल की गतिविधि पर दृष्टिपात किया जा सकता है।''[2]

वैशाली नगर उपन्यास का प्रमुख केन्द्र है, जिसकी भित्ति पर आचार्य शास्त्री जी ने 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास की रचना की है। वैशाली नगर का वर्णन शास्त्री जी ने प्रस्तुत उपन्यास में इस प्रकार किया है– ''वैशाली लिच्छिवी, क्षत्रियों के वज्जी संघ की राजधानी थी। विदेह राज्य टूटकर यह वज्जी संघ बना था। इसमें विदेह, लिच्छिवी, क्षात्रिक, वज्जी, उग्र, भोज, इक्ष्वाकु और कौरव ये आठ कुल सम्मिलित गण शासन चलाते थे। विदेहों की राजधानी मिथिला, लिच्छिवियों की वैशाली, क्षात्रिकों की कुण्डपुर और वज्जियों की कोल्लारा थी।''[3]

वैशाली नगर का इतिहास बड़ा वैभवशाली था। धन-धान्य से तो वैशाली नगर सम्पन्न था ही, अनेक कलाएँ, विद्वान, वीर, पद्मिनी नारियाँ, धार्मिक मान्यताएँ, व्यापारिक केन्द्र भी लोक-विश्रुत थे। ज्ञान में, ध्यान में, प्रासादों में, अट्टालिकाओं में लोग इसका अनुसरण करते थे।

प्रस्तुत उपन्यास में अनेक पात्र हैं जिसमें कुछ ऐतिहासिक तथा कुछ काल्पनिक। ऐतिहासिक पात्रों में बिम्बसार, प्रसेनजित, विदूडभ, जीवक, अम्बपाली तथा काल्पनिक पात्रों में कुण्डनी, सोमप्रभ, वर्षकार, चम्पा तथा अन्य।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी ने 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास में अनेक नारी चरित्रों के माध्यम से नारी की दयनीय स्थिति एवं विभिन्न विडम्बनाओं का चित्रण किया है। उपन्यास में प्रमुख नारी पात्र के रूप में अम्बपाली है। उपन्यास का प्रारम्भ और अन्त अम्बपाली से सम्बद्ध है। उपन्यास का केन्द्र बिन्दु भी अम्बपाली का जीवन है। उपन्यास का मुख्य संघर्ष भी अम्बपाली के नारीत्व का अपमान और प्रतिशोध की भावना है। उपन्यास रचना की मूल प्रेरणा अम्बपाली का अपूर्व व्यक्तित्व एवं चरित्र है। अम्बपाली सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है, इसलिए उसके प्रबल विरोध करने पर भी वैशाली गणराज्य के विकृत कानून के अनुसार नगरवधू का जीवन बिताने पर उसे बाध्य होना पड़ता है।

तत्कालीन वैशाली गणराज्य का एक अनिवार्य नियम था कि राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दर कन्या को अविवाहित रहकर अपनी इच्छा के विरूद्ध नगरवधू का जीवन अपनाने को बाध्य होना पड़ता था। उसे किसी एक व्यक्ति से विवाह करने का अधिकार नहीं था। इस निर्वाचित सुन्दरी को 'नगरवधू' कहा जाता था और राज्य की ओर से उसे हर प्रकार की सुख-सुविधाएँ एवं सम्मान प्रदान किया जाता था। 'नगरवधू' का स्थान तत्कालीन समाज में आजकल की वेश्याओं की तरह नहीं था, वह पूरे राज्य में सर्वश्रेष्ठ, सर्वसम्मानित एवं सबसे वैभवशालिनी महिला के रूप में स्वीकारी जाती थी। उसके प्रत्येक संस्कार राज्य की तरफ से मनाए जाते थे; किन्तु जीवन में राज-सम्मान, धन-दौलत, विलास ही सबकुछ नहीं है, इन सबके अतिरिक्त और भी कोई वस्तु होती है और वह वस्तु है- हृदय, जिसकी उसके यहाँ उपेक्षा थी। नगरवधू के बारे में विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है- ''जिस नारी का कोई संरक्षक न हो, पति न हो, माता न हो, पिता न हो, भ्राता न हो, वह नगरवधू होकर ऐश्वर्यशाली बनी भी रहे तो क्या वह संतोष और शांति का अनुभव कर सकती है।''[4] उपन्यास की नायिका अम्बपाली एक ऐसी ही निर्वाचित 'नगरवधू' है।

अम्बपाली परिस्थितियों से विवश हो, अनेक असाधारण शर्तों पर 'नगरवधू' पद को धारण कर लेती है। धीरे-धीरे अपनी निर्दिष्ट भूमिका का भली-भाँति निर्वाह करने लगती है। किन्तु उसके संतप्त हृदय में सम्पूर्ण गणराज्य के प्रति घोर प्रतिरोध की ज्वाला दहक रही है, उसी ज्वाला में वह वैशाली नगर के सम्पूर्ण वैभव और विलासिता को नष्ट कर देना चाहती है। उसने दृढ़निश्चय कर लिया है कि विलासी पुरुषों से प्रतिशोध लेगी। उसने अपने सतीत्व का विवश सौदा किया है। वह अपने आत्मा का हनन करेगी और इन विलासी पुरुषों को उनकी विलासिता का फल चखा देगी।

कोई भी नारी जीवन में केवल एक ही व्यक्ति से प्यार करती है और उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर धन्य हो उठती है। इसके बाद उसका प्यार, प्यार नहीं होता, बल्कि उत्पन्न परिस्थितियों से समझौता मात्र होता है। अम्बपाली का वाग्दान हर्षदेव नामक युवक से हो चुका था और वह नगरवधू नहीं बनना चाहती थी परन्तु राज्य का आदेश मानने के लिए वह विवश थी। वैशाली गणतंत्र ने उसे बलात् नगरवधू घोषित कर दिया। अम्बपाली को विवश होकर नगरवधू बनना पड़ा। डॉ. इन्दु वशिष्ठ ने लिखा है– ''नारी की असहायावस्था के चित्र खींचकर आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी ने अबला जीवन के उस रूप को स्पष्ट किया है जिसके आँचल में दूध और आँखों में निरन्तर पानी रहता है। वह रोती है, सिसकती है। सौन्दर्य उसके लिए अभिशाप है।''[5] इसी अभिशाप के फलस्वरूप अम्बपाली जैसी असाधारण सुन्दरी को बाजार में बैठकर ऊँचे-नीचे दामों में बिकना पड़ता है।

अम्बपाली अपने पूर्व प्रेमी के समक्ष अपने हृदय की पीड़ा को इन मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त करती है– ''जैसे और सब आते हैं, उसी भाँति आओ तुम, सजधजकर हीरे-मोती-स्वर्ण बिखेरते हुए, होठों पर हास्य और पलकों पर विलास का नृत्य करते हुए। सबको देवी अम्बपाली से प्रेमाभिनय करते देखो। तुम भी वैसा ही प्रेमाभिनय करो, हँसो, बोलो, शुल्क दो और फिर छूछे हाथ, शून्य हृदय अपने घर चले जाओ। फिर आओ और फिर जाओ। जब तक पद-मर्यादा शेष रहे, जब तक हाथ में स्वर्ण-रत्न भरपूर हो आते रहो, जाते रहो, लुटाते रहो, लुटते जाओ, यह नगरवधू का घर है, यह नगरवधू का जीवन है, यह मत भूलो।''[6]

अम्बपाली वैशाली के 'नगरवधू' के कानून को घृणित कानून

की संज्ञा देती है और अपनी विवशता इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है– ''अब मैं अपनी रूचि और पसंद से किसी व्यक्ति को प्रेम नहीं कर सकती। अपना स्नेह भरा हृदय और रूप से लथपथ यह अधम देह लेकर अब मैं वैशाली की हाट में ऊँचे-नीचे दाम पर इसे बेचने बैठूँगी।''[7] अम्बपाली के मुख से शास्त्री जी ने नारी अधिकारों का हनन करने वाले समाज के विनाश तक की बात की है– ''जहाँ नारी की स्वाधीनता पर हस्तक्षेप हो, उस जनपद को जितनी जल्द लोहू में डुबोया जाय उतना ही अच्छा।''[8]

तथागत के प्रति कहे अम्बपाली के शब्दों में उसके असाधारण उत्थान-पतन का मर्म तथा हृदय का करुण हाहाकार इन शब्दों में व्यंजित होता है– ''भन्ते! इस अधम अपवित्र नारी की विडंबना कैसे बखान की जाय। यह महानारी शरीर कलंकित करके जीवित रहने पर बाधित की गई, शुभ संकल्प से मैं वंचित रही भगवन् यह समस्त सम्पदा मेरी कलुषित तपश्चर्या का संचय है। मैं कितनी व्याकुल, कितनी कुण्ठित, कितनी शून्य हृदया रहकर अब तक जीवित रही, यह कैसे कहूँ।''[9] इन शब्दों में नारी की कारुणिक अवस्था का मार्मिक चित्रण हुआ है। जहाँ न चाहने पर भी उसे ऐसे कार्य करने के लिए विवश किया गया, जिसमें जीवन का सम्पूर्ण कलुष घुलकर अट्हास करता है। उसे जीवित लाश बनकर जनपद को आनंदित करना पड़ता है।

नारी जीवन में तमाम तरह की विडम्बनाओं को झेलती है और मूक बनकर सहती रहती है। युवा गान्धार कन्या कलिंगसेना वयोवृद्ध श्रावस्ती नरेश की स्वार्थ-लिप्सा की पूर्ति हेतु और माता-पिता की विवश आकुलता का निवारण करने के लिए अनमेल विवाह स्वीकार तो कर लेती है, किन्तु श्रावस्ती के राजमहालय में पहुँचने पर जब वह वहाँ पूर्व रानियों की शोचनीय स्थिति को देखती है तब वह स्त्री मात्र की दयनीयता का अनुभव करती है और अपने अधिकारों की रक्षा का संकल्प लेते हुए कहती है– ''मैंने आत्मबलि अवश्य दी है, पर स्त्रियों के अधिकार नहीं त्यागा है। मैं यह नहीं भूल सकती कि मैं भी एक जीवित प्राणी हूँ, मनुष्य हूँ, समाज का एक अंग हूँ, मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारों पर मेरा भी स्वत्व है।''[10] इस पर जब उसकी ज्येष्ठा सपत्नी नन्दिनी यह करती है कि यह कार्य तुम्हारे लिए बहुत ही कठिन है, क्योंकि पुरुष नारी को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखना चाहता है और नारी चुपचाप उसके आदेश का पालन करती है। पुरुष नारी पर एकाधिकार चाहता है और स्वयं उन्मुक्त रहना चाहता है। नन्दिनी अपनी आशंका इन शब्दों में प्रकट करती है– ''यह सब कैसे कर सकोगी? जहाँ एक पति की अनेक पत्नियाँ हों, उपपत्नियाँ हों और वह किसी एक के प्रति अनुबंधित हो, पर उन सबको अनुबंधित रखे, वहाँ मानव समानता कहाँ रही बहन? तो वह उत्तर देती है– ''पुरुष स्त्री का पति नहीं, जीवन-संगी है। अब मेरे साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए, मेरे क्या-क्या अधिकार हैं, यह मेरा अपना व्यक्तिगत कार्य है।''[11]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी ने 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास में अनेक नारी चरित्रों के माध्यम से नारी की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है। अम्बपाली सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। इसलिए उसके प्रबल विरोध के बावजूद वैशाली गणराज्य के विकृत कानून के अनुसार नगरवधू का जीवन जीने पर उसे बाध्य होना पड़ता है। उधर मगध का राजतंत्र अपनी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अति सुन्दरी कुण्डनी को विषकन्या बनाकर स्त्रियोचित कोमल भावनाओं को दबाने और क्रूर कर्मिणी होने के लिए मजबूर करता है। इसी प्रकार चम्पा की राजकुमारी चन्द्रप्रभा को अपने प्रेमी सोमनाथ को छोड़ विदूडभ से विवाह स्वीकार करना पड़ता है और युवा रूपवती कलिंगसेना को राजनैतिक कारणों से वृद्ध नपुंसक समान राजा प्रसेनजित से।

सौन्दर्य की मल्लिका अम्बपाली के समक्ष बड़े से बड़े राज्य नतमस्तक हैं। उसकी सौन्दर्य भरी दृष्टि में राज्यों का उत्थान-पतन दिखाई पड़ता है। उसके सौन्दर्य के सामने सम्राटों के हथियार की चमक मंद पड़ जाती है। सौन्दर्य का आकर्षण रक्त रंजित तलवारों की धार रोक देता है। उसकी एक झलक पाने के लिए कई राज्य व्याकुल हैं। यहाँ स्त्री शोभा की वस्तु तो है ही, उदारता और प्रेम का पर्याय भी है। उसका सौन्दर्य उसके लिए अभिशाप और विलासी पुरुषों के लिए वरदान है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी ने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि उस युग में अपूर्व सौन्दर्य वरदान न होकर अभिशाप बन गया था, जिससे तंग होकर किसी भी सुन्दरी को कुलवधुओं के अधिकार त्याग देने पड़ते थे। परपुरुषों के प्रति प्रेमभावनाओं का प्रदर्शन करना पड़ता था। जीवित रहकर भी जीवन नहीं था। नारी सुलभ सम्पूर्ण कोमल भावनाओं को त्याग करके उसे गणिका जीवन की निर्लज्जता, आमोद-प्रमोद, कृत्रिमता को अपनाना पड़ता था। जहाँ नारी की विवशता मूक होकर सिसकियाँ भरती है, वही दूसरी ओर उस विलासिता के नग्न दर्शन होते हैं।

अम्बपाली नगरवधू बनने पर भी नारी अपमान तथा अपनी विवशता को भूल नहीं पाती है और मन ही मन इस वैशाली गणराज्य के विनाश का दृढ़संकल्प कर लेती है। इस सम्बन्ध में डॉ. इन्दु वशिष्ठ ने लिखा है– ''अबला को यदि प्रताड़ित किया जायेगा, उसे कुलवधू के मंगल पद से पदच्युत किया जायेगा तो वह क्या नहीं कर सकेगी? उसके अन्दर शतशत् दुर्गाएँ जन्म लेंगी। वह भस्म कर देना चाहेगी उस समस्त कारणों को जिसके कारण उसे इस अपमान को सहन करना पड़ा।''[12]

नारी के असहायावस्था के चित्र खींचकर शास्त्री जी ने अबला जीवन के उस रूप को स्पष्ट किया है जिसके आँचल में दूध और आँखों में निरन्तर पानी रहता है। वह रोती है, सिसकती है और मुँह से कुछ भी नहीं कह पाती है। नारी जीवन की तमाम विडम्बनाओं

को नतमस्तक होकर सहती है लेकिन विरोध में कोई भी आवाज नहीं उठाती है। नारी-जीवन को ही अपना भाग्य मान लेती है।

अम्बपाली का संतप्त हृदय नगरवधू के जीवन से मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगा परन्तु यह आसान कार्य नहीं था। इसलिए अम्बपाली वैशाली गणराज्य के विपक्ष में हर्षदेव को उकसाया, सोमप्रभ को भड़काया किन्तु उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई अन्त में मगध सम्राट बिम्बसार के प्रणय निवेदन का लाभ उठाकर वह उससे वैशाली गणराज्य का विनाश करने और उसकी ओर से अपने पुत्र को मगध का भावी सम्राट बनाने की प्रतिज्ञा करा लेती है।

अधिकतर राजाओं के बीच युद्ध स्त्रियों के कारण होते थे। राजा, सुरा और सुन्दरी के अतिरिक्त कुछ नहीं सोचते थे। अम्बपाली के कारण पूरे गणराज्य में तूफान सा आ गया था। अम्बपाली के कारण वैशाली और मगध राज्यों के बीच भयंकर महायुद्ध होता है और महाविनाश होता है जिसका वर्णन डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज ने इस प्रकार किया है– ''लाखों नरों के संहार के पश्चात् प्राप्त मगध की विजयश्री पराजय में परिणत हो गई– नारी के कारण, वैशाली का वैभव लुटा नारी के कारण, कौशल का राजा अपदस्थ हुआ नारी के कारण और इतना ही क्यों, समस्त आर्यसत्ता का अपहरण हुआ नारी के कारण।''[13]

इस तरह नारी के अपमान एवं पराधीनता की समस्या युद्ध की समस्या बन जाती है और महाविनाश होता है। नारी-पराधीनता प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार को कचोटती है। नारी-पराधीनता किसी भी राष्ट्र के विकास में बाधक है। इस संदर्भ में विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है– ''शास्त्री जी को नारी-पराधीनता कचोटती थी, उन्हें लगता था कि राजपुरुषों की उच्छृंखल कामुकता घृणा के योग्य है, इसलिए अपने लेखन में अम्बपाली को पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के विरूद्ध स्वाधीनता के संघर्ष का प्रतीक बनाया है।''[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 18 वर्षीय अम्बपाली पूरे गणराज्य के समक्ष किसी क्रांतिकारी नेता के समान भाषण करती है। उसका व्यक्तित्व व्यवस्था और व्यक्ति के संघर्ष का रंगमंच है तथा पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के विरूद्ध नारी स्वतंत्रता के संघर्ष का प्रतीक। अम्बपाली का चरित्र व्यष्टि में समष्टि को समेटे हुए है और नारी जीवन में ऊर्जा का संचार करता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नारी केवल मनोरंजन, भोगलिप्सा, सौन्दर्य की ही वस्तु नहीं है, वरन् साक्षात् देवी, सहचरी एवं मूलरूप से मनुष्य है। नारी की भी मनोकामना स्वतंत्र जीवन जीने की होती है। नारी और पुरुष दोनों समाज के अभिन्न अंग हैं, दोनों की सत्ता अनिवार्य है। नारी के भी सहज मानवीय अधिकार होते हैं। नारी भी समाज व राष्ट्र की वास्तविक कर्णधार तथा शक्ति का महान भण्डार भी है। मानव-सभ्यता का भविष्य नारी के सहयोग व सद्प्रयत्नों पर निर्भर है। स्त्रियों ने पहले सभ्यता की नींव रखी तथा मानव को इधर-उधर भटकने से बचाया है। जहाँ नारी की स्थिति एक गर्व की वस्तु है वही देश व समाज प्रगतिशील समझा जाता है। इस प्रकार शास्त्री जी के यहाँ नारी शक्ति, धन और ज्ञान का प्रतीक बन गई है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' से स्पष्ट होता है कि यदि नारी के अस्तित्व को भरपूर सम्मान एवं आदर नहीं दिया गया और उसकी स्वतंत्र चेतना एवं स्वाभिमान को बलात् दबाया गया तो उसकी प्रतिशोध भावना से बड़ा से बड़ा साम्राज्य भी ध्वस्त हो सकता है।

संदर्भ

1. डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ. 194
2. डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज : चतुरसेन के उपन्यासों में इतिहास का चित्रण, प्रतिष्ठान प्रकाशन, मेरठ, पृ. 30
3. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : वैशाली की नगरवधू, पृ. 7
4. विजयेन्द्र स्नातक : चतुरसेन शास्त्री, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, संस्करण 2000 ई.
5. डॉ. इन्दु वशिष्ठ : उपन्यासकार चतुरसेन शास्त्री, जवाहर पुस्तकालय सदर बाजार, मथुरा, संस्करण, 1977 ई., पृ. 185
6. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : वैशाली की नगरवधू, पृ. 39
7. वही, पृ. 17
8. वही, पृ. 30-31
9. वही, पृ. 702-703
10. वही, पृ. 268
11. वही, पृ. 269
12. डॉ. इन्दु वशिष्ठ : उपन्यासकार चतुरसेन शास्त्री, पृ. 82
13. डॉ. विद्याभूषण भारद्वाज : चतुरसेन के उपन्यासों में इतिहास का चित्रण, पृ. 108
14. विजयेन्द्र स्नातक : चतुरसेन शास्त्री, पृ. 38

वैदिक संहिताओं में निहित ज्ञानराशि अर्थात् 'वैज्ञानिकता'

डॉ. पतञ्जलि मिश्र एवं श्रीमती निधि गोस्वामी***

समग्र सृष्टि में वेद का स्थान अत्यन्त पवित्र, शुचि, पूजनीय तथा गौरवपूर्ण है। ''वेद'' शब्द राशि को निर्वचित करना अकल्पनीय है वरन् वैदिक विद्वानों के अन्तर्दृष्टि के आधार पर वेद शब्द 'ज्ञानराशि' को द्योतित करता है। अर्थात् वेद इस पवित्र शब्द का अर्थ ही विशिष्ट ज्ञान है। ''सर्वज्ञानमयो हि सः'' विज्ञान अर्थात् शब्दविच्छेद होने पर वि+ज्ञान, ये शब्द अपने विशेषीकरण को इंगित करता है। 'वि' अर्थात् विशिष्ट, विशेष, विशुद्ध ज्ञान। चूँकि सृष्टि ही सम्पूर्ण वेद में, वेद से तथा वेद द्वारा आप्लावित है, इसमें ही सब निहित है अन्यत्र किञ्चिन्मात्र नहीं इसके अतिरिक्त विज्ञान शब्द का परिहार करके उसमें उसकी वैज्ञानिकता सिद्ध करना असम्भव है।

आज के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विज्ञान शब्द से प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, क्रम, अवस्था, सूक्ष्मता, सरलता तथा गतिशीलता इत्यादि का पुष्ट, परिपक्व व परिलक्षित ज्ञान द्योतित कराया जाता है किन्तु कथञ्चित् इन वस्तुओं के विन्यास से सम्बन्धित प्रत्येक बिन्दु वेद से ही निःसृत है। विभिन्न संहिताओं में वर्णित, अंकित ज्ञानराशि ही प्रत्येक बिन्दुओं को विशेषीकृत करके उनकी वैज्ञानिकता को पुष्ट करती है यही इनकी सर्वप्रथम, सर्वप्रमुख विशेषता है।

आचार्य मनु ने भी वेदों की सर्वज्ञानमयता एवं सर्वप्रकाशकता के कारण ही ऐसा कहा है–

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।1।।[1]

वैदिक संहिताओं में ईश्वर और धर्मविषयक व्यावहारिक वैज्ञानिकता, कर्तव्यशास्त्र एवं समाजशास्त्र सम्बन्धी ज्ञानकोष विद्यमान है। वेदों में सृष्टि के गूढतम ज्ञान विद्यमान हैं। अनेक ऐसे सत्य हैं जिनके बारे में आधुनिक विज्ञान अनिश्चित है तथा जिन्हें जानने के लिये विज्ञान आज भी जूझ रहा है, वेदों में सहज भाव से प्रकट किये गये हैं।

वैदिक विज्ञान के विषय में भौतिकी के आचार्य डॉ. मनोहरलाल गुप्त ने अपनी पुस्तक 'वेदविज्ञानमञ्जूषा' (वेदोपनिषद्) में ऐसा कहते हुए लिखा है कि 'वेद की वैज्ञानिक व्याख्या से उसकी सभी गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं तथा उन सभी प्रश्नों का हल निकाला जा सकता है जिनमें वेदों के प्रतिपाद्य विषयों एवं विद्याओं का निर्वचन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसके ऐतिहासिक पक्षों का भी ज्ञान कराया जा सकता है।

सृष्टि में जगत् के संचालन, धारण, पोषण आदि के लिये अपेक्षित विधान का निर्माण आवश्यक था अतएव परमात्मा ने मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही वेद के रूप में मनुष्य के लिये अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश किया। **'ऋतञ्चसत्यञ्चाभीभद्धात्तपसाऽध्यजायत'** अर्थात् परमात्मा ने अपने ज्ञानबल से ऋत और सत्य के नाम से सम्पूर्ण विधि-विधान का निर्माण किया।

वेद ब्रह्म का सिद्धान्त और सृष्टि उसकी प्रायोगिक रचना है। इंग्लैण्ड के मनीषी W.D. Brown ves Deheveer hegmlekeâ Superiority of Vedic Religion में लिखा है[2]–

"Vedic religion is thoroughly scientific where science and religion meet hand in hand. Here theology is based on science and philosophy." अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया विज्ञान सम्मत है। यहाँ विज्ञान और धर्म दोनों हाथ में हाथ डालकर चलते हैं।

भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है कि **'भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति'** सायणाचार्य ने अपने ''तैत्तिरीय संहिता भाष्य' में उपोद्घात लिखा है–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तुपायो न बुध्यते।
एतं विन्दन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।[3]

अतएव सर्वप्रकार की अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि का स्त्रोत वेद है।

यास्काचार्य ने वेद की विशेषता बताते हुये कहा **'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'**[4] अर्थात् अल्पज्ञ होने से मनुष्य की विद्या तो अनित्या है परन्तु नित्य परमेश्वर का ज्ञान होने से वेद सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी अंकित है–

न वेद शास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं तु विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्।।[5]

---

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, वेदविभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोधच्छात्रा, वेदविभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वैदिक वाङ्मय में जितने भी महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं सभी किसी न किसी रूप में वेद से जुड़े हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष विषयक समस्त ग्रंथ वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं। विज्ञान और दर्शनविषयक ग्रंथ न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त और मीमांसा ये उपाङ्ग कहाते हैं। समस्त उपनिषद् ईशोपनिषद् का विस्तार है और स्वयं ईशोपनिषद् यजुर्वेद का 40वाँ अध्याय है; ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं; श्रौत और गृह्यसूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक ग्रंथ हैं; आयुर्वेद, धनुर्वेद, अथर्ववेद और गंधर्ववेद का नाम ही उपवेद है।

आयुर्वेद के विषय में इस विद्या के आकार ग्रंथ चरकसंहिता (सूत्रस्थापन अध्याय 30) में प्रश्न उठा 'कस्मात् आयुर्वेदः'– 'आयुर्वेद कहाँ से आया', प्रत्युत्तर में चरक ऋषि ने कहा **'चिकित्सा चायुषो हतायोपदिश्यते। वेदञ्चोपदिश्यायुर्वाच्यम्'** आयु के हितार्थ चिकित्साशास्त्र का उपदेश किया गया है। काश्यप संहिता (विमानस्थान) में भी आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। अथर्ववेद (15.6.8) में चारों वेदों का नामोल्लेखेपूर्वक वर्णन करते हुए कहा है- **'तमऋचः सामानि, यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलत्।'**[6]

इन सभी ग्रंथों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी पालन, कृषि, सिंचाई, कृत्रिम वर्षा, उद्योग-धंधे, यातायात, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, अन्तरिक्षविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, सैन्यसंचालन, ऋतुविज्ञान, भूगर्भशास्त्र, शिक्षा, भाषा, विज्ञान आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक और सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिये आवश्यक हो और वेद में उपलब्ध न हो।

वैदिक विज्ञान शब्द को आकाश का गुण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान अब तक उसे वायु का गुण सिद्ध करने में लगा रहा किंतु रेडियो के आविष्कार के पश्चात् शब्द को इयर या स्पेस का गुण माना जाने लगा है। ईयर और स्पेस दोनों ही आकाश तल के अन्तर्गत हैं।

वृक्ष-लता आदि को पूर्व में विज्ञान जड़ मानता था। वैज्ञानिक परीक्षणों से जगदीशचन्द्र वसु ने उनमें जान डाल दी और उनमें प्राण सत्ता सिद्ध की। वेदशास्त्र हमेशा से उन्हें चेतन मानकर जीव की भोग योनि मानते रहे हैं। अथर्ववेद (1.32.1) में 'वीरुधः प्राणन्ति' कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (8.7.6) तथा छान्दोग्योपनिषद् (6.11.3) में भी इस प्रकार का संकेत किया है।

पुनर्जन्म के प्रसंग में मनु ने कहा है (129) **''शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः''**[7] अर्थात् शरीर से किये गये पापों के फलस्वह्रप प्राणी, वृक्ष, लता, गुल्म, आदि योनियों को प्राप्त करता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में व्याप्त कालेपन को अभी जाना है परन्तु, वैदिक विद्वान् वेद के माध्यम से इस रहस्य को आदिकाल से जानते हैं। आदित्य मण्डल के मध्य भाग में कालापन होने से ही आदित्य को बहुधा कृष्ण नाम से पुकारा गया है जैसे- **'कृष्णे नोनाव वृषभो ददीदम्' (1.79.2)** यहाँ कृष्णपद से आदित्य रूप अग्नि का निर्देश है। जैमिनी ब्राह्मण में कहा है- **'संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भांति तत्संवत्, यन्मध्ये कृष्णमण्डलम् तत्सर इत्यादि दैवतम्'**[8] अर्थात् जो यह तपता है वह संवत्सर है उसमें जो प्रकाश करने वाला भाग है वह संवत् है और जो बीच में कृष्ण भाग है वह सर है। आदित्य मण्डल में रहने वाले यह काले धब्बे चलते रहने से सर्प कहलाते हैं। इन सर्पों के कारण ही ताण्ड्य ब्राह्मण में 'सर्प्या' को 'आदित्याः' कहा गया है।

वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर भूगर्भशास्त्र का विकास सृष्टि सम्बन्धी तत्त्वों के समायोजन के आधार पर प्राप्त होता है जबकि अथर्ववेद के मन्त्रों से बिल्कुल स्पष्ट है कि भूमि खनिजों की खान है **'विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी' (12.1.6)**[9] खनिज से तात्पर्य है खोदकर निकाला गया। पृथिवी को सम्पदा की गुफा कहा गया है तथा इसमें मणि सोना आदि सर्वस्व मिलता है–

'निधिं विभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे वसूनि नो वसुधा वासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना।''[10]

भूविज्ञान के अन्तर्गत कूप, नदी, झील आदि भी आते हैं। ऋग्वेद में कुँओं का वर्णन है जिनपर चरखियाँ लगी थीं तथा जहाँ से डोर द्वारा पानी खींचा जाता था। झील, नहर, तालाब, झरनों का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। नदी के लिये नदी, 'सिन्धु' तथा 'सुगाः' शब्दों का प्रयोग प्राप्त है। ऋग्वेद के (10.75.5-6) में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री (सतलज), परुष्णी (रावी), आविसीनी (चिनाब) आदि के नाम गिनवाये गये हैं।

वैदिक वाङ्मय में कृषि क्रान्तिकाल में प्रयुक्त अनुसंधान प्रणाली व इसमें आने वाले व्यवधानों को देवासुर संग्राम के रूप में चित्रित किया गया है। खेतों में जुताई के लिये हल का प्रयोग भारत की परम्परा है। वैदिक युग में हल का बड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में हल के लिये लांगल, सीर और वृक शब्दों का प्रयोग हुआ है– **'शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाठलम्'**[11] अथर्ववेद के कृषिवाले सूक्त में कवि, इन्द्र, पूषा, किनाश आदि किसान के वाचक शब्दों का प्रयोग एक साथ हुआ है इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **क्लेश सहनशीलाः कर्षकाः** अथवा **कुत्सितं नाशयति इति कीनाशः-** जो बुरी अवस्था का नाश करता हो उसको कीनाश कहते हैं। वेदों में अन्न के नामों को भी अन्य नामों से इंगित किया गया है जैसे-

अन्धः, वाज, पयः, प्रयः, पृक्षः, पितुः, सुतः, सिनम्, अवः, क्षु, घासि, इरा, इडा, इषम्, उर्क, रसः, स्वधा, अर्क, क्षदम्, नेमः, ससम्, नमः, आयुः, स्नृता, ब्रह्म, वचः, कीलालम्, यशः, निघन्टु तथा धान्यो को ब्रीहि, यवः, गोधूमः, उड़द, माष, तिल, मंग, खत्व, प्रियंगु, अणु, श्वामाक, नीवार इत्यादि शब्दों से अंकित किया गया है।

वेद में शिल्पशास्त्र का वृहद् उद्गम प्राप्त होता है। विभिन्न अस्त्रों, औजारों, शस्त्रों का उल्लेख, वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्णित इस्पात तैयार करने की तैयारी वैसी ही है जैसी 'वृटझ नामक' प्रसिद्ध विधि इस्पात बनाने के लिए भारत में 19वीं शती के अन्त तक अपनाई जाती रही है। विद्वान् मानते हैं कि इस पद्धति से बनाया हुआ इस्पात आजकल बेसेमर या खुली भट्टी में बने इस्पात से अधिक अच्छा होता था।

ऋग्वेद के (5.52.10-13-17) सैनिकों के चार प्रकार के मार्गों का वर्णन वेद में प्राप्त होता है। पर्वतों और नदियों से भी सेना की गति रूकती नहीं थी अर्थात् पुल भी बनते थे और विभिन्न प्रकार के रथवान् भी होते थे–

'न पर्वता न नद्यो वरन्त वो यत्राचिध्वं मरुतो गच्छयेदुतत्
उत द्यावापृथिवी याथना परिशुभं यातामनु रथा अवृत्सत्।।'[12]

आकाशमान वायुयान के उल्लेख भी बहुत से हैं। शिल्पविज्ञान की अन्य शाखाओं में भी प्राच्य तकनीकि का स्वर्णित इतिहास रहा है। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक सम्पूर्ण अध्याय 'नौविमानादिविद्याविषयः' दिया है जिसमें वेद से मंत्र उद्धृत कर इस विद्या व कला के विषय में संकेत दिया है। रामायण, महाभारत, रघुवंश तथा जातक कथाओं में नौकाओं, जलयानों तथा विमानों के अनेक वर्णन मिलते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि प्रणीत 'बृहद्विमानशास्त्र' नामक पुस्तक अपने वैदिक वैमानिक विज्ञान का उत्कृष्टतम ग्रंथ है जिसमें पुरातन विमानकला के शिल्पकार (लोहार मिस्त्री) से लेकर ब्रह्मा (इंजीनियर) पर्यन्त कार्यों का वर्णन यहाँ दिखाया गया है। रक्षा विधान अर्थात् शत्रु द्वारा भूतल से फेंके हुये एवं भूमि के अन्तर्लुप्त प्रहारों से तथा आकाश में विमानों द्वारा किये गये आक्रमणों से रक्षा करने के उपाय भी बताए गये हैं–

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भारद्वाजो महामुनिः।
नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम्।।[13]

गणितशास्त्र का आधार एवं उत्स वेद ही है। संख्याओं को प्रकट करने के लिये शून्य का अत्यन्त महत्व है। इसका मूल भी वेद ही है। अथर्ववेद में बताया गया है कि किस प्रकार शून्य आगे लगने से संख्या दस गुणा आगे बढ़ती जाती है–

एका च मे दश च मे ऽ पवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधुते मधुला करः।।
द्वे चमे विंशति चमे.....इत्यादि।[14]

यद्यपि इन मंत्रों में शून्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ तथापि जिस क्रम में संख्याओं का उल्लेख किया गया है उससे शून्य का ज्ञान स्वतः अनुमेय है। इस मंत्र में दी गई दो-दो संख्याओं के योग से ग्यारह का पहाड़ा बनता चला जाता है। बड़ी से बड़ी संख्या बनाने के लिये केवल अंक नौ को बार-बार लिखना होगा, इस सिद्धान्त का संकेत निम्नलिखित मंत्रांश में देखा जा सकता है–

नव च यन्नवतिं च स्त्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि।[15]

अनन्त संख्या की परिकल्पना उपनिषदों के सुप्रसिद्ध निम्नलिखित शान्ति पाठ में बहुत स्पष्ट रूप में ''पूर्ण'' शब्द के द्वारा व्यक्त हुई है–

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

इस शान्तिपाठ का मूल सूत्र अथर्ववेद 10.8.25 में देखा जा सकता है–

पूर्णात्पूर्णमुदयति पूर्णपूर्णेन सिच्यते।।[16]

एक नियम के अनुसार संख्या 1 की कितनी ही शक्तियाँ हो अर्थात् संख्या 1 अपने आप से कितनी ही बार गुणा किया जाए फल 1 ही रहेगा। अथर्ववेद का यह मन्त्र इसी नियम को बताता है–

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।
सर्वे अस्मिन्न देशच एकवृतो भवन्ति।।[17]

इस प्रकार से वैदिक संहिता मानव जीवन के इस सृष्टि के विभिन्न पक्षों को यथार्थरूपेण समझने के लिये शाश्वत सत्यों व मूल्यों का सत्यापन करने वाला एक पथप्रदर्शक तथ्य है। 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति, अनन्ता वै वेदाः' का उद्घोष करने वाले ऋषियों ने वेदों की जिस बहुस्तरीय अर्थवत्ता का दर्शन किया था उसका अनावरण करने के लिये वेद की सांकेतिक, प्रतीकात्मक, रूपकालंकार शोभित अनेकार्थ संवलित वाक् की योगिता को जानना अनिवार्य है।

विज्ञान का क्षेत्र केवल सृष्टि जगत् का परीक्षण एवं सृष्टि के मूल उपादान तत्त्वों के अन्वेषण तक ही सीमित है जबकि वेद उससे भी परे। इस सृष्टि के अध्यक्ष 'चेतनश्चेतनानां देवनां नामधा एकः देवष्वधिदेवः', सुखस्वरूप एवं इस प्रजा के प्रति का अर्थात् परमतत्व को कथित करता है।

संदर्भ

1. मनु, 12/97
2. Seperiority of Vedic religion by W.D. Brown
3. तैत्तिरीय संहिता भाष्य
4. नि. 1/2
5. याज्ञवल्क्यस्मृति
6. अथर्ववेद (15.6.9)
7. मनुस्मृति- 129
8. जै.ब्रा. 2.28
9. अथर्ववेद 12.1.6
10. अथर्ववेद 12.1.44
11. ऋग्वेद 4.57.4
12. ऋग्वेद 5/55/7
13. भारद्वाज विमानशास्त्र, वृत्तिकार-10
14. अथर्ववेद 5.15.1-11
15. ऋग्वेद 1.32
16. अथर्ववेद 10.8.25
17. अथर्ववेद 13.5.20-21

राजद्रोह अपराध का कल्याणकारी राज्य के संदर्भ में अध्ययन

*मुकेश कुमार मालवीय**

कानून के क्षेत्र में राज्य शब्द का व्यापक महत्व है विधिशास्त्र का प्रायः अनन्य सम्बन्ध या तो राज्य के नाम से जाना जाता है अथवा राज्य के नाम से ज्ञात समुदाय के बीच व्याप्त और प्रवर्तित विधि से समझा जाता है या ऐसी विधि से है जो राज्य या राज्य के बीच पायी जाती है। राज्य क्या है? यह एकदम सटीक रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता है। यह कतिपय संकल्पनाओं से जुड़ी होती है जैसे मूलवंश या राष्ट्र का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। मूलवंश को मानव प्राणियों का एक परिषद कहा जा सकता है इसी तरह राष्ट्र ऐतिहासिक विकास, सामान्य बोल चाल, सामाजिक रूढ़ियों या अन्य अनेक आधारों पर जुड़े व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जिसमें विभिन्न सरकारों के अन्तर्गत विभक्त होने पर भी लोग एक साथ रहना चाहते हैं। अतः राज्य का तात्पर्य मानव प्राणियों के ऐसे समाज से है जिसके सदस्य विचारवान हैं, राजनीतिक उद्देश्यों के लिये स्थायी ह्रप से संगठीत हैं और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कतिपय सरकारी संस्थायें विकसित की गयी हैं। राजनीतिक कृत्यों के सम्पादन में राज्य को नागरिकों के जीवन एवं व्यवहार के सम्बन्ध में अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। इस तरह राज्य के अतिरिक्त अन्य संगठनों द्वारा दायित्वों के पूरा न करने पर, दूसरी तरफ राज्य आवश्यकता पड़ने पर अपकारी के ऊपर शारीरिक क्षति अधिरोपित कर सकता है और कतिपय आपवादिक मामले में जीवन भी छीन सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि यह राज्य के अन्दर जो लोगों का समूह या कुछ वर्गों का समूह है यदि वह राजनैतिक सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है तो उसके लिये राज्य क्या उपचार प्रदान करता है? इस प्रश्न का उत्तर राज्य के स्वरूप पर निर्भर करता है कि वह राज्य कैसा है अब दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि राज्य अपने नागरिकों के हितों की पूर्ति नहीं कर पाया या नहीं करता है तब व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह जो व्यवस्था से असंतुष्ट हैं वह क्या करें? क्योंकि जब वह वैध कार्यों द्वारा अपने आवश्यकता की पूर्ति करना चाहता है तो राज्य उसकी माँग पर धन नहीं देता है और जब वह अवैध साधनों का प्रयोग करता है तो उस पर दण्ड अभिरोपित कर दिया जाता है। यहाँ दण्ड जिस अपराध के लिये दिया जाता है वह भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं उन्हीं में से एक अपराध ''राजद्रोह'' का है। इस प्रकार जब राज्य का स्वरूप कल्याणकारी हो तो वहाँ पर इस अपराध की क्या प्रासंगिकता है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके लिए हमें राज्य के हरेक पहलू की तरफ ध्यान देना होगा जो कि निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायक होगा।

राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

मानव संगठनों में राज्य सर्वश्रेष्ठ है। राज्य की संकल्पना के मूल में सुव्यवस्थित सामाजिक एवं राजनीतिक शक्ति के माध्यम से लोगों के हितों के संरक्षण की भावना अन्तर्निहित है राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों में यही भावना परिलक्षित होती है राज्य की उत्पत्ति के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं–

1. दैवीय सिद्धान्त- यह राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्राचीन सिद्धान्त है इस सिद्धान्त के अनुसार लोगों पर शासन, नियंत्रण एवं अराजकता से मुक्ति दिलाने के लिए स्वयं ईश्वर ने राज्य की सृष्टि की है। इस तरह राज्य ईश्वर की देन है।

2. शक्ति का सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति सैनिक नेता के साथ लोगों के एकत्रित होने से हुई ओपेनहाइम के अनुसार ''राज्य विजयी लोगों के वर्ग के द्वारा पराजित वर्ग पर अपना अधिपत्य कायम रखने और अन्दर से विद्रोही तथा बाहरी आक्रमण से संरक्षण प्रदान करने हेतु स्थापित एक संस्था है।'' हाबर्ट स्पेन्सर एवं कार्ल मार्क्स इस विचारधारा के समर्थक हैं।

3. आनुवांशिक सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक वंशानुक्रम से विकसित कबीलों से हुई है।

4. प्राकृतिक सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिये अन्य व्यक्तियों के साथ मिल जुल कर या सहयोग से ही रह सकता है एक-दूसरे के सहयोग से आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य का निर्माण किया गया है।

5. विकासवादी सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मानव विकास के क्रम में हुई। इसे न तो ईश्वर ने बनाया है और न ही मनुष्यों द्वारा जनबूझ कर सृष्टि किया गया है मानव विकास के साथ हितों में वृद्धि हुई और उसके संरक्षण के लिये राजनीतिक संगठन कायम हो गये।

6. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त- इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्याप्त अराजकता एवं असुरक्षा की स्थिति से

*सहायक प्राध्यापक, विधि-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भयभीत लोगों ने सामाजिक समझौते के माध्यम से राज्य की स्थापना की। हाब्स, लॉक, रूसों इस सिद्धान्त के प्रवबल समर्थक हैं।

राज्य क्या है?

राजनीतिक रूप से संगठित समाज या समाज के राजनीतिक संगठन के अर्थ में राज्य का सर्वप्रथम प्रयोग सोलहवीं शताब्दी में इटली में किया गया और मैकियाविली के साथ प्रचलित हुआ प्राचीन रोम में नगर राज्य (सिटी-स्टेट) की भावना प्रचलित थी जिसे ''पॉलिटी'' शब्द से जाना जाता था। जन समुदाय के लिये ''सिविक्स'' शब्द प्रयुक्त किया जाता था। धीरे-धीरे जब राज्य में सर्वोपरि सत्ता का तत्व स्पष्ट होने लगा तब राज्य का तकनीकी अर्थ में प्रयोग विधिशास्त्र एवं राजनीतिक का विषय बन गया।

राज्य शब्द को बताना की ये क्या है? बड़ा कठिन कार्य है परन्तु अनेक विधिशास्त्रियों ने इसकी परिभाषा देने का प्रयास किया है। सामण्ड ने कहा ''राज्य मनुष्यों का एक समाज है जो कुछ उद्देश्यों जैसे आन्तरिक व्यवस्था तथा वाह्य सुरक्षा आदि से स्थापित किया जाता है।'' लारेन्स के मत में ''राज्य एक ऐसा समाज है जो राजनीतिक रूप से संगठित है तथा जिसके सदस्य किसी केन्द्रीय सत्ता के अधीन होने के नाते आपस बंधे हुये हैं तथा अधिकतर लोग उसके नियमों का स्वभावतः पालन करते हैं।'' ओपेनहाइम कहते हैं किसी राज्य का अस्तित्व तभी सम्भव है जब कि किसी समाज के लोग किसी देश में अपनी सर्वोच्च सत्ताधारी की अधीनता में बस गये हों।'' वही प्रो. हार्ट का मत है राज्य में दो तथ्यों का बोध होता है- (क) किसी निश्चित क्षेत्र में लोग एक व्यवस्थित सरकार के अन्तर्गत रहते हों तथा यह सरकार एक विधिक प्रणाली द्वारा स्थापित हो, विधायनी न्यायालय तथा प्राथमिक नियम हो तथा (ख) उक्त सरकार स्वतंत्र हो।

वास्तव में राज्य शब्द का प्रयोग नियमित रूप से दो अर्थों में किया जाता है। पहला इसका प्रयोग एक राजनीतिक रूप से संगठित समाज द्वारा दखल किये गये भौगोलिक क्षेत्र से किया जाता है और दूसरा इसका प्रयोग एक राजनीतिक ह्रप से संगठित समाज और इसके क्षेत्र के लिये एक इकाई के रूप में किया जाता है विश्लेषणात्मक प्रमाणवादी विचारधारा के प्रमुख विधिशास्त्री बेन्थम और ऑस्टिन ने राज्य की परिभाषा सम्प्रभु के संदर्भ में की है, बेन्थम ने राज्य को राजनीतिक समाज का पर्यायवाची माना है। बेन्थम के अनुसार जब किसी देश की प्रजा किसी ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की आज्ञा का पालन करती है, जिसे शासक कहा जाता है तो ऐसी प्रजा एवं शासक के सम्मिलित रूप को राजनीतिक समाज या राज्य कहा जाता है। ऑस्टिन के अनुसार एक स्वतंत्र राजनीतिक समाज को राज्य या सम्प्रभु और स्वतंत्र राज्य कहते हैं। राज्य ऐसे व्यक्तियों के समूह का प्रतीक है जो स्वतंत्र समाज में सर्वश्रेष्ठ शक्ति को रखता है।

राज्य की कई परिभाषायें न्यायिक ईकाई के ह्रप में की गई है। सिजविक ने कहा कि राज्य एक राजनीतिक समाज या समुदाय है। यह मानव प्राणियों का समूह है जो इस तथ्य से अपनी नियमित एकता ग्रहण करता है कि अन्य राजनीतिक निकायों के साथ सद्व्यवहारों में समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार के प्रति इसके सदस्य स्थायी अनुपालन की स्वीकृति देते हैं। हॉलैण्ड ने राज्य को मानव प्राणियों का बहुसंख्यक संघ माना है जिसके अधिपत्य में एक निश्चित भू-भाग है जिसमें बहुमत या व्यक्तियों के निश्चित वर्ग की इच्छा ऐसे बहुमत या वर्ग की ताकत पर विरोध करने वालों पर हावी रहती है। स्पर्क के अनुसार शब्द राज्य की उचित परिभाषा सम्भव नहीं है।

'राज्य' के लिए आवश्यकता

सन् 1933 में की गई माटविडियो सन्धि के अनुच्छेद 1 के अनुसार-राज्य के चार आवश्यक तत्व स्वीकार किया गया है। (1) एक स्थायी जनसंख्या (2) एक निश्चित क्षेत्र (3) सरकार (4) अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध बनाने की क्षमता। हॉलैण्ड ने उपर्युक्त चार विशेषताओं के अतिरिक्त एक पाँचवी विशेषता भी बतायी है। उनके अनुसार पांचवी विशेषता कुछ हद तक सभ्यता है। जिसके फलस्वरूप वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य बन सके।

जनसंख्या या समुदाय- जनसंख्या राज्य का आवश्यक तत्व है। इसके बिना राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। राज्य समाज या समुदाय के अन्तर्गत ही सम्भव है। समुदाय वह है जिसमें बहुसंख्यक मानव प्राणी परस्परावलम्बन और सहयोग के कारण एक साथ रहते हैं जिससे कि वे एक समाज में अपने को एक वर्ग के रूप में कायम रख सकें। यह संगठन स्थायी होना चाहिये।

एक निश्चित क्षेत्र- राज्य के लिये एक निश्चित राज्य क्षेत्र का होना आवश्यक माना जाता है रोमन लॉ, सिविल लॉ प्रणाली और कामन लॉ प्रणाली में राज्य क्षेत्र वाले राज्य की ही संकल्पना है। यदि बिना भू-भाग के किसी राज्य क्षेत्र की संकल्पना है तो वह ऐतिहासिक उत्पत्ति का विषय बन जायेगी। इसलिये एक निश्चित भू-भाग होना आवश्यक है।

सरकार- राज्य की परिभाषा में एक सरकार ऐक्य बन्धन द्वारा एकत्रित मानव समाज के रूप में अवधारित है सरकार व्यक्तियों तथा राज्यों के बीच कड़ी का कार्य करती है। एक सरकार एक सतत राज्य में कार्यरत निकाय है, जिसका निगमों की तरह उत्तराधिकार होता है। यह संगठित रूप में कार्य करती है तथा राज्य आन्तरिक व्यवस्था में बल का एकाधिकारपूर्वक प्रयोग करती है।

सम्प्रभुता- सम्प्रभुता राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। सम्प्रभुता राज्य की वह शक्ति है जो राज्यान्तर्गत व्यक्तियों एवं समूहों के ऊपर अविवादित नियंत्रण कायम करती है और स्वयं किसी समान विनियमन के अधीन नहीं होती है।

राज्य एवं विधि

राज्य का विधिक सिद्धान्त, राज्य की वास्तविक कार्य विधि का परिचायक नहीं है। यह राज्य को विधि का स्रोत मानता है और विधि और राज्य के सम्बन्ध को इंगित करता है। वास्तव में विधि और राज्य के सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. राज्य विधि का निर्माणकर्त्ता और विधि से श्रेष्ठ है- विधि की श्रेष्ठता राज्य की निरंकुश विधायी शक्ति की द्योतक है। हॉब्स के अनुसार- विधि निर्माण शक्ति लेवियाथान या नश्वर ईश्वर या शासक के हाथ में थी। कामन वेल्थ (राज्य) के अतिरिक्त कोई अन्य विधि निर्माण नहीं कर सकता था। राज्य की विधि की संकल्पना में राज्य के सर्वोच्चता की जबरदस्त वकालत ऑस्टिन ने की और विधि को सम्प्रभु के समादेश के रूप में परिभाषित किया, सम्प्रभु का अपनी प्रजा के विरुद्ध कोई विधिक अधिकार नहीं है और न ही वह विधिक कर्त्तव्यों से बाध्य हैं। क्योंकि दोनों पक्षकारों के बीच विधिक सम्बन्ध तभी हो सकते हैं जब उनके ऊपर कोई सम्प्रभु हो जो नियमों को लागू करें इस सिद्धान्त के अनुसार संसद सामूहिक रूप में विधि के अधीन नहीं है और इस अर्थ में सांविधानिक विधि निश्चात्मक नैतिकता है। राज्य की विधि से सर्वोच्चता निरंकुश तानाशाही प्रणाली में अत्यन्त सरल है। राज्य विधि से श्रेष्ठ तथा विधि का निर्माणकर्त्ता है का सिद्धान्त ब्रिटेन की संसदीय सर्वोच्चता के संदर्भ में सर्वमान्य नियम है परन्तु भारत जैसे देश जहाँ पर लिखित संविधान तथा परिसंघीय प्रणाली में किसी विधि के बारे में अन्तिम शब्द ढूँढ़ पाना सरल कार्य नहीं है यहाँ विधायिका संविधान से बाध्य है। अधिकांश मामलों में न्यायालय को यह निर्णीत करने की शक्ति प्राप्त है कि विशिष्ठ अधिनियम सांविधानिक है या नहीं और सम्प्रभु का निर्धारण भी सरल नहीं है।

2. विधि, राज्य के पूर्ववर्ती एवं बाध्यकर है- यह सिद्धान्त विधि को राज्य से ज्यादा मौलिक एक पूर्ववर्ती मानता है। इसलिये विधि को राज्य पर बाध्यकर मानता है। इस सिद्धान्त की अच्छाई यह है कि-यह फासिस्टों की तरह विधि को संगठित शक्ति न मानकर, शक्ति के निरंकुश प्रयोग पर नियंत्रण मानता है और क्रेब्ब के शब्दों में यह विधियों के शासन की अपेक्षा करता है, व्यक्तियों के शासन की नहीं। विधि की बाध्यता के लिए इग्लैण्ड में विधि के शासन का सिद्धान्त ढूँढ़ा गया है। इसके तीन तत्व है प्रथम राज्य की मनमानी शक्ति के ऊपर विधि की सर्वोपरियता है, द्वितीय विधि के समक्ष समता इस अर्थ में है कि अधिकारी विधि का अनुपालन करेंगे और साधारण न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे और तृतीय यह तथ्य कि संविधान की विधि प्राइवेट व्यक्तियों के अधिकार के सम्बन्ध में न्यायालयों के निर्णय का परिणाम है।

3. विधि और राज्य एक ही है- इस सिद्धान्त के समर्थक केल्सन हैं उनके अनुसार वास्तव में विधि और राज्य एक ही है राज्य मात्र विधिक व्यवस्था है। केल्सन ने कहा है कि जिस तरह लोग एक प्रतिमा को मानवीकरण के माध्यम से निर्मित करते हैं उसी तरह विधिशास्त्र के मानकों में सोपानात्मक व्यवस्था का मानवीकरण कर राज्य का निर्माण किया गया है यह कहा जाता है कि राज्य विधि का निर्माण करता है। परन्तु इसका तात्पर्य केवल यह है कि राज्य विधि का निर्माण नहीं करती वरन् विधि अपने सृजन को नियंत्रित करती है। जब अमूर्त नियमों पर विचार किया जाता है तब विधि की बात आती है जब उन नियमों द्वारा निर्मित संस्था पर विचार किया जाता है, तब राज्य की बात आती है।

राज्य और विधि के सम्बन्ध में निर्धारित उपर्युक्त सिद्धान्तों में कुछ अच्छाई है, कुछ कमियाँ हैं परन्तु वास्तविक स्थिति पर ध्यान देने पर निष्कर्ष निकलता है कि सारी स्थितियों में कोई एक समाधान लागू नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिये यह सम्भव है कि राज्य एक ऐसी मौलिक विधि को मान्यता दे जो किसी भी प्राधिकारी द्वारा बदली न जा सके परिवर्तित दशाओं में ऐसी विधिक व्यवस्था को लागू करना अव्यवहारिक साबित हो सकती है परन्तु अपरिवर्तनीय मूल-विधि कल्पना की सीमा के परे नहीं है। राज्य और विधि का सम्बन्ध निर्धारित करते हुये यह मानना पड़ेगा कि तीनों सिद्धान्तों में कुछ अच्छाई है और तीनों पर ध्यान देना समीचीन है किसी एक पर जोर देना निरर्थक होगा। एक समाजशास्त्री विधि का प्रयोग बिना किसी राजनीतिक संगठन की अपेक्षा किये एक विधिक व्यवस्था के ह्रप में करता है और विधिवेत्ता जब विधि का प्रयोग करता है तो विधिक व्यवस्था में एक समाज का राजनीतिक संगठन अन्तर्वलित होता है तब एक विधिक व्यवस्था में विधि का तात्पर्य राजनीतिक ह्रप से संगठित समाज में प्राप्त विधिक सिद्धान्तों के समूह से होता है।

भारतीय संविधान में राज्य

बीसवीं शताब्दी में राज्य की अवधारणा मात्र अमूर्त धारणा एवं लक्षणों से मुक्त विधिक संकल्पना न रहकर देश के अन्तर्गत अधिकार-कर्तव्य-धारक विधिक व्यक्तित्व बन गया है। ऑस्टिन की तरह राज्य केवल लोगों के आदतन अनुपालन का अधिकार ही नहीं बल्कि राज्य के विरुद्ध नागरिकों के अधिकारों को प्रवर्तित कराया जा सकता है और राज्य के ऊपर सकारात्मक कर्त्तव्य अधिरोपित किये जा सकते हैं। इसी प्रजातान्त्रिक लोक कल्याणकारी राज्य की अपेक्षा को ध्यान में रखकर भारतीय संविधान के अन्तर्गत मूलाधिकारों एवं राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के प्रभावीकरण के लिये राज्य की परिभाषा दी गयी है। अनुच्छेद 12 के अन्तर्गत राज्य को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि जब तक संदर्भ अन्यथा अपेक्षित न हो राज्य के अंतर्गत भारत की सरकार और संसद राज्यों में से प्रत्येक राज्य की सरकार और विधान मण्डल तथा भारत के राज्य के भीतर या भारत के नियंत्रण के अधीन सभी स्थानीय एवं अन्य प्राधिकारी हैं। लोक

कल्याणकारी राज्य की अपेक्षानुकूल राज्य के बढ़ते कार्य एवं मूलाधिकारों के हनन की सम्भावना के कारण अन्य प्राधिकारी भावार्थ की क्रियाशील परिभाषा कर संविधि द्वारा सृष्ट एवं शक्ति प्राप्त निगमों एवं निकायों एवं परिषदों को माना गया है। यही नहीं सरकार के कार्य के माध्यमों एवं अभिकरणों को भी राज्य माना गया है। राज्य की अति उदार व्याख्या कर अत्यधिक संगठनों के इसके अन्तर्गत सम्मिलित कर नागरिकों को संरक्षण देने का प्रयास किया जा सकता है।

अतः भारत, भारतीय संविधान के अनुसार- एक लोक-कल्याणकारी राज्य है जबकि स्वतंत्रता के पूर्व वह एक पुलिस राज्य था जिसमें राज्य का कार्य मात्र आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा करना तथा नागरिकों के अधिकारों के सम्बन्ध में अहस्तक्षेप की नीति को लागू करना था तथा नागरिकों को प्रशासनिक शक्तियों द्वारा नियमित करने का कार्य मुख्य था चूंकि समकालीन समय में भारत ब्रिटेन का उपनिवेश रहा था इसलिये यहाँ पर ऐसे कानून बनाये जाते थे जो नागरिकों को विद्रोह करने से रोकने में सक्षम हो एवं नागरिकों के अधिकारों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इसका सबसे प्रमुख रूप आपराधिक विधि के अन्तर्गत देखने को मिलता है। इसका कारण था कि दण्ड का भय ही व्यक्तियों को नियंत्रित कर सकता था इसलिये ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाने लगा तथा उसे प्रवर्तित किया जाने लगा। जिससे व्यक्तियों के मन में असंतोष की भावना पनप न सके, ब्रिटिश व्यवस्था भारत को ''सफेद व्यक्ति का बोझ'' समझ कर नियंत्रित करती थी इसलिये जो कानून अपराध के संदर्भ में उस समय बने वह वर्तमान समय में कैसे उपयोगी हो सकते हैं जब कि भारतीय समाज की स्थितियाँ तथा राज्य का स्वरूप पूर्व की अपेक्षा एकदम उलट दिखाई देती है शासन के मानक बदल गये, उद्देश्य बदल गया अब भारतीय राज्य का स्वरूप एक कल्याणकारी राज्य का है जबकि पूर्व में पुलिस राज्य था ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पूर्व के कानून विशेषकर ''आपराधिक विधि'' की प्रासंगिकता वर्तमान में कितनी है।

इसी क्रम में एक अपराध है ''राजद्रोह'' का जिसे भारतीय दण्ड संहिता के धारा 124क के अन्तर्गत रखा गया है जिसको इस संहिता में 1870 में जोड़ा गया था समकालीन समय में यह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन 1857 के परिणामों को देखते हुये जोड़ा गया था अब जब भारत स्वतंत्र हो गया है तब इस प्रकार के अपराध विशेषकर कितना यह प्रासंगिक है यह उल्लेखनीय प्रश्न है क्योंकि अब भारत का स्वह्रप मानक उद्देश्य में व्यापक परिवर्तन हुआ है जबकि यह धारा जब जोड़ी गयी थी तब यह भारतीयों की स्वतंत्रता भी भावना को दबाने के लिये उपयोगी थी इन संदर्भ में धारा 124क के उपबन्ध एवं संबंधित न्यायनिर्णय निम्नलिखित हैं–

राजद्रोह : भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124क

सरकार को आतंकित करने के अपराध का दूसरा रूप राजद्रोह कहा जाता है जिसे धारा 124क में निम्न प्रकार वर्णित किया गया है–

''जो कोई बोले गये या लिखे शब्दों द्वारा संकेतों द्वारा या दृश्यह्रपेण या अन्यथा भारत में विधि द्वारा स्थापित सरकार के प्रति घृणा या अवमान पैदा करेगा, या पैदा करने का प्रयत्न करेगा, या अप्रीति प्रदीप्त करेगा, या प्रदीप्त करने का प्रयत्न करेगा, वह आजीवन कारावास से, जिसमें जुर्माना जोड़ा जा सकेगा या तीन वर्ष के कारावास से जिसमें जुर्माना जोड़ा जा सकेगा, या जुर्माने से दण्डित किया जायेगा।''

स्पष्टीकरण-1 'अप्रीति' पद के अन्तर्गत अभक्ति और शत्रुता की समस्त भावनायें आती हैं।

स्पष्टीकरण-2 घृणा, अवमान, या अप्रीती को प्रदीप्त करने का प्रयत्न किये बिना सरकार के कामों के प्रति विधिपूर्ण साधनों द्वारा उनकों परिवर्तित कराने की दृष्टि से अनुमोदन प्रकट करने वाली टीका टिप्पणियाँ इस धारा के अधीन अपराध नहीं है।

स्पष्टीकरण-3 घृणा, अवमान या अप्रीती को प्रदीप्त किये बिना या प्रदीप्त करने का प्रयन्त किये बिना सरकार की प्रशासनिक या अन्य क्रिया के प्रति अननुमोदन प्रकट करने। वाली टीका-टिप्पणियाँ इस धारा के अधीन अपराध गठित नहीं करती हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मैकाले द्वारा तैयार किये गये मूल प्राह्रप में धारा 113 के अन्तर्गत उपरोक्त धारा 124क में परिभाषित राजद्रोह समाविष्ट था, किन्तु यह दण्ड संहिता को सन् 1860 में अधिनियमित करते समय कदाचित भूल से छूट गया था प्रथम स्वतंत्रता संग्राम सन् 1857 जिसने भारत में ब्रिटिश सरकार की नींव हिला दी थी, के फलस्वरूप इसको दण्ड संहिता में भारतीय दण्ड संहिता (संशोधन) अधिनियम 27 सन् 1870 की धारा 5 द्वारा जोड़ा गया था। वह 18 फरवरी सन् 1898 ई. तक प्रचलित रहा। इन 28 वर्षों के समय में 4 प्रसिद्ध विचारण हुये अर्थात् ''सम्राज्ञी बनाम जे0सी0 बोस,[1] सम्राज्ञी बनाम बाल गंगाधर तिलक,[2] सम्राज्ञी बनाम रामचन्द्र नारायण[3] और सम्राज्ञी बनाम अम्बा प्रसाद[4] इन मुकदमों के निर्णयों के परिणाम स्वरूप ब्रिटिश सरकार ने यह आवश्यक समझा कि विधि में और संशोधन किये जायें ताकि राजद्रोह को दबाने के लिये सरकार को और अधिक शक्ति प्राप्त हो जाये। अतः विरोध के होते हुये भी ऐसा संशोधन अधिनियम सं. 4 की धारा 4 द्वारा किया गया। उक्त संशोधन अधिनियम द्वारा मुख्य संशोधन यह था कि शब्दों ''घृणा या अवमान'' को शब्द अप्रीति के आगे अप्रीति की भावना गठित करने हेतु जोड़ा गया। स्पष्टीकरण नं. 1 के स्थान पर वर्तमान तीन भिन्न स्पष्टीकरण कर

दिये गये। पूर्व धारा 124क और वर्तमान धारा 124क जो वर्तमान स्वरूप में 1898 के संशोधन के परिणाम स्वरूप है इन दोनों में यह अन्तर है कि पूर्व धारा के अन्तर्गत अपराध 5 अप्रीति की भावना को प्रदीप्त करने या उसके प्रदीप्त करने के प्रयत्न करने में गठित होता था, किन्तु अत 1898 के संशोधन के पश्चात् भारत सरकार के प्रतिघृणा या अवमान पैदा करना या पैदा करने का प्रयत्न करना भी दण्डनीय बना दिया गया है।

इस संशोधन का अन्तर्निहित उद्देश्य प्रवर समिति ने निम्न प्रकार प्रतिपादित किया था–

''हर व्यक्ति को स्वतंत्रता है कि वह किसी प्राधिकारी की आज्ञा लिये बिना जो चाहे बोले, लिखे या मुद्रित करें, किन्तु यदि जो कुछ वह बोले, लिखे या मुद्रित करें वह स्थानीय विधि का उल्लंघन करता है तो उसको आरोपित करके दण्डित किया जा सकेगा। जब तक कि व्यक्ति विधि का उल्लंघन नहीं करता है उससे कोई हस्तक्षेप न करेगा। यदि वह विधि का उल्लंघन करता है तो वह न्यायालय द्वारा साधारण विधि के उपक्रम में दण्डनीय होगा। यह हमारी समझ में एक स्वस्थ तथा तर्कपूर्ण मार्गदर्शक सिद्धान्त है और हमको यह अपनाना होगा, किन्तु हमने यह भी निश्चय किया है कि यह विधि मृत विधि न रहे और यह कि स्थानीय विधि का उल्लंघन करने वालों पर उत्तरदायित्व होगा।''

राजद्रोह का अपराध अंग्रेजी विधि में धारा 124क की तुलना में अधिक व्यापक हैं। जो कुछ हमारी संहिता में अधिनियमित है वह केवल अंग्रेजी विधि में वर्णित ''राजद्रोहात्मक अपमान लेख'' का एक ही ह्वप है। वास्तव में हमारी विधि में राजद्रोह सरकार या राज्य की मानहानि है।

राजद्रोह से तात्पर्य

राजद्रोह के अर्थ हैं राज्य में फूट या उपद्रवी अशान्ति प्रदीप्त करना जो बगावत गठित न करती हो। ''राजद्रोह'' शब्द धारा 124क के अन्तर्गत शब्दों में प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु उस धारा के पार्श्व टिप्पणी में लिखा है और इसलिये उस धारा का सक्रिय भाग नहीं है किन्तु यह केवल एक नाम प्रदान करता है जिसके द्वारा उस धारा में परिभाषित अपराध विदित हो। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अलग-अलग देशों में राजद्रोह की स्थिति–

इंग्लैण्ड

यद्यपि कि इंग्लैण्ड में राजद्रोह का अपराध धारा 124क से अधिक व्यापक है जिसे निम्नलिखित वादों के निर्णय द्वारा समझा जा सकता है। आर. बनाम सलीमन[5] इस वाद में न्यायाधीश फिट्जरेर्ल्ड ने कहा कि- ''राजद्रोह समाज के विरुद्ध अपराध है और अभिद्रोह से मिलता-जुलता है साधारणतया राजद्रोह का उद्देश्य अशान्ति तथा उपद्रव उत्प्रेरित करना है सरकार के विरुद्ध विरोध को भड़काना और न्यायिक प्रशासन के विरुद्ध घृणा प्रदीप्त करना है। राजद्रोह की प्रवृत्ति जनता का उपद्रव और बगावत की ओर आह्वान करती है। राजद्रोह को ''सक्रिय अभक्ति' की संज्ञा दी गई है इसलिये विधि उन सब आचरणों को राजद्रोह मानती है, जिनका उद्देश्य अशान्ति या अभक्ति को प्रदीप्त करना है लोक अव्यवस्था पैदा करना है, या गृह युद्ध की ओर ले जाना है या राजा या सरकार या विधि या संविधान के प्रति घृणा या अपमान प्रदीप्त करना है और साधारणतया समस्त लोक अव्यवस्था करने का प्रयत्न करना है।'' इस प्रकार अंग्रेजी विधि में राजद्रोह गठित करने हेतु कहे गये विचारों या किये गये कार्यों से न केवल सरकार के प्रति घृणा, अवमान या अभक्ति की भावना उत्तेजित होती है वरन् वे उन्हें उत्पन्न करें या उन भावनाओं को इस हद तक प्रदीप्त कर दें जिससे गड़बड़ी या लोक अव्यवस्था या हिंसा सामान्य हो जाये।

इग्लैण्ड ने सन् 1909 के आर. बनाम अल्ड्रेड[7] के मुकदमें के पश्चात् और कोई मुकदमा रिपोर्ट नहीं हुआ है। एक अन्य वाद जोशेआ बनाम आर. (1955) 2 ए.आई.आर.एस.सी. 22 अभियुक्त पर वह आरोप लगाया गया था कि उसने राजद्रोह भाषण द्वारा लोक रिष्टी का अपराध किया है न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था कि वह राजद्रोह का अपराधी न था बल्कि लोकरिष्टि का दोषी था।[8]

भारत में

हमारे देश में धारा 124क के विषय में न्यायालयों के दो मत हैं पहले मत के अनुसार इस धारा में अंग्रेजी 'कॉमन लॉ' तत्वतः समाविष्ट है यद्यपि अत्यधिक संक्षिप्त और स्पष्टतया अभिव्यक्त रूप में,[9] दूसरे मत के अनुसार-हमारी राजद्रोह की विधि अंग्रेजी 'कॉमन लॉ' से बिल्कुल भिन्न है जहाँ तक कि यह हर प्रकार की कुभावनाओं के कथनों को दण्डित करती है चाहे वे हिंसा की प्रदीप्त करने वाले हों या न हों अब यहाँ भिन्न-भिन्न समय में इनको वरीयता दी गयी।

इस दूसरे मत का प्रतिपादन सम्राज्ञी बनाम बाल गंगाधर तिलक[10] बाद में लिया गया इस बाद में न्यायाधीश स्ट्रेची उक्त को प्रतिपादित किया।

यह अपराध दूसरों में सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की कुभावनायें प्रदीप्त करने या प्रदीप्त करने का प्रयत्न करने से निर्मित होता है। यह गदर या उपद्रव या किसी प्रकार की वास्तविक छोटी-बड़ी अव्यवस्था के प्रदीप्त करने या प्रदीप्त करने का प्रयत्न करने में नहीं है। उन लेखों द्वारा कोई अव्यवस्था या गड़बड़ी मच गयी थी तो उसका कार्य निःसंदेह धारा 124क के अन्तर्गत आयेगा और सम्भवतः दण्ड संहिता की अन्य धाराओं के अन्तर्गत भी आयेगा। किन्तु यद्यपि उसने न तो कोई बलवा या उपद्रव, या सरकार के प्राधिकार के

विरुद्ध बल पूर्वक प्रतिरोध प्रदीप्त किया था और न प्रदीप्त करने का प्रयन्त किया था तथापि यदि उसने सरकार के विरुद्ध शत्रुता की भावना प्रदीप्त करने का प्रयत्न किया था, तो वह उसको इस धारा के अन्तर्गत दोषी बनाने के लिये पर्याप्त है। विद्वानों ने विचार प्रकट किया है कि इस धारा के अन्तर्गत अपराध निर्मित न होगा जब तक कि अभियुक्त उपद्रव करने या बलपूर्वक सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध करने की सलाह न दे या ऐसा करने का सुझाव न दे। मेरी राय में यह विचारधारा के अभिव्यक्त शब्दों के नितान्त विपरीत है।

उपरोक्त मुकदमा प्रिवी कौंसिल में भी गया था जहाँ कि न्यायाधीशों ने उपरोक्त कथन का अनुमोदन कर दिया था और घोषित किया था कि अहिंसा प्रदीप्त करना भारत में राजद्रोह अपराध का तत्व नहीं है। यह प्रिवी कौसिल का मत हमारे देश में 1942 तक स्वीकार किया जाता रहा। लेकिन निहरेन्द्र दत्त मजुमदार[11] के वाद में मुख्य न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर ने धारा 124क के शब्दों को और अधिक विस्तृत कर दिया और न्यायाधीश ने कहा कि- प्रत्येक सरकार का प्रथम एवं मूलभूत दायित्व व्यवस्था को सुरक्षित रखना है क्योंकि व्यवस्था ही सभी सभ्यताओं एवं मानव सुखों के उन्नति की पूर्व गर्त है इस दायित्व का कभी-कभी निःसंदेह इस प्रकार पालन किया गया कि उपचार रोग से भी भयानक साबित हुआ परन्तु यह दायित्व तब भी समाप्त नहीं होता क्योंकि जिन लोगों पर इसे पालन करने का दायित्व था उन लोगों ने सुचारु ह्रप से पालन नहीं किया यह राज्य का उन लोगों के लिये जवाब है जो राज्य पर आक्रमण करने या इसे नष्ट करने के प्रयोजन से राज्य की शान्ति को भंग करने, लोक विक्षोभ उत्पन्न करने या अव्यवस्था उत्पन्न करने या अन्य लोगों को ऐसा करने के लिये उत्प्रेरित करने का प्रयत्न करते हैं। शब्द कृत्य एवं देशद्रोह गठित करते हैं यदि वे इस आशय या प्रवृत्ति से मुक्त हैं। लोक अव्यवस्था या इसकी युक्तियुक्त प्रत्याशा या लोक अव्यवस्था की सम्भावना ही अपराध का तत्व है। परिवादित कृत्य या शब्द या तो अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं या तो ऐसे हों जिनसे कोई भी युक्तियुक्त व्यक्ति संतुष्ट हो जाए कि उनका आशय या प्रवृत्ति अव्यवस्था उत्पन्न करने योग्य हैं।''

उक्त निर्णय ने हमारे देश को सन् 1947 तक शासित किया। सन् 1947 में प्रिवी कौंसिल के किंग इम्पर बनाम सदाशिव नारायण भालेराव[12] के वाद में मारिस ग्वायर द्वारा अभिकथित परख को अस्वीकृत कर दिया और राजद्रोह की वह परख जो न्यायाधीश स्ट्रेची ने तिलक के मुकदमें में प्रतिपादित की थी, बहाल कर दी और व्यक्त किया कि सर मारिस ग्वायर का निर्वचन धारा 124क की गलत व्याख्या है। इस प्रकार पांच वर्ष के पश्चात हमारे देश में प्राचीन निर्वचन पुनः स्थापित हो गया। पुनः सन् 1962 में 15 वर्ष पश्चात हमारी उच्चतम न्यायालय ने सर मारिस ग्वायर के निर्वचन को बहाल कर दिया यद्यपि न्यायाधीशों ने धारा 124क की वैधानिकता का समर्थन किया उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि यदि हम धारा 124क के शाब्दिक अर्थ लगाना स्वीकार करेंगे जैसा कि प्रिवी कौसिल तथा न्यायाधीश स्ट्रेची ने किया था तो यह धारा अवैध हो जायेगी क्योंकि तब संविधान के अनुच्छेद 19 का अतिक्रमण करेगी।

धारा 124क की संवैधानिकता

संविधान के पश्चात् हमारे न्यायालयों के समक्ष धारा 124क की संवैधानिकता के प्रश्न पर विचार किया गया। यह प्रश्न इसलिये उठा था क्योंकि हमारे संविधान का अनुच्छेद 19(2) वाक तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान करता है और इन मौलिक अधिकारों की रक्षा करना न्यायालयों का अधिकार है उक्त वाक स्वतंत्रता की सीमाओं पर उच्चतम न्यायालय ने सन् 1950 में दो मुकदमों में विचार किया था। रमेश थापर[13] एवं ब्रिजभूषण[14] के वाद में रमेश थापर के मुकदमें में न्यायाधीश पातंजली शास्त्री ने व्यक्त किया था कि- ''अनुच्छेद 19(2) वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर निर्बन्धनों को लगाना केवल उन मामलों में अनुज्ञात करता है जिसमें कि लोक सुरक्षा अन्तर्वलित है, और कोई भी अधिनियम जो कि उन मामलों में लागू होने की क्षमता रखता है जिनमें कि ऐसा कोई खतरा नहीं पैदा हो सकता है वह किसी हद तक भी वैधानिक और वैध नहीं अभिनिर्धारित किया जा सकता है।''

उक्त निर्णय के परिणामस्वरूप अनुच्छेद 19 का संविधान संशोधन (प्रथम संशोधन) अधिनियम सन् 1951 द्वारा निम्नलिखित दो बातों में किया गया (1) वाक् स्वातंत्रय के वैज्ञानिक निर्बधनों को उसके निमित्त आधारों की व्यवस्था करके अधिक व्यापक कर दिया गया (2) यह व्यवस्था की गई कि ऐसे निर्बधनों का जो वाक् स्वातंत्रय पर लागू किये जाय युक्तियुक्त होना जह्वरी है।

संविधान के अनुच्छेद संशोधित खण्ड 2 से संरक्षित होती है या नहीं? इस विषय पर तीन भिन्न मत न्यायालयों ने सन् 1962 के उच्चतम न्यायालय के अन्तिम निर्णय के पूर्व प्रतिपादित किये थे। पटना उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित[16] किया कि यह धारा 124क अवैध नहीं है क्योंकि भारतीय संविधान के संशोधित अनुच्छेद 19(2) में ''लोक व्यवस्था के हित में'' शब्द है उसके व्यापक अर्थ हैं। उच्चतम न्यायालय ने भी अभिनिर्धारित किया कि यह पद अधिक व्यापारक हैं। मणीपुर के न्यायिक आयुक्त ने अभिनिर्धारित किया कि यह धारा 124क अंशतः वैध एवं अंशतः अवैध है इस धारा का वह भाग जो अभक्ति प्रदीप्त करने पर निर्वधन लगता है वह अधिकारातीत है किन्तु धारा के वे निर्बधन जो वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर विधिपूर्वक स्थापित भारत सरकार के प्रति घृणा और अवमान प्रदीप्त करने पर लगे हैं संविधान के अनुच्छेद 19(2) के अन्तर्गत वे वैध है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय[17] ने सन् 1959 ई0 में धारा 124क को अधिकारातीत घोषित कर दिया कहा कि प्रजातंत्र समाज में सरकार

की आलोचना वैध है और उस आलोचना का किसी प्रकार प्रतिह्रास अनुचित होगा।

केदार नाथ बनाम बिहार[18] राज्य- इस वाद में यह अभिनिर्धारित किया गया कि धारा 124क अधिकारातीत नहीं है और वाक और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों का जो कि संविधान के अनुच्छेद 19 में प्रत्याभूत किये गये हैं अतिक्रमण नहीं कराता है क्योंकि धारा 124क को कुल मिलाकर स्पष्टीकरणों सहित पढ़ने पर यह स्पष्ट है कि यह धारा केवल उन कार्यों को अपराधिक बनाती है जो कि लोक प्रशान्ति में गड़बड़ी या हिंसा का प्रयोग करके अव्यवस्था पैदा करना आशयित करते है या ऐसी प्रकृति रखते हैं। धारा 124क तभी लागू होती है जब शब्द विलेख या लिखित हिंसा उत्तेजित करते हैं या लोक प्रशान्ति भंग करने की प्रवृत्ति रखते हैं तथा कहा गया कि– ''यह धारा वैयक्तिक मौलिक अधिकारों और लोक व्यवस्था के हितों के मध्य उचित सन्तुलन करती है। इस धारा के अनुसार प्रयोग किये गये तीनों शब्द ''घृणा'', ''अवमान'' और ''अभक्ति'' अंग्रेजी विधि से लिये गये हैं अतः इन शब्दों के गूढ़ आशय को जब तक कि कहे गये या लिखे गये शब्दों को प्रकाशित न किया जाये और वे शब्द सरकार के प्रति घृणा व अवमान पैदा न करते हों और व्यक्तियों को सरकार उलटने हेतु बगावत की ओर ले जाते हो। ''अभक्ति प्रदीप्त करने'' के शब्दों में भी वही आधार आशयित है। वे ''अभक्ति'' ही द्योतक है स्पष्टीकरण 1 कहता है कि पद अप्रीती के अन्तर्गत अभक्ति और शत्रुता की समस्त भावनायें आती हैं अप्रीती की परिभाषा प्रीति के विपरीत की गई है। व्यक्तियों को सरकार के विरुद्ध बगावत करने को उत्तेजित करना ही उनमें भक्ति की भावनायें पैदा करना है। विधि द्वारा स्थापित सरकार का दृश्य प्रतीक है इसको उन व्यक्तियों से, जो कि तात्कालिक प्रशासन के कार्य में संलग्न हो सुभिन्न करना चाहिये। राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा, यदि विधि द्वारा स्थापित सरकार को उन्मूलित कर दिया जाय।

उपरोक्त निर्वचनों की समस्या को देखते हुए एवं प्रजातान्त्रिक राज्य के अन्दर अभिव्यक्ति के माध्यमों एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विधि आयोग ने (42वें विधि आयोग) ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124क में बदलाव की विफारिश प्रस्तुत किया–

42वें विधि आयोग की संस्तुस्ति- विधि आयोग ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किया।

"124-A. Sedition – Whoever by words, either spoken or written, or by signs, or by visible repserentation , or other wise, excites, or attempts to excite, disaffection towards the constitution or the Government or Parliament of Inetily of the Government or Legislature of any State, or the administration of Justice, as by law established, intending or Knowing it to be likely there by to endanger the integrity or security of India or a state, or to couse public disorder, shall be punished with rigorous imprisonment for a term which may extend to seven years, and shall also be liable of fine.

इस प्रकार विधि आयोग द्वारा धारा 124क के अन्तर्गत आपराधिक मनः स्थित को कुछ शब्द जैसे ''आशय के साथ'' एवं जानते हुये के द्वारा इस अपराध को प्रवर्तनीय बनाने का सुझाव दिया यहाँ महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार यदि व्यक्ति आशय के साथ राजद्रोह के वर्णित कार्य करेगा तभी अपराध होगा अन्यथा नहीं। (विधि आयोग की संतुस्ति के स्पष्टीकरण के अनुसार) इस प्रकार विधि आयोग द्वारा की गयी सिफारिश के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि इसे लागू कर दिया जाता है तो केदारनाथ वाद की प्रासंगिकता बनी रहेगी जो न्यायाधीश मारिस ग्वायर के निर्वचन का आधुनिक स्वरूप है।

राजद्रोह एवं विनायक सेन प्रकरण राजद्रोह का अपराध अभी भी उसी आयाम में देखा जाता है जिसे सन् 1962 में केदार नाथ के वाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्धारित किया गया था। जिसके अनुसार– सरकारें लगभग निरंकुश हो जाती हैं और अपने राजनैतिक लाभ के लिये किसी भी गतिविधि को जो मूल अधिकार की श्रेणी में आते हैं उन्हें भी राजद्रोह की परिधि में ले आती है। इस संदर्भ में विनायक सेन का वाद महत्वपूर्ण हो जाता है। इनके ऊपर नक्सल गतिविधियों में शामिल होने एवं उनकी मदद करने के आरोप में गिरफ्तार किया गया तथा देशद्रोह का मुकदमा चलाया गया एवं अदालत द्वारा नक्सलियों की मदद और हमदर्दी के आरोप में राजद्रोह का दोषी ठहराया गया तथा उम्र कैद की सजा दी गयी।

साक्ष्य

न्यायालय साक्ष्य के तौर पर एक पोस्ट कार्ड (3 जून 2006) जो जेल में बन्द कैदी नारायण सान्याल द्वारा लिखी गयी थी। जिसे विनायक सेन को देना था जिस पर जेल प्रशासन की स्वीकृति भी मिली थी को प्रस्तुत किया गया इसके साथ एक पीले रंग की पुस्तक जो CPIC (Peoples war and maoist Communist Centre) के नाम से भी पायी गयी इसके अतिरिक्त कुछ पत्र जो मदनलाल बंजारे (माओवादी) द्वारा लिखी गयी थी पाया गया। इसके साथ एक लेख ''कुन्ती करी जनवादी मोर्चा'' नामक लेख तथा ''नक्सल आन्दोलनः आदीवासी और महिला आन्दोलन'' और ''हाउ टू बील्ड एन एन्टी'' नामक लेख पत्र को साक्ष्य बनाया गया तथा इसी आधार पर माओ समर्थन होने के नाते उन्हें गिरफ्तार किया गया (24 मई 2007) मुकदमा सितम्बर 2008 में चलना शुह्र हुआ उच्चतम न्यायालय द्वारा जमानत दिया गया तथा सत्र न्यायालय को जनवरी 2011 तक मुकदमा का निपटारा करने का आदेश दिया गया जिसके कारण 24 अगस्त 2010 को सत्र न्यायालय द्वारा विनायक सेन को ''देशद्रोही'' करार

दे दिया गया और आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। जिसके कारण विश्व भर से तमाम मानवाधिकार कार्यकर्त्ताओं तथा नोबेल पुरस्कार विजेताओं द्वारा इसका विरोध किया जाने लगा।

इस प्रकरण में छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा उन्हें षड्यंत्रपूर्वक फसाया गया है। क्योंकि उन्होंने सलवा जुडूम का विरोध किया था जिसमें ''सलवा जुडूम अभियान'' के तहत 640 गाँवों के आदिवासियों के विस्थापना का तीव्र प्रतिवाद शामिल था विनायक सेन 25 वर्षों से एक चिकित्सक की भूमिका के अलावा आदिवासियों के कुपोषण व गरीबी से मुक्त करने के लिये रचनात्मक कार्य कर रहे थे वह पी.यू.सी.एल. के पदाधिकारी के नाते मानवाधिकारों के लिये लड़ रहे थे। सोची समझी साजिश के तहत रायपुर के सत्र न्यायालय द्वारा दंडित करने का मतलब है लोकतांत्रिक स्वरों को चेतावनी देना भी था। सच्चे लोकतंत्र की प्रत्याभूति भारतीय मानवाधिकार संगठन ही देते हैं और पी.यू.सी.एल. जय प्रकाश नारायण द्वारा स्थापित मानवाधिकार संगठन है। यद्यपि कि उच्चतम न्यायालय द्वारा 15 अप्रैल 2011 को दिये अपने निर्णय में यह भी अभिनिर्धारित किया कि ''हमारा देश लोकतांत्रिक राष्ट्र है वह उनके (नक्सलियों के) हमदर्द हो सकते हैं लेकिन वह इतने से दोषी नहीं बन जाते हैं जिस तरह गाँधीवादी साहित्य रखने से कोई गाँधी नहीं बन जाता उसी तरह नक्सली साहित्य रखने से कोई नक्सली नहीं बन जाता है। इसके बावजूद जमानत देते हुये न्यायालय ने कहा ''देशद्रोह का कोई मामला नहीं बनने के बावजूद निर्णय की अमल में लाये जाने को लेकर हम चिंतित हैं।''

अन्य प्रगतिशील न्यायिक निर्णय

मनुभाई बनाम गुजरात राज्य[19]- इस वाद में कहा गया कि चीन के राष्ट्रपति का दर्शन रखना एवं व्याख्या करना एवं अध्ययन करना राजद्रोह नहीं है।

तारा सिंह बनाम पंजाब राज्य[20]- इस वाद में मुख्य न्यायाधीश वेस्टन ने कहा कि- ''भारत अब प्रजातंत्र राज्य है। सरकारें बदल सकती हैं और बदली जा सकती हैं और राज्य नींव को कोई खतरा न होगा। राजद्रोह की विधि जो विदेशी शासन में आवश्यक समझी जाती थी अब परिवर्तन की प्रकृति से ही, जो कि अब हो गया है असंगत है।

राम नन्दन[21] का वाद- इस वाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा कि प्रजातंत्र समाज में सरकार की आलोचना वैध है और उस आलोचना का किसी प्रकार प्रतिह्रास अनुचित होगा।

इन्दिरा दास बनाम असम राज्य[22]- इस वाद में कहा गया कि किसी भी प्रतिबन्धित संगठन का सदस्य होना अपराध नहीं है।

इस प्रकार न्यायालयों द्वारा समय समय पर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को राजद्रोह के संदर्भ में लाने का प्रयास प्रारम्भ से ही शुह्व कर दिया गया था लेकिन संविधान के संशोधन एवं केदार नाथ वाद के निर्णय के द्वारा इस प्रक्रिया पर कुछ समय के लिये विराम लग गया था जिसे पुनः इन्दिरा दास एवं विनायक सेन वाद लाने का प्रयास शुरू कर दिया गया है।

निष्कर्ष

हमारे देश में राजद्रोह जैसे अपराध प्राचीन समय से रहे हैं लेकिन समय और परिस्थितियों के अनुसार दण्डों में परिवर्तन होता रहा है जो उस राज्य के स्वरूप के अनुसार होते थे। भारत में वर्तमान समय के राजद्रोह का अपराध अंग्रेजी उपनिवेश को सफल बनाने के लिये लाया गया था। उस समय राज्य का स्वरूप शान्ति के सिद्धान्त के अनुरूप था अब जबकि हमारा देश स्वतंत्र हो चुका है और अपना एक संविधान भी बना लिया है जिसकी उद्देशिका, भाग 3, भाग 4 के अनुसार भारत कल्याणकारी राज्य है। राजद्रोह जैसे- अपराध की जो अंग्रेजी दासता के समय लायी गयी थी उसके उपबन्धों में परिवर्तन अपरिहार्य है क्योंकि जनता इसके राजद्रोह नाम से ही समझती है कि यह बहुत बड़ा अपराध है जबकि स्वयं भारतीय दण्ड सहिता में इससे बड़े-बड़े अपराध राज्य के संदर्भ में है। यहाँ पर ताशसिंह वाद एवं राम नन्दन का वाद महत्वपूर्ण हो जाता है जिसमें इस धारा 124क (भा.द.सं.) के उपबन्धों में परिवर्तन करने की बात कही गयी थी।

वर्तमान में उच्चतम न्यायालय द्वारा भी विनायक सेन वाद में निर्णय देते हुये कहा गया है कि लोकतांत्रिक मूल्यों में सरकार का विरोध जायज है जिसके बाद इसके संदर्भ में पुनः विचार करने की बात की जा रही है क्योंकि अपराध संहिता में वर्णित है लेकिन सरकार इसका उपयोग राष्ट्रहित के बजाय स्वयं के हित को देखते हुये हथियार के रूप में प्रयोग करती है। कब किसके ऊपर यह आरोप लगाना है तथा किसे अभियोजित किया जाना है यह सरकारें तय करती हैं जो अपने उद्देश्यों या कुछ वर्गों के उद्देश्य को ध्यान में रखकर करती है। विधि आयोग द्वारा अपने 42वें सुझाव में इसके उपबन्धों में ''आशय'' तथा ''जानते हुये'' शब्द जोड़ेने की बात कही गयी थी। यदि ऐसा हो जाता है तो बिना किसी विशेष कारण दर्शायें सरकारें इस धारा का उपयोग नहीं कर सकेगी। सरकारें इसका दुरुपयोग करती हैं विनायक सेन प्रकरण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। एक लोकतांत्रिक कल्याणकारी राज्य में ऐसा होना मुख्य रूप से शासन के व्यवहार के संदर्भ में दुर्भाग्यपूर्ण है।

अतः भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124क में व्यापक बदलाव की आवश्यकता है तथा इसके नाम पर भी विचार किया जाना आवश्यक है जिससे समाज के वंचित लोग सरकारी नीतियों से पीड़ित होने पर अपनी आवाज सफलतापूर्वक उठा सकें।

संदर्भ

1. आई.एल.आर. 19 कलकत्ता 35
2. आई.एल.आर. 22 बम्बई 122
3. आई.एल.आर. 22 बम्बई 152
4. आई.एल.आर. 20 इलाहाबाद 55
5. 11 काक्स 45
6. आर. बनाम अल्ड्रेड 20 काक्स सी.सी. 1
7. 20 काक्स सी.सी. 1
8. उद्वरण, डॉ. रामचन्द्र निगम, दण्ड विधि पृ. 459
9. रामचन्द्र नारायण, आई.एल.आर. 20 बम्बई 160
10. 1897 आई.एल.आर. 22 बम्बई 122
11. 1942 एफ.सी.आर. 38
12. ए.आई.आर 1947 पी.सी. 82
13. रमेश थापर, 1960 सु.को.रि. 574
14. बी.बी. सिंह ए.आई.आर. 1950 एस.सी. 129
15. देवीसरन, ए.आई.आर. 1954 पटना 254
16. रामनन्दन ए.आई.आर. 1949
17. ए.आई.आर. 1962 एस.सी. 955
18. 1972 क्रि.ला.ज. 373
19. ए.आई.आर. 1951 पंजाब 27
20. ए.आई.आर. 1949 इलाहाबाद 101
21. ए.आई.आर. 1949 इलाहाबाद 101
22. 2010(9) Scale 212
23. निगम, आर.सी.- भारतीय दण्ड संहिता, विधि साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
24. लाल रतन, धीरज लाल- भारतीय दण्ड संहिता 2004 बाधवा प्रकाशन नागपुर
25. मिश्रा, सूर्य नारायण- भारतीय दण्ड संहिता 2007- इलाहाबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद
26. गौड़, हरीसिंह- पेनल लॉ आफ इण्डिया 2004 बाधवा प्रकाशन- नागपुर
27. प्रसाद, अनुरुद्ध- विधिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, 2004, ईस्टन बुक कम्पनी, लखनऊ

रीतिकालीन साहित्य में तत्कालीन उर्दू कवियों के समावेश का औचित्य

*प्रो. रामकुँवर राय**

रीतिकाल में उर्दू कवियों के समावेश के औचित्य का प्रश्न प्रसिद्ध आधुनिक हिन्दी आलोचक डॉ. बच्चन सिंह द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' (1996) के प्रकाशन के साथ जुड़ा है। नाम की नवीनता के कारण सन् 1996 के बाद इस इतिहास ग्रन्थ की लगभग आधा दर्जन आवृतियाँ निकल चुकीं, इसलिए मेरा विश्वास है कि हिन्दी साहित्य के अधिकांश पाठक इस ग्रन्थ का अवलोकन भी कर चुके होंगे। इस ग्रन्थ की भूमिका में डॉ. बच्चन सिंह ने कहा है कि ''अपने अन्तर्विरोधों के बावजूद भक्तिकाल के कवियों में धर्मनिरपेक्षता अपनी मूल अर्थवत्ता में मौजूद थी।... रीतिकाल के कवियों में भी धर्मनिरपेक्षता की आहट सुनाई पड़ती है। इसी काल में हिन्दी शैली की उर्दू कविताएँ लिखी जा रही थीं जिनकी भाषा खड़ी बोली और आत्मा सेक्यूलर है। उन्हें भी इस इतिहास में स्थान दिया गया हैं।'' ग्रन्थ के प्रारंभिक खण्ड– हिन्दी भाषा, जाति और साहित्य-में उन्होंने लिखा है– ''हिन्दी और उर्दू एक ही जाति का साहित्य है या दो जातियों का? हिन्दी साहित्य के इतिहास में उर्दू साहित्य को शामिल किया जाय या नहीं? इस बहस के पीछे सभी साम्प्रदायिक तत्त्वों और हिन्दी-उर्दू के कुछ अकादमिशियनों का हाथ है। उर्दू शब्द का आविष्कार तो किसी समय 19वीं शताब्दी में हुआ। खड़ी बोली हिन्दी-उर्दू कविता की भाषा-प्रयोग-विधि में अन्तर अवश्य है। पर यह शैलीगत है, भाषागत नहीं।... व्याकरणिक दृष्टि से दोनों एक हैं। अतः उर्दू साहित्य के इतिहास को भी हिन्दी साहित्य के अंग के रूप में रखना तर्कसंगत और वैज्ञानिक है।'' डॉ. बच्चन सिंह जी को हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में उर्दू साहित्य को स्थान देना था, इसलिए उन्होंने उन तमाम तर्कों को अपने पक्ष में रखा जिनसे तमाम लोगों का सहमत होना आसान नहीं है। आश्चर्य है, इस इतिहास-ग्रन्थ के प्रकाशन के सोलह वर्षों बाद भी इतने गम्भीर मुद्दे पर किसी आलोचक ने अभी तक दृष्टि डालना आवश्यक नहीं समझा। सम्भव है, यदि किसी को यह प्रश्न मथा भी होगा तो किसी कारणवश टाल गया होगा। वैसे आज की हिन्दी आलोचना के दौर में हिन्दी साहित्य का अतीत (प्राचीन या मध्यकाल) घोर उपेक्षा से गुजर रहा है। उसकी तरफ दृष्टि डालना आलोचकों को अनद्यतन (Out of Date) लग रहा है। हाँ, गाहे-बगाहे कूड़ेदान में फेंकने की चर्चा करनी है तो इस काल की चर्चा जरूर हो जाती है, अस्तु। ''हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास'' इतिहास-ग्रन्थ है। साहित्य का इतिहास-ग्रन्थ किसी भी भाषा-अध्येता के लिए उपयोगी ही नहीं, दिशानिर्देशक एवं उस भाषा के साहित्य के सूचनात्मक ज्ञान के लिए अतिमहत्त्वपूर्ण होता है। यदि उसमें ग्रथित सामग्री विवादास्पद हो तो उसकी गहरी छानबीन उस भाषा के विद्वान् अध्येताओं एवं आलोचकों द्वारा कर ली जानी चाहिए, अन्यथा उस भाषा की भावी पीढ़ी के साहित्य अध्येताओं के दिग्भ्रमित होने की पूरी सम्भावना रहती है जिसका दुष्प्रभाव दूरगामी और ऐतिहासिक होता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में-विशेषतः रीतिकाल में-उर्दू कवियों का समावेश औचित्यपूर्ण है या नहीं, इस प्रश्न पर सामान्य तर्कों के आधार पर विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न पर तथ्यों का ठोस आधार ग्रहण कर गम्भीरता से विचार करना अपेक्षित है। सर्वप्रथम तो हमें इस बात पर दृष्टिपात करना होगा कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की दीर्घ परम्परा में उर्दू साहित्य को कहाँ-कहाँ सम्मिलित किया गया है? कहीं ऐसा तो नहीं कि पूरे हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में डॉ. बच्चन सिंह ही अकेले ऐसे इतिहासकार हैं जिन्होंने अपने 'दूसरा इतिहास' में उर्दू साहित्य को स्थान दिया हो? वस्तुतः बात यही सच है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रथम प्रयास एक फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ने किया। फ्रेंच में लिखा गया उनका ग्रन्थ 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' है। उन्होंने ऐंदुई (हिन्दुई या हिन्दी) तथा ऐंदुस्तानी (हिन्दुस्तानी) दो भाषाओं का जिक्र किया है। उनके अनुसार योरोपीय विद्वानों द्वारा हिन्दुस्तानी उस भाषा को कहा गया है जो प्रायः फारसी लिपि में लिखी जाती है। हिन्दुओं द्वारा देवनागरी लिपि में 'ऐंदुई' का लेखन होता है। इस प्रकार वे हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का इतिहास लिख रहे थे, अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में विस्तार से हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों एवं लेखकों की जीवनियाँ, ग्रन्थ-विवरण और उद्धरण प्रस्तुत किये। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण दो भागों में 1839 ई. तथा 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था। यह पहला और अन्तिम हिन्दी साहित्य के इतिहास का ग्रन्थ है जिसमें हिन्दी कवियों के साथ उर्दू कवियों का जिक्र हुआ और जो ग्रन्थ के नामकरण के लिहाज से स्वाभाविक भी था। वैसे हिन्दी कवियों के साथ इतर भाषाओं के कवियों का घाल-मेल इस ग्रन्थ की ऐसी त्रुटि है जिसके कारण इसे हिन्दी साहित्य का इतिहास मानने में संकोच होता है। इसके पश्चात् शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज' (सन् 1883 ई.) आता है जिसमें लगभग एक हजार भाषा कवियों का जीवनचरित तथा उनकी कविताओं का उद्धरण दिया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का

*पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी-2

तीसरा ग्रन्थ जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'दि माडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर आफ हिन्दुस्तान' (सन् 1888 ई.) प्रकाश में आया जिसे सच्चे अर्थों में हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' नाम से ही किया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है कि हिन्दी साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र-निर्धारण किया गया है और स्पष्ट रूप से ग्रन्थ की भूमिका में संकेत कर दिया गया है कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न ही अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू को। इसके पश्चात् मिश्रबन्धुओं का 'मिश्रबन्धु विनोद' हिन्दी जगत् के सामने आया जो चार भागों में विभक्त है। इसके तीन भाग 1913 ई. में प्रकाशित हुए और चतुर्थ भाग 1934 ई. में। इसमें लगभग पाँच हजार हिन्दी कवियों को सम्मिलित किया गया। इसमें हिन्दी के अनेक अज्ञात कवियों को प्रथम बार प्रकाश में लाया गया तथा उनके सापेक्षिक महत्त्व-निर्धारण का यत्न भी किया गया। कवियों के इतने बड़े समूह में कहीं भी उर्दू कवियों को ग्रहण नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में इस ग्रन्थ से भरपूर सहायता ली और इस बात को उन्होंने अपने ग्रन्थ की भूमिका में स्वीकार भी किया। 1929 ई. में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' प्रकाश में आया जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था। आचार्य शुक्ल ने इस ग्रन्थ में सम्यक् रूप से साहित्य के इतिहास की अवधारणा को स्पष्ट किया और उसे साहित्यालोचन से पृथक् रूप में ग्रहण करते हुए अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को मूल प्रवृत्ति के आधार पर चार सुस्पष्ट खण्डों में विभाजित किया जिससे पाठक में किसी शंका और सन्देह के लिए स्थान नहीं रह जाता। आज तक लगभग उसी परम्परा का निर्वाह हिन्दी में हो रहा है। अपनी अतिसरलता और स्पष्टता तथा पर्याप्त सूचनात्मक तथ्यों के उपस्थापन के कारण आज भी यह इतिहास ग्रन्थ हिन्दी अध्येताओं का कण्ठहार बना हुआ है। इसमें कहीं दूर-दूर तक उर्दू कवियों का नाम हिन्दी साहित्य के साथ नहीं लिया गया है। आगे जितने भी हिन्दी साहित्य के इतिहास के रूप में कार्य हुए इसको आधार बनाकर ही। कुल मिलाकर यह हिन्दी साहित्य का मुकम्मल वैज्ञानिक पहला और श्रेष्ठ इतिहास ग्रन्थ है। यदि कोई विद्वान् आचार्य शुक्ल के ही इतिहास-ग्रन्थ का पूरा साँचा ग्रहण कर नवीनता लाने के चक्कर में कुछ अतार्किक और भ्रमात्मक तथ्यों का समावेश कर अपने ग्रन्थ को 'दूसरा इतिहास' नाम देता है तो किया ही क्या जा सकता है? वस्तुतः 'दूसरा इतिहास' लिखने के लिए 'दूसरा आचार्य शुक्ल' होना पड़ेगा जो हिन्दी में दूर-दूर तक दिखाई नहीं पड़ता, अस्तु।

हिन्दी साहित्य में उर्दू कवियों के समावेश के औचित्य-निर्धारण हेतु उर्दू भाषा के स्वरूप और हिन्दी से उसकी भेदकता के विषय में भी गहराई से विचार कर लेना अपेक्षित है। 'उर्दू' शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है जिसका वास्तविक अर्थ है 'शाही शिविर'। भारत में यह शब्द बाबर के साथ आया। यह शब्द भाषा के अर्थ में शाहजहाँ के समय 'रेखता' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ। 'रेखता' का आविष्कार खुसरू ने किया था। 'रेखता' भाषा की उस शैली को कहते थे जिसमें फारसी ख्याल हिन्दी के मुताबिक हों और जिसमें दोनों जबानों के सरूद एक राग और एक ताल में बँधे हों। यह छन्द या गीत की एक नयी शैली थी जिसमें फारसी और हिन्दी मिसरे ताल और राग के एतबार से छन्द होते थे, यथा– ''ज़ेहाल मिस्कीं मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ'' (खुसरू)। धीरे-धीरे छन्द से निकलकर 'रेखता' शब्द ऐसी पद्यशैली के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसमें दो भाषाओं का मिश्रण हो । दक्खिनी कवियों ने अपनी भाषा को हिन्दी, हिन्दवी, दकनी, गूजरी कहा । जब पद्य की भाषा में फारसी, तुर्की मिलने लगीं, तब इस प्रकार के पद्य के लिए 'रेखता' शब्द का प्रयोग होने लगा। यही अर्थ लेकर 'रेखता' दकन से उत्तर आया और इसी रेखता को उत्तर के फारसीदाँ मुसलमान कवियों ने 'जबान उर्दू-ए-मुअल्ला' बना दिया। रेखता और उर्दू कुछ दिनों तक समानार्थक से चले। बाद में 'उर्दू' शब्द ही प्रचलन में रह गया और हातिम (1746 ई.), मीर (1752 ई.), सौदा, दर्द, गालिब आदि सभी ने इस शब्द का प्रयोग अपनी भाषा के लिए किया, अतः डॉ. बच्चन सिंह जी का यह कहना कि ''इस शब्द का आविष्कार किसी समय 19वीं शताब्दी में हुआ,'' तथ्य से परे है।

वस्तुतः उर्दू सामान्य रूप से खड़ी बोली की एक शैली के रूप में ही विकसित हुई जिसमें फारसी-अरबी शब्दों का बाहुल्य है और जिसकी लिपि फारसी है। विकसित होकर यह शिक्षित मुसलमानों की साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। आज यह पाकिस्तान की राजभाषा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू दोनों प्रायः समान होते हुए भी अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण, कतिपय व्याकरणिक विभेदकता, फारसी प्रभावित वाक्य-विन्यास, शब्द समूह, लिपि की भिन्नता तथा शास्त्र के अनुशासन के स्तर पर मध्यकाल में ही एक दूसरे से अलग स्थापित हो गयीं। आज केवल यह कहकर कि उर्दू हिन्दी की एक शैली है, काम चलने वाला नहीं है, अन्यथा हिन्दी का विस्तार पाकिस्तान तक ले जाना होगा।

इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' की भूमिका में डॉ. श्यामसुन्दरदास ने उर्दू भाषा पर विचार करते हुए कहा कि उर्दू का आकार-प्रकार तो सर्वथा खड़ी बोली का था और उसका प्रायः व्याकरणिक अनुशासन भी खड़ी बोली का ही था, पर राजाश्रय पाकर इस भाषा ने अपना शब्द भण्डार तुर्की, अरबी, फारसी से समृद्ध किया और मुसलमानों से पाली-पोसी जाकर तथा उनके आदर

और स्नेह की भाजन होकर इसने उनका अनुसरण करने में ही अपने जीवन का साफल्य समझा। इसी क्रम में उन्होंने हिन्दी और उर्दू के विभेदक चार बिन्दुओं का भी उल्लेख किया–

1. उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग हुआ।
2. उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बढ़ा, जैसे– बहुवचन का रूप प्रायः फारसी के अनुसार होता है।
3. सम्बन्ध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिन्दी के अनुसार न होकर फारसी के शब्दों या चिह्नों द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं।
4. वाक्य-विन्यास के स्तर पर हिन्दी में पहले कर्ता तब कर्म और अन्त में क्रिया होती है, पर उर्दू में इस क्रम में उलट-फेर होता रहता है।

यह तो रहे संक्षेप में हिन्दी और उर्दू भाषा के कुछ विभेदक बिन्दु। वस्तुतः बारीकी से देखा जाय तो उर्दू का व्याकरणिक ढाँचा मात्र हिन्दी का था। क्रियापद, कारक, प्रत्यय, अव्यय और सर्वनाम के अतिरिक्त इसमें हिन्दी का और कुछ नहीं। संज्ञा शब्दों का पूरा भाण्डार, विशेषण सब कुछ तो फारसी का है। यहाँ अरबी फारसी के बहुवचन की तहजीब का चलन है, जैसे– गुल (फूल) का बहुवचन गुलहा, मकान का मकानात, हाकिम का हुक्काम आदि।

जहाँ तक हिन्दी और उर्दू की साहित्य-रचना के अनुशासन का प्रश्न है, वह तो बिल्कुल अलग है। हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक-सांस्कृतिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण काव्यवस्तु के स्तर पर पर्याप्त भिन्नता तो है ही, प्रतीकों और उपमानों में भी भिन्नता दिखायी देती है, जैसे- हिन्दी में दानी के लिए कर्ण, दधीचि आदि, पर उर्दू में हातिमताई; हिन्दी में सुन्दर के लिए कामदेव, पर उर्दू में युसुफ। प्रेम-वर्णन में घृणामूलक शब्दों, मुहावरों एवं उपमानों का प्रयोग इसे हिन्दी की प्रकृति से अलग कर देता है। उर्दू में शैली तो अलग है ही, छन्दशास्त्र भी बिल्कुल अलग है। यहाँ तो गद्य कहानियों में तुकबन्दी चलती है। गजल (मुक्तक काव्य का एक भेद जिसका प्रधान विषय प्रेम होता है) की प्रायः प्रत्येक पंक्ति सूक्ति होती है। यहाँ पूरी गज़ल में क़ाफ़िया (अन्त्यानुप्रास), रदीफ़ (वह शब्द जो शेर, गज़ल या कसीदे में क़ाफ़िये के पीछे बार-बार आये) छन्द के अन्तिम तुक होते हैं। यहाँ अलग-अलग मिसरे (शेर का आधा भाग) होते हैं ।

प्रत्येक भाषा का काव्य कुछ विशेष ढंग से गढ़ा हुआ होता है। किसी भाषा की कविता के पूरे आस्वादन के लिए काव्यशास्त्र सम्बन्धी कुछ आधारभूत बातों (काव्य विवेचन के सिलसिले में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों, काव्य रूपों, गुण-दोषों आदि) का जानना जरूरी होता है। उर्दू के पारिभाषिक शब्दों में प्रमुख रूप से ये हैं– फ़र्द, रदीफ, क़ाफ़िया, गिरह, मतला, मकता, तखल्लुस, मुसल्लस, मुसद्दस, मुस्तजाद आदि। काव्य रूपों में गज़ल, कतआ, रूबाई, कसीदा, मसनवी, वासोरक्त का ज्ञान आवश्यक है। उर्दू काव्य के गुण-दोषों में फ़साहत, बलाग़त, सादगी या सफाई, रवानी या प्रवाह, मूसीकियत, शोखी, शुतुरगुरबा, फक्के-इजाफत, गराबत आदि को जानना भी जरूरी है। इसके साथ ही चूँकि उर्दू साहित्य की लगभग सारी मानसिक आधारभूमि ईरानी है, अतः फारसी के माध्यम से ईरान की इस्लामी धार्मिक मान्यताओं, दन्तकथाओं और लोककथाओं का आगमन उर्दू में हुआ। वहीं से तमाम प्रतीकों एवं उपमानों का भी ग्रहण हुआ। इनसे सम्बन्धित शब्दों, जैसे– अज़ल, अयाज़, आदम, हजरत इब्राहीम और इस्माईल, कारुन क़ैस या मजनूँ, ख़िज्र, जमशेद, जाहिद, जुलेखां, मूसा, नूह, नौशेरवाँ, युसुफ, रुस्तम, शैतान, साक़ी, हातिम, हुमा, हूर आदि- का ज्ञान न हो तो उर्दू साहित्य में प्रवेश करना मुश्किल होगा। क्या हिन्दी साहित्य के पाठकों से इन काव्यानुशासनों की जानकारी की अपेक्षा करना मुनासिब है? सामान्य व्याकरणिक ढाँचा को छोड़कर जिस साहित्य का पूरा अनुशासन हिन्दी से अलग हो उसे हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत समेटना अनर्थ है। आधुनिक युग में हिन्दी और उर्दू के पारस्परिक आदान-प्रदान हुए अवश्य, जैसे यदि हिन्दी ने उसे देश की परम्परा से प्राप्त कुछ प्रतीक, उपमान तथा सन्दर्भ दिये तो उसने हिन्दी को रवानगी और बोधगम्यता प्रदान की, पर यह सब कुछ होते हुए भी उर्दू भाषा और साहित्य का अपना व्यक्तित्व उसी प्रकार अलग है और अलग बना रहेगा जिस प्रकार देश की अन्य प्रमुख भाषाओं का निजत्व एक देश, एक संस्कृति और करीब-करीब समान वातावरण के बीच बना हुआ है। देश में धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं एवं उनके साहित्य के वजूद को अलग ही बना रहने दें। उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानकर उन्हें एक करने की न तो भूल करनी चाहिए और न इस दिशा में साहस दिखाना चाहिए। आज जब भारतीय संविधान के अनुच्छेद 344(1) और 351 के अन्तर्गत उर्दू भारत की हिन्दी सहित अन्य 15 (जिनकी संख्या अब बढ़कर कुल 22 हो गयी है) भाषाओं की अष्टम अनुसूची में परिगणित है तब इस प्रकार के विवाद को हिन्दी साहित्य के इतिहास के स्तर पर उठाकर सामान्य साहित्य-अध्येता में भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न करना उचित नहीं है। उर्दू का वजूद जिसप्रकार आज भाषा और साहित्य के स्तर पर अन्य भाषाओं से नितान्त अलग है उसी प्रकार मध्ययुग में भी शैली की दृष्टि से हिन्दी से तमाम समानताओं के बावजूद उसका वजूद हिन्दी से बिल्कुल अलग रहा। मीर, सौदा, मिर्जा गालिब आदि की रचनाओं को समझना हिन्दी पाठक के लिए आसान नहीं है। इन्हें ठीक ढंग से वही समझ सकता है जिसका अरबी-फारसी भाषाओं पर पूर्ण अधिकार हो। वैसे हिन्दी अध्येता से

यह उम्मीद क्यों की जानी चाहिए कि वह गालिब को पढ़ने के लिए फारसी कलाम का गहन अध्ययन करे और अरबी-फारसी के पूरे शब्द-भाण्डार और काव्यानुशासन का पण्डित बने। वैसे मध्यकाल में आगरा और दिल्ली के जिन दरबारों में इन फारसी कवियों की उपस्थिति थी वहाँ उनके साथ ही चिन्तामणि, बिहारी जैसे भाखा (हिन्दी) कवि और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे संस्कृत कवियों की भी उपस्थिति थी। इन सभी कवियों की काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन दरबारों में प्रतिस्पर्धात्मक रूप में होता था और सबका आस्वादन 'हिन्दी जाति' के विदग्ध काव्यरसिक पूरे मनोयोग के साथ करते थे। यदि कोई मध्यकाल के 'हिन्दी जाति के साहित्य का इतिहास' लिख रहा हो तो वह भाखा (हिन्दी) कवियों के साथ ही फारसी और संस्कृत कवियों का भी अपने ग्रन्थ में उल्लेख कर सकता है, पर यदि कोई 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिख रहा हो (वह इतिहास पहला हो या दूसरा) तो उसे भाखा कवियों (हिन्दी कवियों) तक ही अपने को समेटे रखना औचित्यपूर्ण है, अन्यत्र दृष्टिपात करना अनर्थ पैदा करना होगा।

यहाँ यह भी संकेत कर देना आवश्यक है कि हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास में सैकड़ों कवियों को अपने आगोश में समेटने वाला रीतिकाल जितना विवादास्पद रहा है उतना कोई अन्य काल नहीं । काल-सीमा, नामकरण, कवि कोटियाँ आदि साधारण पक्षों से लेकर काव्य के वर्ण्य और अभिव्यंजना जैसे महत्त्वपूर्ण पक्षों पर हिन्दी आलोचकों में जितना विवाद इस काल को लेकर रहा है उतना किसी अन्य काल को लेकर नहीं। आलोचकों का एक बहुत बड़ा समूह (जिसमें आचार्य शुक्ल भी बहुत दूर तक शामिल रहे हैं) जहाँ इसका प्रशंसक रहा है और इस काल को कला की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग मानने का भी पक्षधर रहा है, वहीं प्रगतिशील आलोचक वर्ग ने इस काल के कवियों को सकल अवगुणों की खान और सहज प्रतिभा-हीन बताया। वैसे आज भी हिन्दी काव्यरसिकों की जुबान पर तुलसी के बाद सहज रूप से रचने-बसने वाले कवि रीतिकाल के ही हैं। आज भी उनके दोहे, कवित्त और सवैये जिस भाव से लोग सुनते-सुनाते हैं वह देखते ही बनता है। वस्तुतः प्रगतिशील आलोचकों जैसी टिप्पणियों की अपेक्षा तो उन्हीं से की जा सकती है जो दो-चार कवियों के कुछ छन्दों को पढ़कर ही किसी काल पर अपना निर्णय दे देते हैं। अब तो आलोचकों का यही वर्ग हिन्दी आलोचना पर हावी है। परिणामतः बिना सोचे-समझे रीतिकालीन साहित्य पर कोई भी अनौचित्यपूर्ण टिप्पणी कहीं भी सुन लीजिए। वास्तविकता तो यह है कि ब्रजभाषा के कवित्त और सवैयों से दूर छिटके हुए यदि ऐसे तथाकथित विद्वान् आलोचकों को घनानन्द का एक सामान्य-सा भी छन्द पाठ और व्याख्या के लिए दे दिया जाय तो बगलें झाँकने लगेंगे। जो हो, पहले से ही विवादित कविता के इस महत्त्वपूर्ण कालखण्ड में उर्दू साहित्य के एक और अनौचित्यपूर्ण और अतार्किक अध्याय को जोड़कर विवाद की परिधि को और अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है।

●

आई.ए. रिचर्ड्स और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि

रंजना पाण्डेय एवं प्रो. बलिराज पाण्डेय***

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया था। आधुनिक युग के तीन समीक्षकों क्रोचे, इलियट और आई.ए. रिचर्ड्स के समीक्षा सिद्धातों का भी शुक्ल जी ने गंभीर अध्ययन किया था। जिस प्रकार आई.ए. रिचर्ड्स अपनी व्यवहारिक समीक्षा में विश्लेषण और व्याख्या की पद्धति अपनाने हैं, उसी प्रकार शुक्ल जी भी अपनी व्यवहारिक समीक्षा में विश्लेषण, तर्क और व्याख्या की पद्धति अपनाते हैं।

आई.ए. रिचर्ड्स ने अपने आलोचना कर्म में अनुभूतियों का ज्ञान, मनोभावों का सम्प्रेषण और इन दोनों के मूल्यांकन को प्रमुखता दी। रिचर्ड्स आलोचना के विषय में अनेक प्रश्नों को पाठक वर्ग के सामने रखते हैं। जैसे-कविता पढ़ने पर उनकी अनुभूति का मूल्य क्या है? एक अनुभूति दूसरी अनुभूति से क्यों श्रेष्ठ है? एक चित्र की तुलना में दूसरे चित्र को क्यों पसंद किया जाए? संगीत कैसे सुना जाय कि उसमें व्यतीत क्षण सर्वाधिक मूल्यवान सिद्ध हो? किसी कलाकृति के सम्बन्ध में एक विचार दूसरे विचार की अपेक्षा क्यों अच्छा नहीं माना जाता? x x x मूल्य क्या है? इस तरह के प्रश्नों के साथ रिचर्ड्स अपनी जिज्ञासा को प्रकट कर रहे थे, एवं यह भी जाहिर कर रहे थे कि आज तक आलोचना जगत में इन विषयों पर खुलकर विचार नहीं किया गया है। ऐसा भी नहीं है कि रिचर्ड्स के सिद्धान्त इन मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने में सफल ही रहे हैं, लेकिन हाँ इसे एक सफल प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। रिचड्र्स ने लिखा है– मेरे विचार में आलोचना अनुभूतियों के पृथक्करण तथा मूल्यांकन का प्रयास है यह हम तब तक नहीं कर सकते जब तक अनुभूतियों के स्वरूप का कुछ ज्ञान न हो अथवा मूल्यांकन एवं सम्प्रेषण के सिद्धान्त न हो।''[1]

मनोविकार से सम्बन्धित निबन्धों के विषय में आचार्य शुक्ल के विचार किसी सिद्धान्त को लेकर नहीं लिखे गये थे, बल्कि समाज के मनोविज्ञान, तथा सामाजिक व्यवहारों को लेकर लिखे गए हैं। आचार्य शुक्ल ने तो मनोविश्लेषणात्मक विचारों की तरह न मनोभावों को सिद्धान्तों में बाँटा न क्लिष्टता से प्रस्तुत किया। सरल एवं व्यवहृत भाषा शैली के साथ-साथ लोक से उठाकर जो उदाहरण प्रस्तुत किये, वह सबसे महत्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल के विचार किसी एक परिवेश की देन नहीं, न ही किसी एक साहित्य की देन है। आचार्य शुक्ल ने भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य को आत्मसात किया तथा अपने विचार को अभिव्यक्ति दी।

''आचार्य शुक्ल ने एक ओर भाव विषयक परम्परागत भारतीय चिन्तन को वैज्ञानिकता और प्रामाणिकता प्रदान करने के उद्देश्य से उसको आधुनिक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आलोक में विवेचित ओर संस्कारित करते हुए उससे समर्थित रूप में प्रस्तुत किया है, तो दूसरी ओर उनका यह विवेचन भारतीय और पाश्चात्य भावचिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए भारतीय चिन्तन की शक्ति और पाश्चात्य चिन्तन की सीमाओं को भी उद्घाटित करते है। सामग्री और विवेचन की प्रामाणिकता के लिए यह सर्वथा आवश्यक भी था। वैज्ञानिकों का नामोल्लेखपूर्वक उनके विचार उद्धृत करने का भी यही उद्देश्य था।''[2]

चिन्तामणि में संकलित निबन्धों और 'रस-मीमांसा' के निबंधों में उपलब्ध भाव और विचार में आचार्य शुक्ल शैंड, मैकडूगल, तथा हर्बट स्पेन्सर, डार्विन आदि पाश्चात्य मनोवेत्ताओं से प्रभावित और प्रेरित हैं।

रिचड्र्स के सिद्धान्तों की बात करें तो उनके आलोचना का आधार मनोवैज्ञानिक प्रभाव की मूल्यपरकता तथा काव्य-भाषा की प्रकृति की पहचान है। रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिकता को लेकर अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रगट किया। रिचर्ड्स की आलोचना पर पीकॉक एवं मैथ्यू आर्नल्ड का प्रभाव कुछ हद तक देखा जा सकता है। पीकॉक ने वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धातों द्वारा यथार्थ के तर्कपूर्ण और क्रमबद्ध विवेचन को तरजीह देते हुए सवाल उठाया था कि ''क्या कवि इस सभ्य समाज में अर्ध-बर्वर नहीं प्रतीत होता? उन्हें कवि बीते हुए जमाने का प्राणी नजर आया। रिचड्र्स ने पीकॉक के मत को स्वीकार नहीं किया। विज्ञान के समकक्ष काव्य की उपयोगिता की पड़ताल करना रिचड्र्स को आवश्यक लगा।

रिचड्र्स ने न सिर्फ काव्य की मूल्यवत्ता और उपयोगिता को बताया बल्कि उससे अधिक महत्वपूर्ण काव्य के भावोद्गार की व्याख्या की। रिचर्ड्स ने मनोवैज्ञानिकता के विषय में 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में पाँच अध्यायों को (11 से 14) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विश्लेषण से जोड़ा। रिचर्ड्स ने कविता की संप्रेषणीयता को महत्वपूर्ण माना। सम्प्रेषण, व्यक्ति तब तक नहीं कर सकता, जब तक स्वयं में उस बात की अनुभूति न की गई हो। अनुभूति का स्रोत प्रायः जीवनानुभूति

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ही रही है। कलानुभूति को रिचर्ड्स ने सौन्दर्यानुभूति से जोड़ा, 'सौन्दर्य' का पहला तर्कसम्मत विवेचन कांट ने किया था। इसके बाद तो साहित्य में यह अलग-अलग तरह से ही परिभाषित होने लगा।

रिचर्ड्स ने कलानुभव को जीवनानुभवों के साथ जोड़कर अन्य अनुभवों के साथ उसकी मूल्यवत्ता सिद्ध की। इस तरह की समस्या को पहली बार ऑग्डेन और वुड के साथ रचित 'फाउंडेशन ऑफ एस्थेटिक्स' (1922) में उठाया गया। सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या के लिए रिचर्ड्स ने 'साइनेस्थिसिस शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ है, ''हमारे मनोवेगों का संतुलन'' रिचर्डस ने अपने आलोचना कर्म में अर्थविज्ञान, मनोविज्ञान, माानवविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र आदि को महत्व दिया तथा कहा कि आलोचना का आधार अर्थविज्ञान एवं मनोविज्ञान ही है। आलोचना के विषय में रिचर्ड्स कहते हैं ''मेरे विचार में आलोचना अनुभूतियों के पृथक्करण तथा मूल्यांकन का प्रयास है। यह हम तब तक नहीं कर सकते जब तक अनुभूतियों के स्वरूप का कुछ ज्ञान न हो अथवा मूल्यांकन एवं सम्प्रेषण के सिद्धान्त न हों।'' किसी भी रचना की आलोचना करने से पूर्व सर्वप्रथम रचना एवं रचना के रचे जाने के समय में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों को भी सही-सही जानना अत्यधिक आवश्यक होता है। 'मूल्यांकन' की बात जब हम करते हैं तो किसी एक परिप्रेक्ष्य को देखते हुए रचना का मूल्यांकन नहीं हो सकता, बल्कि उसके सम्पूर्ण तत्वों को देखते हुए रचना का मूल्यांकन महत्वपूर्ण हो जाता है। रिचर्ड्स आलोचना के विषय में कहते हैं- ''आलोचनात्मक टिप्पणियाँ मनोवैज्ञानिक टिप्पणियों की शाखामात्र हैं और मूल्य की व्याख्या के लिए न तो नैतिक विचारो की आवश्यकता है और न तात्विक विचारों की।'' [3] रिचर्ड्स के लिए मनोविज्ञान ही विज्ञान है, क्योंकि दूसरा कोई विज्ञान साहित्यालोचन में उपयोगी नहीं हो सकता। ऐसा कहना कुछ हद तक उचित नहीं होगा, क्योंकि विज्ञान में चाहे वह भौतिक, रासायनिक या जीव आदि विज्ञान हों, अपनी उपयोगिता एवं महत्ता की दृष्टि से विज्ञान के प्रत्येक विभाग महत्वपूर्ण हैं। साहित्य को केवल भावनाओं के पैमाने पर या मनोभावों के पैमाने पर रखकर देखना उचित नहीं। साहित्य को वैज्ञानिक दृष्टिसे देखने एवं समझने की जरूरत हैं।

रिचर्ड्स ''केवल अनुभूतियों को कविता कहते हैं[4] ''जहाँ आचार्य शुक्ल कविता की परिभाषा देते हुए कहते हैं ''हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई हैं, उसे कविता कहते हैं।''[5] हृदय की मुक्तावस्था अर्थात् जहाँ हृदय राग, द्वेष, स्वार्थ आदि से परे होकर लोक में विलीन होकर अपनी अभिव्यक्ति करे।

डॉ. रिचर्ड्स काव्य को वैयक्तिक मनोविज्ञान के आधार पर परिभाषित करते हैं, जबकि शुक्ल जी सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर रिचर्ड्स की काव्य-परिभाषा भले ही शुक्ल जी की तुलना में ऊपर से अपूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु वैज्ञानिक कसावट के कारण वह असंगत प्रतीत नहीं होती। ''काव्य के प्रभाव और प्रयोजन के सम्बन्ध में रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है– 1. कला अन्य मानव-व्यापारों से सम्बद्ध है, उनसे पृथक अथवा भिन्न नहीं, 2. मानव-क्रियाओं में कनला सर्वाधिक मूल्यवान है, और 3. किसी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह कहाँ तक मनोवेगों में सन्तुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है।''[6]

रिचर्ड्स के आलोचना क्षेत्र में मूल्य सिद्धान्त एवं सम्प्रेष्ण सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। मूल्य-सिद्धान्त को लेकर रिचर्ड्स ने कहा 'कोई भी वस्तु, जो इच्छा को संतुष्ट करती है वह मूल्यवान हैं।'' रूचि एवं आवश्यकता के अनुसार कोई वस्तु या तत्व हमारे लिए उपयोगी या प्रिय है तो वही उस वस्तु का मूल्य है। जह्वरी नहीं एक वस्तु जो आप के लिए मूल्यवान हो वह दूसरे के लिए भी महत्व रखती हो। मूल्य सिद्धान्त के आधार पर कविता के संरचनात्मक पक्ष पर ध्यान नहीं दिया जाता है। रिचर्ड्स के मतानुसार ''कविता तो केवल अनुभूति है; अतः अनुभूति के अतिरिक्त किसी वस्तु की चर्चा अप्रासंगिक और निरर्थक है।''[7]

अनुभूतियों को प्रभावी ढंग से अभिव्यंजित करना ही सम्प्रेषण है। रिचर्ड्स के अनुसार, ''सम्प्रेषण का अर्थ न तो अनुभूति का यथावत् अंतरण है, न दो व्यक्तियों के बीच अनूभूति का तादात्म्य, बल्कि कुछ अवस्थाओं में विभिन्न मनों की अनुभूतियों की अत्यन्त समानता ही सम्प्रेषण है।''[8] रिचर्ड्स जिसे सम्प्रेषण कहते हैं, वह भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण का ही एक रूप है।

आचार्य शुक्ल ने भी प्राचीन भारतीय रस-सिद्धान्त को नवीन मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित विवेचित करने का प्रयास किया, जिसमें उन्हें शैंड, रिचर्ड्स आदि से प्रेरणा तथा अपने मत का समर्थन प्राप्त हुआ। आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि तथा रसमीमांसा में साधारणीकरण पर विचार करते हुए कहा, ''जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता है, कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके-तब तक उसमें रसोबोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।'[9] ''साधारणीकरण प्रभाव' का होता हैं, 'सत्ता' या व्यक्ति का नहीं।[10]

रिचर्ड्स सम्प्रेषण के तीन पक्ष-अनुभूति, कलाकार तथा सहृदय मानते हें, तो आचार्य शुक्ल पूर्ण रस की स्थिति में हृदयों के समन्वय की बात उठाते हुए कहते हैं, ''आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि को होनी चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में।''[11] प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने सम्बन्धी अपनी अवधारणा की पुष्टि भी वे रिचर्ड्स के मत से करते हैं– ''आजकल के बहुत गम्भीर अंगरेज समालोचक

रिचर्ड्स को भी कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास-सा हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सम्प्रेषण और साधारणीकरण विषयक रिचर्ड्स और आचार्य शुक्ल की मान्यताओं में पर्याप्त साम्य विद्यमान है दोनों की वैचारिक पृष्ठभूमि तथा प्रस्तुतीकरण की भिन्न शैली ही इनके मतों में अन्तर उत्पन्न करती हैं।

हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और रिचर्ड्स की आलोचना दृष्टि में बहुत समानताएं है एवं पाश्चात्य आलोचना में रिचर्ड्स से आचार्य शुक्ल प्रभावित भी है। आचार्य शुक्ल उन सभी मतों का विरोध करते हैं जो जीवनानुभव एवं व्यावहारिकता न हो, जो केवल सौन्दर्यानुभूति देने वाली तथा इन्द्रियों को सुख देने वाली हों। आचार्य शुक्ल जहाँ लोक, लोकरक्षा, लोकरंजक, लोकभाव, लोकजीवन, लोककर्म, लोक कल्याण आदि की बात करते हैं वहीं साहित्य को लोक की कसौटी मानते हैं, रिचर्ड्स भी साहित्य को सीधे जीवनानुभूति से जोड़कर देखते हैं, एवं कलावाद (विशेष रूप से ब्रैडले के कलावाद) के कट्टर विरोधी है। डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है– ''रिचर्ड्स और शुक्ल जी दोनों ही काव्य की नैतिकता (मॉरल) से सम्बद्ध करके देखते हैं। दोनों ही के विचार से वह मन को विशदीभूत और परिष्कृत करता है।[12]

आचार्य शुक्ल की आलोचना का आधार रस एवं लोक है। रसमीमांसा एवं अपने अन्य व्यावहारिक ग्रन्थों तथा चिन्तामणि में संकलित निबन्धों में देखा जा सकता है। शुक्ल जी के रस-विवेचन में यूं तो स्पेंसर, एंजिल, मैक्डूगल, रिचर्ड्स, एडमंड आदि अनेक, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का उल्लेख तथा छाया विद्यमान हैं, परन्तु जिनका सर्वाधिक स्पष्ट प्रभाव उनकी मान्यताओं पर लक्षित होता है वे हैं, एफ. शैंड तथा आई.ए. रिचर्ड्स। अपने लेखन में आचार्य शुक्ल ने जहाँ-जहाँ से सामग्री लिया, वह स्पष्ट रूप में सन्दर्भोल्लेख किया है। चाहे वह शैंड हो रिचर्ड्स हो या भारतीय आचार्यों के मत हों।

आचार्य शुक्ल काव्य को लोकमंगलकारी कहते हुए हृदय की मुक्तावस्था से जोड़ते हैं आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य व्यक्ति-हृदय को विश्व हृदय में विलिन करता है। शुक्ल जी के समान ही डॉ. रिचर्ड्स भी भावों के सामंजस्य को काव्य या कला का प्रयोजन मानते हैं। ''कलाएं असाधारण व्यक्तियों के जीवन के ऐसे क्षणों की सृष्टि हैं, जब उनका अपनी अनुभूतियों पर अधिकतम नियंत्रण और अधिकार रहता है, जब अस्तित्व की बहुविध संभावनाओं के स्पष्ट दर्शन होते हैं और संभावित क्रियाओं में सर्वाधिक सुन्दर सामंजस्य प्राप्त होता है।''[13]

आचार्य शुक्ल ने परम्परागत मान्यताओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ तर्कपूर्ण माध्यम से काव्य का महत्व स्थापित किया, वहीं डॉ. रिचर्ड्स ने समस्त परम्परागत साहित्य-चिन्तन को मनोविज्ञान के आलोक में मौलिक ढंग से विवेचित किया।

आचार्य शुक्ल ने रिचर्ड्स के कल्पना का आधार कॉलरिज के कल्पना-सिद्धान्त पर आधारित माना है। आचार्य शुक्ल ने कल्पना में लोकमंगलकारी तथा जीवनानुभावों से युक्त होने के कारण आदर्शवादी है। जबकि डॉ. रिचर्ड्स के विवेचन में वैज्ञानिक तटस्थता तथा कहीं न कहीं क्लिष्टता विद्मान है। शुक्ल जी ने कल्पना को भावना से संबद्ध घोषित किया और कल्पना को आवेगों पर आधृत माना।

आचार्य शुक्ल और रिचर्ड्स दोनों काव्य में अनुभूति को प्रधानता देते हैं तथा उसे जीवन से अनिवार्यतः सम्बद्ध मानते हैं, दोनों काव्य को सोद्देश्य मानते हुए उसे सामंजस्य स्थापना का साधन मानते हैं। शुक्ल जी तथा रिचर्ड्स दोनों ने 'कला कला के लिए 'जैसी व्यक्तिवादी मान्यताओं का दृढ़ता से खण्डन किया, तथा काव्य को जीवन और सदाचार से सम्बद्ध घोषित किया। कल्पना के महत्व को स्वीकार करते हुए दोनों ने कल्पना-विषयक कॉलरिज की कुछ मान्यताओं को स्वीकार करते हुए उनकी कुछ मान्यताओं को अपने विवेचन का आधार बनाया। डॉ. रिचर्ड्स का सम्प्रेषण-सिद्धांत शुक्लजी के साधारणीकरण सिद्धान्त के पर्याप्त निकट है। काव्य-शिल्प के अन्तर्गत काव्य-भाषा छन्द, लय, शब्द शक्ति आदि के सम्बन्ध में भी शुक्लजी ने प्रायः रिचर्ड्स के मतों का उल्लेख अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए किया है।

उपर्युक्त साम्यों के बाद कुछ विषमताओं को देखें तो आचार्य शुक्ल एवं रिचर्ड्स के सिद्धान्तों में दिखाई देती हैं। रिचर्ड्स मूलतः मनोवैज्ञानिक थे, आचार्य शुक्ल साहित्यकार। रिचर्ड्स विकासवादी है तो आचार्य शुक्ल मर्यादावादी। रिचर्ड्स काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को अपने आलोचना कर्म में प्रयोग नहीं करते। रिचर्ड्स वैयक्तिता को प्रधान मानते हुए वैयक्तिक मनोविज्ञान को केन्द्र में रखते हैं। आचार्य शुक्ल सामाजिक मनोविज्ञान को आधार बनाते है। रिचर्ड्स के सामने मात्र व्यक्ति प्रधान रहा और आचार्य शुक्ल के समक्ष लोक, आचार्य शुक्ल के लिए साहित्यिक सिद्धान्त महत्वपूर्ण थे, लेकिन उनसे भी ज्यादा महत्वपूर्ण था सिद्धान्तों का व्यावहारिकरण। आचार्य शुक्ल ने किसी आलोचक से ऋण न लेकर पश्चिम से मनोविज्ञान के नूतन सिद्धान्तों का ऋण लिया और अपने मौलिक साहित्य शास्त्र की प्रतिष्ठा की।''[14]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचनात्मक सिद्धान्त का परिप्रेक्ष्य अत्यधिक विस्तृत है। उन्होंने अपने आलोचनाकर्म के मूल में भारतीय काव्य शास्त्र को रखा और दृष्टिकोण के विस्तार के लिए पाश्चात्य काव्यशास्त्र को। शास्त्र एवं सिद्धान्त को मिलाकर आचार्य शुक्ल ने आलोचना कर्म को एक ऐसे फलक पर प्रतिष्ठित किया, जहाँ लोक की अवधारणा प्रारम्भ होती है। यह ऐसा लोक है जहाँ कुछ भी विभक्त नहीं हैं जहाँ न कोई अलग से वाद स्थित है, न कोई मुख्य धारा। सिर्फ एक तत्व की प्रधानता है, वह है जीवनानुभूति, जो सत्व से निर्मित है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. पाश्चात्य काव्यशास्त्र-देवेन्द्रनाथ शर्मा ग्यारहवाँ संस्करण-2009 पृ.सं. 220
2. आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्धों की समान विशेषताएं-प्रेमकान्त खण्ड पृ. 46
3. Principle, P. 2
4. Ibid. P. 21
5. चिन्तामणि भाग-एक पृ. सं. 83
6. साहित्य-सिद्धान्त डॉ. रामअवध द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, द्वितीय संस्करण, पृ. 191
7. Principle, P. 47
8. Ibid. P. 177
9. चिन्तामणि भाग-1 पृ. 155
10. रसमीमांसा पृ. 194
11. चिन्तामणि भाग-1, पृ017
12. आलोचक और आलोचना पृ. 38
13. Principles of Libterary Criticism P-22-23
14. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य- डॉ. जयचन्द्र राय, पृ. 31

बौद्ध धर्म में त्रिविधयान का सिद्धान्त

ज्ञानदास एवं डॉ. अशोक कुमार जैन***

बौद्ध धर्म दर्शन के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के मार्ग तीन प्रकार के है। श्रावकयान प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान। प्रत्येकयान में बोधि की कल्पना भी एक दूसरे से नितान्त विलक्षण है– श्रावक बोधि, प्रत्येकबुद्ध बोधि, तथा सम्यक् संबोधि। श्रावकयान प्राचीन आचार्यों का यान है, इस यान के अनुसार गुरु के पास जाकर धर्म सीखने वाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। वह स्वयं अप्रतिबुद्ध है, परन्तु निर्वाण पाने की इच्छा उसमें बलवती है। अतः वह किसी योग्य 'कल्याणमित्र' के पास जाकर धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है। श्रावक का चरम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है। प्रत्येक बुद्ध की कल्पना बड़ी विलक्षण है। जिस व्यक्ति को बिना गुरुउपदेश के ही प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है, प्राचीन संस्कार के कारण जिसकी प्रतिभा चक्षु स्वतः प्रकाशित हो जाती है। वह साधक 'प्रत्येक बुद्ध' की संज्ञा प्राप्त करता है। वह बुद्ध तो बन जाता है परन्तु उसमें दूसरों के उद्धार करने की शक्ति नहीं होती। वह इस द्वन्द्वमय जगत से अलग हटकर किसी निर्जन स्थान में एकान्तवास करता है और विमुक्ति सुख का अनुभव करता है। बोधिसत्त्व अपने ही क्लेशों का नाश नहीं चाहता, प्रत्युत वह समस्त प्राणियों के क्लेशों का नाश करना चाहता है और इस परोपकार के लिए वह बुद्धत्त्व पद को प्राप्त करने का अभिलाषी होता है। इन तीनों यानों के स्वरूप से परिचय पाना बुद्ध धर्म के विकास को समझने के लिए नितान्त आवश्यक है।

(1) श्रावक ज्ञान

बौद्ध धर्म में प्राणियों की दो श्रेणियाँ बतलायी गयी है– (1) पृथकजन तथा (2) आर्य। जो प्राणी संसार के प्रपंच में फंसकर अज्ञानवश अपना जीवनयापन कर रहा है, उसे 'पृथकजन' कहते है। परन्तु जब साधक प्रपंच से हटकर गुरु स्थानीय बुद्ध से निकलने वाले ज्ञान की रश्मियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तथा निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तब उसे आर्य कहते हैं।[1]

प्रत्येक आर्य का चरम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है। वहां तक पहुँचने के लिए इन चार भूमियों को पार करना पड़ता है। (1) स्रोतापन्न भूमि (2) सकृदागामी भूमि, (3) अनागामी भूमि तथा (4) अर्हत् भूमि। प्रत्येक भूमि में दो दशायें होती है– (1) मार्गावस्था तथा (2) फलावस्था। श्रावक को निर्वाण प्राप्ति के लिए चार अवस्थाओं का विधान किया गया है। यहाँ पर स्रोतापन्न का अर्थ है। धारा में पड़ने वाला।[2] जब साधक कदाचित् 'प्रपंच' से हटकर निर्वाण के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है, जहाँ से गिरने की संभावना तनिक भी नहीं रहती, तब उसे स्रोता आपन्न कहते हैं। व्यास भाष्य के शब्दों में चित्त नदी उभयतो वाहिनी।[3] वह दोनों ओर बहा करती है– पाप की ओर भी बहती है और कल्याण की ओर भी बहती है। अतः पाप की ओर हटकर कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल देना जिससे वह निरन्तर निर्वाण की ओर अग्रसर होता चला जाय, साधना की प्रथम अवस्था है। अतः स्रोतापन्न को पीछे हटने का भय नहीं रहता, वह सदा कल्याण की ओर बढ़ता चला जाता है। इन तीन संयोजनों के क्षय होने पर यह शुभदशा प्राप्त होती है।[4]

(1) सत्कायदृष्टि, (2) विचिकित्सा, (3) शीलव्रत परामर्श

इस देश में नित्य आत्मा की स्थिति मानना एक प्रकार का बंधन ही है, क्योंकि इसी भावना से प्रभावित होकर प्राणी नाना प्रकार के हिंसोत्पादक कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः सत्काय दृष्टि का दूरीकरण नितान्त आवश्यक है। विचिकित्सा का अर्थ है सन्देह तथा शीलव्रत से अभिप्राय व्रत उपवास आदि में आसक्ति से है। इनके वश में होने वाला साधक कभी निर्वाण की ओर अभिमुख नहीं होता। अतः इन बन्धनों के तोड़ देने पर साधक पतित न होने वाली संबोधि की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ता है। इनके चार अंग होते हैं।[5]

(1) बुद्धानुस्मृति- साधक बुद्ध में अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होता है।

(2) धर्मानुस्मृति- बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित अष्टांग धर्म स्वख्यात (सुन्दर व्याख्यात) है, इसी शरीर में फल देने वाला (सांदृष्टिक) धर्म है। अतः उसमें श्रद्धा रखता है।

(3) संघानुस्मृति- बुद्ध के शिष्य संघ का न्याय परायणता से सुमार्ग पर आरूढ़ होने से संघ में विश्वास रखता है।

(4) अखण्ड, अनिन्दित, समाधिकगामी कमनीय शीलों से युक्त होता है।

स्रोतापन्न भूमि की प्रथम अवस्था को गोत्र भू कहते है। अब कामक्षय होने के कारण साधक कामधातु (वासनामय जगत) से सम्बद्ध विच्छेद कर रूप धातु की ओर अग्रसर होता है। उस समय उसका नवीन जन्म होता है। पूर्वकथित तीन संयोजनों के नष्ट हो जाने के

*शोधच्छात्र, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, जैन बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
**एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, जैन बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कारण साधक को निर्वाण प्राप्ति के लिए बार-बार जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

(2) **सकृदागामी-** का अर्थ एक बार संसार में आने वाला। स्रोतापन्न भिक्षु काम राग (इन्द्रियलिप्सा) तथा प्रतिघ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना) नामक दो बन्धनों को दुर्बल मात्र बनाकर मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ता है। इस भूमि में आस्रवक्षय (क्लेशों का नाश) करना प्रधान काम रहता है। सकृदागामी भिक्षु संसार में एक ही बार आता है।

(3) **अनागामी-** का अर्थ है फिर न जन्म लेने वाला है। ऊपर के दोनों बन्धनों को काट देने पर साधक अनागामी बनता है। वह न संसार में जन्म लेता है और न किसी दिव्यलोक में जन्म लेता है।

(4) **अर्हत-** इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए भिक्षु को बाकी बचे हुए इन पांच बन्धनों को तोड़ना अत्यन्त अनिवार्य है।

(5) **अविद्या-** इन बन्धनों के छेदन करते ही सब क्लेश दूर हो जाते है। समस्त दुःख स्कन्ध का अन्त हो जाता है, संसार में साधक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। तृष्णा के क्षीण हो जाने के कारण साधक इस जगत में रहता हुआ भी कमलपत्र के समान संसार से अलिप्त रहता है। वह चरम शान्ति का अनुभव करता है। निर्वाण पद की प्राप्ति अर्हत् का प्रधान ध्येय है। इसी अर्हत् पद की उपलब्धि श्रावक यान का चरमलक्ष्य है।

2. प्रत्येक बुद्धयान

इस यान का आदर्श प्रत्येक बुद्ध है। अतः स्फूर्ति से ही जिसे सब तत्त्व परिस्फुटित हो जाते हैं जिसे तत्त्व शिक्षा के लिए किसी भी गुरु की परतन्त्र होना नहीं पड़ता, वह प्रत्येक बुद्ध के नाम से अभिहित होता है। प्रत्येक बुद्ध का पद अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के बीच का है। अर्हत् से उसमें यह विलक्षणता है कि वह प्रतिभा चक्षु के बल पर ज्ञान का सम्पादक है और बोधिसत्त्व से यह कमी है कि वह अपने कल्याण साधन कर लेने पर भी अभी दूसरों के दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं होता है। इस साधक के द्वारा प्राप्त ज्ञान का 'प्रत्येकबुद्ध' बोधि है जो सम्यक् सम्बोधि-परमज्ञान की कोटि में नहीं आती है।

3. बोधिसत्त्व यान

इस यान की विशिष्टता पूर्व यानों से अनेक अंश में विलक्षण है। यह ज्ञानबोधिसत्त्व के आदर्श को प्राणियों के सामने उपस्थित करता है। बोधिसत्त्व यान को ही महायान कहा गया है। बोधिसत्त्व की कल्पना इतनी उदात्त, उदार तथा उपादेय है कि केवल इसी कल्पना के कारण बोधिसत्त्व यान के कारण बौद्ध धर्म जगत् के धर्मों में ग्रहणीय तथा माननीय स्थान पाने का अधिकारी है। 'बोधिसत्त्व'[6] का शाब्दिक अर्थ है बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति। इसकी प्राप्ति के लिए विशिष्ट साधना की अनिवार्यता होती है।

पूर्व के आचार्यों का अन्तिम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है, परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों का उद्देश्य बुद्धत्व की उपलब्धि है। अर्हत् केवल अपने ही क्लेशों से मुक्ति पाकर अपने को सफल समझ बैठता है। उसे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती है कि सम्पूर्ण विश्व में हजारों, करोड़ों नहीं अरबों प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों में पड़कर अपने अनमोल जीवन को व्यर्थ बिताते हैं। अर्हत् केवल शुष्क ज्ञानी है जिसने अपनी प्रज्ञा के बल पर रागादि क्लेशों का प्रहाण कर लिया है। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों का लक्ष्य बुद्धत्त्व की प्राप्ति है। बोधिपाक्षिक धर्मों में प्रज्ञा से बढ़कर महाकरुणा का स्थान है। बुद्ध वही प्राणी बन सकता है, जिसमें प्रज्ञा के साथ महाकरूणा का भाव विद्यमान रहता है। बोधिचर्यावतार पंजिका में एक भिक्षु दूसरे भिक्षु से प्रश्न करता है[7], हे मन्जूश्री का उत्तर है कि देवपुत्र! बोधिसत्वों की चर्चा महाकरूणापुरः सर होती है। महाकरूणा की उसका आरम्भ है तथा दुखित प्राणी ही करूणा के आलम्बन (पात्र) हैं। आर्य धर्म संगति में इसलिए बोधिकारक धर्मों में महाकरूणा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इस ग्रन्थ का कहना है कि बोधिसत्त्व को केवल एक ही धर्म स्वायत्न करना चाहिए और वह धर्म है महाकरूणा।[8] यह करूणा जिस मार्ग से जाती है, उसी मार्ग से अन्य समस्त बोधिकारक धर्म चलते हैं[8] महाकरूणा ही बोधिसत्त्व को बुद्ध बनाने में प्रधान कारण होती है।

वह विचारता है कि जब मुझे और दूसरों को भय तथा दुःख समान रूप से अप्रिय लगते हैं, तब मुझमें कौन सी विशेषता है। मैं अपनी ही रक्षा करूँ और दूसरे की रक्षा न करूँ। आचार्य शान्ति देव का यह कथन नितान्त सत्य है।[9]

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत् तं रक्षामि नेतरम्॥

बोधिसत्त्व के जीवन का उद्देश्य जगत् का पर मंगल साधना होता है। उसका स्वार्थ इतना विस्तृत रहता है कि उसके 'स्व' की परिधि के अन्तर जगत् के समस्त प्राणी आ जाते हैं। विश्व के पिपीलिका से लेकर हस्ती पर्यन्त जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है, तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। उसका हृदय करूणा से इतना आर्द्र होता है कि वह दुःखी प्राणियों के दुःख को तनिक भी आंच से पिघल उठता है। बोधिसत्त्व की कामना को शान्ति देव ने बड़े सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है।[10]

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥

सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्य संभार का मैंने अर्जन किया है, उसके फल में मेरी यही कामना है कि प्रत्येक प्राणी के दुःख शान्त हो जाय।

मुक्त पुरुषों के हृदय में जो आनन्द का समुद्र हिलोरें मारने लगता है, वही मेरे जीवन को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर मुझे क्या करना है। बोधिसत्त्व की प्रशंसा शब्दों के द्वारा नहीं हो सकती। लोक का यह नियम है कि उपकार के बदले में प्रत्युपकार करने वाले व्यक्ति की भी प्रशंसा होती है, परन्तु उस बोधिसत्त्व के लिए क्या कहा जाय? जो बिना किसी प्रकार की अभ्यर्थना के ही विश्व के कल्याण-साधन में दत्तचित्त रहता है।[11] वह अपने को परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है पर साथ ही साथ सभी प्राणियों को भी परमार्थसत्य में स्थापित करना चाहता है। अपने ही परिनिर्वाण के लिए उद्योग नहीं करता है।

बुद्ध गुरुतत्त्व के प्रतीक है। गुरु के प्रतिनिधि होने से उनका नाम है– शास्ता (अर्थात् मार्गदर्शक गुरु) गुरु बिना प्रज्ञा के उदय के साथ-साथ महाकरूणा का उदय भी नितान्त आवश्यक है। जब तक करूणा का आविर्भाव नहीं होता, तब तक अन्य पुरुषों को उपदेश देकर मुक्ति लाभ कराने की प्रवृत्ति का जन्म ही नहीं होता। उस व्यक्ति की स्वार्थपरायणता कितनी अधिक है जो स्वयं निर्वाण पाकर समचित्तता का अनुभव करता है। उसके चारों ओर कोटि-कोटि प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों को सहते हुए त्राहि-त्राहि का आर्तनाद कर रहे हों, परन्तु वह स्वयं शिलाखण्ड की तरह अडिग बैठा हुआ मौनावलम्बन किये हो। अतः गुरुभाव की प्राप्ति के लिए (महाकरूणा) की महती आवश्यकता होती है।

बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में बुद्धत्त्व प्राप्ति के लिए यत्नवान् व्यक्ति को बोधिसत्त्व कहते हैं। अनेक जन्मों में निरन्तर साधना करने का अन्तिम परिणाम बुद्धपद की प्राप्ति होता है। शाक्यमुनि ने एकजन्म में बुद्धपद की प्राप्ति नहीं किया था। बल्कि जातक ग्रन्थों से हमें पता चलता है कि अनेक जन्मों सद्गुणों की पारमिताओं का पालन करके ही सिद्धार्थ गौतम, बुद्ध बने थे। उत्तरवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में बुद्ध पद की प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट साधना का उपदेश मिलता है। जिसका नाम है बोधिचर्या, बोधिचर्या का आरम्भ बोधिचित्त ग्रहण से होता है। मानव अपनी परिस्थितियों का दास है। वह भवसागर की दुःखोर्मियों का प्रहार सहता हुआ इधर से उधर मारा-मारा फिरता है। उसकी बुद्धि स्वतः पापोन्मुखी बनी रहती है। परन्तु किसी पुण्य के बल पर कभी-कभी उसका चित्त भव जाल से मुक्ति पाने के लिए भी इच्छुक होता है। वह कल्याण बोधिचित्त है। बोधि का अर्थ है ज्ञान। अतः बोधिचित्त के ग्रहण से तात्पर्य है– समग्र जीवों के समुद्धरणार्थ बुद्धत्त्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् संबोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना, बोधिचित्त का ग्रहण करना है। बोधिचित्त ही सर्व अर्थ साधन का प्रथम सोपान है।[12] बोधिचित्त दो प्रकार का होता है– बोधिप्रणिधिचित्त और बोधिप्रस्थानचित्त। प्रणिधि का अर्थ है ध्यान और प्रस्थान का अर्थ वास्तविक चलना। ''सर्व जगत् परित्राणाय बुद्ध भवेयमिति प्रथमतरं प्रार्थनाकारा कल्पना प्रणिधिचित्तम'' अर्थात् मैं सब जगत् के त्राण के लिए बुद्ध बनूँ- यह भावना जब प्रार्थना रूप में उदय होती है तब 'बोधिप्रणिधिचित्त' का जन्म होता है। यह पूर्व अवस्था है जब साधक व्रत ग्रहण कर मार्ग में अग्रसर होता है और कुशल कार्य में व्याप्त होता है। तब बोधि-प्रस्थान चित्त का उत्पाद होता है।[13]

इन दोनों में पार्थक्य नहीं है जो गमन की इच्छा करने वाले और गमन करने वाले के बीच में होता है। इन दोनों दशाओं का मिलना कठिन होता है। 'आर्यगण्डकव्यूह' का कथन यथार्थ है[14] कि जो पुरुष अनुत्तर सम्यक्, संबोधि में चित्त लगाते हैं। वे दुर्लभ हैं और उनसे भी दुर्लभतर वे व्यक्ति होते हैं, जो अनुत्तर सम्यक् संबोधि की ओर प्रस्थान करते हैं। यह समस्त दुःखों की औषधि है और जगतानन्द का बीज है।

अनुत्तर पूजा

इस बोधिचित्त के उत्पादन के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान बतलाया गया है। इस पूजा के सात अंग है।[15]

वन्दना, पूजन, पापदेशना[16], पुण्यानुमोदन, बुद्धाध्येषण, बुद्धयाचना तथा बोधिपरिणामना। अनुत्तर पूजा मानसिक होती है। प्रथमतः जगत् के कल्याण साधन के लिए त्रिरत्न के शरण में जाना चाहिए। शरणापन्न हुए बिना ऐसी मंगल कामना की भावना उदय नहीं होती। अनन्तर नाना प्रकार के मानस उपचारों से बुद्धों की तथा बोधिसत्वों की वन्दना तथा (2) अर्चना का अनुष्ठान किया जाता है। साधक बुद्ध को लक्षित कर अपने जाने या अनजाने, किये गये या अनुमोदित समस्त पापों का प्रत्याख्यान करता है। (4) पापदेशना। देशना का अर्थ प्रगटीकरण है। अतः पश्चातापपूर्वक अपने पापों को प्रगट करना पापदेशना कहलाता है।[17] पापदेशना का फल यह है कि पश्चाताप के द्वारा प्राचीन पापों का शोधन हो जाता है। तथा आगे चलकर नये पापों से रक्षा करने के लिए बुद्ध से प्रार्थना भी की जाती है। इसके अनन्तर साधक सब प्राणियों के लौकिक शुभकर्म का अनुमोदन करता है और सभी जीवों के सब दुःख निर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे (4) पुण्यानुमोदन

कहते हैं। समग्र सत्त्वों की सेवा करने का वह निश्चय करता है। साधक शुभ भावना को प्रश्रय देता है और अंजलि बांधकर सब दिशाओं में स्थित बुद्धों से प्रार्थना करता है कि जीवों की दुःखनिवृत्ति के लिए वे उसे धर्म का उपदेश करें जिससे वह जीवों के लिए भद्रघट, चिन्तामणि, कामधेनु तथा कल्पवृक्ष बन जाय। इसका नाम है (5) बुद्धाध्येषणा (अध्येषणा-याचना) तब साधक बोधिसत्त्वों से प्रार्थना करता है कि वह इस कृत कृत्य संसार में जीवों की स्थिति में तत्पर रहें। इसका नाम हैं बुद्ध याचना। अनन्तर वह प्रार्थना करता है कि अनुत्तरपूजा के फलस्वरूप में जो सुकृत मुझे प्राप्त हुए है, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियों के दुःखों के प्रशमन में कारण बनूं। यह है (7) बोधिपरिणामना। इस पूजा से बोधिचित्त का उदय अवश्य हो जाता है।

पारमिता ग्रहण

बौद्धमतानुयायी साधक के बोधिचित्त ग्रहण करने के उपरान्त पारमिताओं का सेवन आवश्यकचर्या है। ''पारमिता'' शब्द का अर्थ है पूर्णत्त्व। इसका पाली रूप ''पारमी'' है। जातक की निदान कथा में वर्णित है कि बुद्धत्त्व की आकांक्षा रखने वाले सुमेध नामक ब्राह्मण के अश्रान्त परिश्रम करने पर दस पारमितायें प्रगट हुई जिनका नाम-निर्देश इस प्रकार है। दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ़निश्चय), मैत्री (हित अहित में समभाव रखना) तथा उपेक्षा (सुख-दुख में एक समान रहना)। इन्हीं पामिताओं के द्वारा शाक्यमुनि ने 550 विविध जन्म लेकर सम्यक् सम्बोधि की लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की। यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य जन्म में ही पारमिता का अनुष्ठान सम्भव हो। जातकों का प्रमाण स्पष्ट है कि शाक्यमुनि ने तिर्यक योनि में भी जन्म लेकर पारमिता का अनुशीलन किया। बिना पारमिता के अभ्यास के कोई भी बोधिसत्त्व बुद्ध मान्य पदवी को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए पारमिता के पालन करना इतना आवश्यक है।

किसी गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए जिस प्रकार पथिक कोसंबल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार बोधिमार्ग पर आरूढ़ साधक को संभार की अपेक्षा रहती है। संभार दो प्रकार के होते हैं– पुण्य संभार और ज्ञान संभार। पुण्यसंभार के अन्तर्गत उन शोभन गुणों की गणना होती है जिनके अनुष्ठान से अकलुषित प्रज्ञा का उदय होता है।

ज्ञानसंभार प्रज्ञा का अधिवचन है। प्रज्ञापारमिता का उदय ही बुद्धतत्त्व की उत्पत्ति का मात्र एक कारण होता है, परन्तु उसके निमित्त पुण्य संभारा की सम्पत्ति का उत्पाद एकान्त आवश्यक है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने पारमिताओं की संख्या 6 ही मानी है। पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता दस पारमिताओं की थी, परन्तु बाद के आचार्यों ने इन पारमिताओं को षटपारमिताओं में अन्तरभाव कर लिया। षड पारमितायें हैं- दान, शील, शान्ति, वीर्य ध्यान और प्रज्ञा। इन षट्पारमिताओं में प्रज्ञा-पारमिता का प्रधान्य है। प्रज्ञा पारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसी की दूसरी संज्ञा है 'भूततथता'। बिना प्रज्ञा के पुनर्भव का अन्त नहीं होता। इसी पारमिता की उत्पत्ति के लिए अन्य पारमिताओं की शिक्षा दी जाती है। अतः दान, शील, वीर्य तथा ध्यान– इन पाँच पारमिताओं का अर्न्तभाव 'पुण्यसम्भार' के अर्न्तगत किया जाता है। प्रज्ञा के द्वारा परिशोधित किये जाने पर ही दान, शील आदि पूर्णता को प्राप्त करते है। प्रज्ञारहित होने पर ये पारमितायें लौकिक कहलाती हैं, बुद्धत्त्व की प्राप्ति में साहाय्य नहीं होती। अतः षट् पारमिताओं का पालन करना साधन के लिए मुख्य अंग है।

1. दान पारमिता

सब जीवों के लिए सब वस्तुओं का दान देना तथा दान फल का परित्याग करना 'दानपारमिता' है। दान के अनन्तर यदि फल की आकांक्षा बनी रहती है तो वह कर्मबन्धकारक होता है, अपूर्ण रहता है। अतः दान की पूर्णता के निमित्त दान के फल का परित्याग एकान्त आवश्यक है। सांसारिक दुःख का मूल सर्व-परिग्रह है। अतः 'अपरिग्रह' के द्वारा भव दुःख से विमुक्ति मिलती है। दान के अभ्यास का यही तात्पर्य है। इस पारमिता की शिक्षा से साधक किसी वस्तु में ममत्व नहीं रहता, सब सत्त्वों को पुत्रतुल्य देखता है और अपने केा सबका पुत्र समझता है। बोधिसत्त्व के लिए चार बातें कुत्सित हैं– शाठ्य, मात्सर्य, ईर्ष्यापैशुन्य और संसार में चित्तलीनता। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु बिना शोक किये बिना फल की आकांक्षा के दे देनी चाहिए। तभी इस पारमिता की शिक्षा पूरी समझनी चाहिए।

(2) शील-पारमिता

शील का अर्थ है पाणांतिपात आदि समग्रगर्हितकर्मों से चित्त की विरति। चित्त की विरति ही शील है। दान पारमिता में आत्मभाव के परित्याग की शिक्षा दी गयी है जिससे जगत् के प्राणी उसका उपभोग कर सके। परन्तु यदि आत्मभाव की रक्षा न होगी, तो दूसरे उसका उपभोग किस प्रकार करेंगे? इसलिए 'वीरदत्त-परिपृच्छा'18 का कथन है कि साधक को शकट, के समान धर्मबुद्धि से, मारके उद्वहन के लिए ही, इस देह की रक्षा करनी चाहिए। इसके साथ-साथ चित्त की, इस देह की रक्षा करनी चाहिए। इसके साथ-साथ चित्त की रक्षा भी नितान्त आवश्यक है। चित्त इतना विषयोन्मुख है कि यदि सावधानी से उसकी रक्षा न की जायेगी, तो कभी शान्ति नहीं आ सकती। शत्रुप्रभृति जो बाह्यभाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नहीं है। अतः चित्त के निवारण से ही कार्यसिद्धि होती। शान्तिदेव का यह कहना युक्तियुक्त है।[19]

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदनी।।

पैर की रक्षा के लिए कण्टक का शोधन आवश्यक है। इसके लिए पृथ्वी को चाम से ढक देना चाहिए। परन्तु इतना चाम कहां मिलेगा? यदि मिले भी तो क्या उससे पृथ्वी ढाकी जा सकती है। अपने पैर को जूते के चाम से ढाक लेने मात्र से समग्र मेदनी धर्म से आवृत्त हो जाती है। चित्त निवारण में यही कारण है। खेतों को काट गिराने की अपेक्षा सत्य के प्रलोभन से इधर-उधर भटकने वाली गाय ही बांध रखना सरल उपाय होता है। विषयों के अनन्त होने से उनका निवारण कल्पना कोटि में नहीं आता। अतः अपने चित्त का निवारण ही सरल उपाय है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' तथा 'संप्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। 'स्मृति' का अर्थ है विहित तथा प्रतिसिद्धि का स्मरण है।[20] स्मृति उस द्वारपाल की तरह है जो अकुशल को घुसने के लिए अवकाश नहीं देती। संप्रजन्य का अभिप्राय है– प्रत्यवेक्षण कार्य और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। शमके ही प्रभाव से चित्त समाहित होता है और समाहित चित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। चित्त के अधीन सर्वधम्म हैं और धम्म के अधीन बोधि है। चित्त परिशोध के लिए ही शीलपारमिता का अभ्यास आवश्यक होता है।

(3) शान्ति पारमिता

इस पारमिता का उद्योग द्वेष के समन के लिए किया जाता है। द्वेष के समान जगत् में दूसरा पाप नहीं और शान्ति के समान कोई तप नहीं। इस पारमिता की शिक्षा ग्रहण का प्रकार शान्तिदेव ने इस कारिका में लिखा है।[22]

श्रमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्।।

मनुष्य में शान्ति होनी चाहिए। क्षमाहीन व्यक्ति को सुश्रुत के ग्रहण में जो खेद उत्पन्न होता है उसके सहन करने की शक्ति न होने से उसका वीर्य नष्ट हो जाता है। अखिन्न होकर श्रुत (ज्ञान) की इच्छा करनी चाहिए। ज्ञानी को वन का आश्रय लेना चाहिए। वन में बिना चित्त-समाधान के विक्षेप का प्रशमन नहीं होता। इसलिए समाधि करे। समाहित चित्त होने पर भी बिना क्लेश शोधन के कोई फल नहीं होता। अतः अशुभ आदि की भावना करें।

शान्ति तीन प्रकार की है– (1) दुःखाधिवासना शान्ति, (2) परापकारमर्षण शान्ति तथा (3) धर्मनिध्यान शान्ति। प्रथम प्रकार की शान्ति वह है जिसमें अत्यन्त अनिष्ट का आगमन होने पर भी दौर्मनष्य न हो। दौर्मनस्य के प्रतिपक्ष रूप (मुदिता) का यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। परापकारमर्षण का अर्थ है दूसरे के किये हुए अपकार को सहन करना और उसका प्रत्यापकार न करना। द्वेष के रहस्य को समझाते हुए शान्ति देवजी कहते हैं।[23]

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम्।।

दण्ड के द्वारा ताड़ित किये जाने पर मनुष्य मारने वाले के ऊपर कोप करता है। यह तो ठीक नहीं जान पड़ता है। यदि प्रेरक पर कोप करना है तो द्वेष के ऊपर कोप करना चाहिए, क्योंकि द्वेष की प्रेरणा से ही वह किसी को मारने के लिए तत्पर होता है। अतः द्वेष से द्वेष करना चाहिए। अतः द्वेष को जीतने के लिए क्षान्ति का उपयोग करना आवश्यक है। तृतीय प्रकार की क्षान्ति का जन्म धर्मों के स्वभाव पर ध्यान देने से होता है। जब सब जगत समस्त धर्म क्षणिक तथा निःसार है, तब किसके ऊपर क्रोध किया जाय? किससे द्वेष किया जाय? क्षमा ही जीवन का मूल मन्त्र है।

(4) वीर्यपारमिता

वीर्य का अर्थ उत्साह है। जो क्षमी है वह वीर्य लाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित है। जैसे वायु के बिना गति नहीं है। उसी प्रकार वीर्य के बिना पुण्य नहीं है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विषय में आलस्य, कुत्सिम कर्म में प्रेम, विषाद और आत्म अवज्ञा हैं। संसार-दुःख के तीव्र अनुभव के बिना कुशल कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। साधक को अपनी चित्त में कभी विषाद को स्थान न देना चाहिए। उसे यह चिन्ता करनी चाहिए कि मनुष्य अपरिमित पुण्य ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कहीं असंख्य कल्पों में बुद्धत्त्व को प्राप्त होता है। मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्त्व को प्राप्त कर सकूँगा, क्योंकि तथागत का यह सत्य कथन है कि जिसमें पुरुषार्थ है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। जिन बुद्धों ने उत्साहपूर्वक अनुत्तर बोधि को प्राप्त किया है। वे भी संसार-सागर के आवर्त में घूमते मशक, मक्षिका और कृमि के योनि में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार चित्त में उत्साह का भाव भरकर निर्वाण मार्ग में अग्रसर होना चाहिए। सत्य की अर्थ-सिद्धि के लिए बोधिसत्त्व के पास एक बल व्यूह है जिसमें छन्द, स्थान, रति और मुक्ति की गणना की गई है। छन्द का अर्थ है कुशल कर्मों में अभिलाषा। स्थान का अर्थ है– आरब्ध कार्यों में दृढ़ता। रति-सत-कर्म में आसक्ति का नाम है। मुक्ति का अर्थ है– उत्सर्ग का त्याग। यह बल व्यूह वीर्य संपादन करने में चतुरंगिणी सेना का काम करता है। इसके द्वारा आलस्य आदि शत्रुओं को दूर भगाकर वीर्य बढ़ाने में प्रयत्न करना चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त बोधिसत्त्व को निपुणता, आत्मवश, वर्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्तन का संपादन करना

चाहिए। जैसे रूई वायु की गति से संचालित होती है, उसी प्रकार बोधिसत्त्व उत्साह के द्वारा संचालित होता है और अभ्यास-परायण होने से बोधिध्यान को प्राप्त करता है।[24]

(5) ध्यान पारमिता

इस प्रकार वीर्य वृद्धि कर साधक समाधि में चित्त स्थापित करना चाहिए।[25] क्योंकि विक्षिप्त चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों को अपने चंगुल से हटा नहीं सकता। इसके लिए तथागत ने दो साधनों का निर्देश किया है– शमथ तथा विपश्यना। विपश्यना का अर्थ है ज्ञानदृष्टि और शमथ का अर्थ है चित्त की एकाग्रता रूपी समाधि। शमथ के बाद विपश्यना का जन्म होता है और शमथ (समाधि) का जन्म सार में आशक्ति को छोड़ देने से होता है।[26] बिना अरति हुए समाधि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। आसक्ति से जो अनर्थ होते हैं उससे कौन नहीं परिचित हैं? इसलिए साधक को जन-संवास से दूर हटकर एकान्तवास में जाकर निवास करना चाहिए और एकान्तवास में निवास करके साधक को जगत् की अनित्यता के ऊपर अपने चित्त को समाहित करना चाहिए। उसे यह भावना करनी चाहिए कि प्रिय का समागम सदा विघ्नकारक होता है। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। तब जीवन के कतिपय क्षण के लिए प्रिय-वस्तुओं के जमघट लाभ क्या?[27] परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो कौन किसकी संगति करता। जिस प्रकार राह चलते हुए पथिकों का एक स्थान में मिलना होता है और फिर वियोग होता है। उसी प्रकार संसार रूपी मार्ग पर चलते हुए जाति भाईयों का प्रिय मित्रों का क्षणिक समागम हुआ करता है।[28] इस प्रकार बोधिसत्त्व को संसार की प्रिय वस्तुओं में अपने चित्त को हटाकर, एकान्तवास का सेवन कर अनर्थकारी कार्यों के निवारण के लिए चित्त की एकाग्रता तथा दमन का अभ्यास करना चाहिए।

(6) प्रज्ञा पारमिता

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि जिसका चित्त समाहित है। उसी को यथाभूत सत्य का परिज्ञान होता है। द्वादश निदानों में अविद्या ही मूल स्थान है। इस अनवरत परिणामशाली दुःखमय प्रपंच का मूल कारण अविद्या है। इस अविद्या को दूर करने का एकमात्र उपाय प्रज्ञा है। अब तक वर्णित पाँचों पारिमतायें इस पारमिता की परिकरमात्र है। अब दुःख के उन्मूलन के प्रज्ञा पारमिता की ही प्रधानता है। इस प्रज्ञा का दूसरा नाम विपश्यना, अपरोक्ष ज्ञान है। इस ज्ञान के उत्पन्न करने में समाधिक की महिमा है। प्रज्ञा पारमिता का अर्थ है सब धर्मों की निस्सारता का ज्ञान अथवा सर्वधर्मशून्यता। शून्यता में प्रतिष्ठित होने वाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता (पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता) को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञापारमिता का उदय होता है। उस समय साधक के लिए किसी प्रकार का व्यवहार शेष नहीं रह जाता। उस समय साधक के लिए किसी प्रकार का व्यवहार शेष नहीं रह जाता। उस समय यह परमार्थ स्वतः भाषित होने लगता हैं कि दृष्टमान वस्तु समूह माया के सदृश है। स्वप्न और प्रतिबिम्ब की तरह अलीक और मिथ्या है। जगत की सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जगत् को जो स्वरूप हमारे सामने इन्द्रिगोचर होता है, वह उसका मायिक (सामवृतिक) स्वरूप है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। यही ज्ञान आर्यज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान का जब उदय होता है तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध होने से संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व कारणों के निरोध होने से उत्तरोत्तर कार्य का निरोध होता है और अन्त में दुःख का निरोध सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रज्ञा पारमिता के उदय होने पर संसार की निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है, संवृत्ति संसार समस्त दोषों का आकार। निवृत्ति निर्वाण समस्त गुणों का भण्डार है।

प्रज्ञा पारमिता सूत्र ने प्रज्ञा का मनोरम वर्णन इस प्रकार किया है।[29]

सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम्।
साधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः॥

इन पारमिताओं की शिक्षा से बोधिसत्त्व की साधना सफल हो जाती है। वह बुद्धत्त्व की प्राप्ति कर सब सत्त्वों के उद्धार के महनीय कार्य में संलग्न होता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण प्राणियों के कल्याण तथा मंगल के साधन में व्यय होता है। उसमें स्वार्थ का तनिक भी गन्ध नहीं रहता। बौद्ध आगम के आरम्भ से लेकर सम्पूर्ण विकासक्रम में तथागत बुद्ध के द्वारा संघ निर्माण करने के बाद जो उपदेश 60 भिक्षुओं को दिया था[30], उसी का विकसित रूप बोधिसत्त्व है। जिसके कारण बौद्ध धम्म विश्व का धम्म बन गया।

चरथ भिखवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय।

सन्दर्भ सूची

1. विनयपिटक, पृ. 81
2. एस्थ नल सोतापतितमग्गं भावेत्वा विद्दविचिकिच्छा पहानेन पट्टीकापायगमनो सत्त्वकत्तुपरमोसोतायन्त्रे नाम होति (पूर्ण उल्लेख अङ्गुरतरनिकाय-नलसुप्त, पृ. 176)
3. योग दर्शन (व्यास भाष्य, पृ. 1-12)
4. महालीसुत्त (दीघनिकाय, पृ. 57-58)
5. दीघनिकाय, पृ. 288

6. बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ. 421
7. वही पर, पृ. 486
8. वही पर, पृ. 485
9. शिक्षासमुच्चय, पृ. 02
10. बोधिचर्यावतार, पृ. 77 (तृतीय परिच्छेद)
11. बोधिचर्या 1/31
12. वही पर, 118
13. शिक्षासमुच्चय, पृ. 8
14. बोधिचर्या, द्वितीय परि., श्लोक 28, 29
15. शिक्षासमुच्चय, पृ. 43
16. बोधिचर्या, 5/13
17. वही पर, पृ. 108
18. बोधिचर्या, पृ. 5-108
19. वही पर, पृ. 6/41
20. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ0 113
21. बोधिचर्या, पृ. 6/4
22. बोधिचर्या, पृ. 6/33
23. वही पर, पृ. 6/44
24. शिक्षासमुच्चय, पृ. 45
25. ईसा धर्म के अनुसार ही यहां पर पश्चाताप माना जाता है।
26. धर्मसंग्रह के अनुसार यहां पर भी शरणगमन भी अंग है।
27. बोधिचर्या, द्रष्टव्य, सप्तम परिच्छेद
28. जातक कथायें- निदान कथा
29. प्रज्ञापारमितासूत्र
30. विनयपिटक, 86

दलितोत्थान के प्रबल प्रणेता डा॰ भीमराव अम्बेडकर

कुमारी पूनम एवं प्रो. मोहम्मद सलीम***

भारत में हुए समाज शास्त्रीय अध्ययनों में अनेक परिप्रेक्ष्यों को अपनाया गया है। इन परिप्रेक्ष्यों में अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य, जिसे दलित द्वारा परिप्रेक्ष्य भी कहा जाता है, प्रमुख परिप्रेक्ष्य है। इस परिप्रेक्ष्य को अपनाने का श्रेय डॉ. भीम राव अम्बेडकर को दिया जाता है जिन्हें भारत के अछूत वर्ग के एक सामाजिक पैगम्बर का स्थान प्राप्त है। वे एक विद्वान, न्यायशील तथा स्पष्टवादी व्यक्ति थे। उन्होंने अपना जीवन सामाजिक सुधार के लिए समर्पित कर दिया था। वे एक ऐसे समाज सुधारक थे जो अपने कार्यो से सामाजिक रूढ़िवादिता, जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता को दूर करने में जीवन भर लगे रहे। वे सम-समाज के प्रेरक थे। वे इस शताब्दी के एक श्रेष्ठ चिन्तक, प्रभावशाली वक्ता, ओजस्वी लेखक तथा भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता थे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलितों के मसीहा थे तथा उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन दलितों के उत्थान तथा विकास के लिए समर्पित कर दिया।

दलितोद्धार परिप्रेक्ष्य समाज के दलित वर्गो का अध्ययन कर उनका उद्धार एवं सामाजिक, आर्थिक उत्थान करने पर बल देता है। इस परिप्रेक्ष्य को अपनाने वाले विद्वान भारतीय इतिहास को समझने में जन साधारण की राजनीति में भूमिका को महत्व प्रदान करते हैं तथा जनसाधारण एवं विशिष्ट जन की राजनीतिक भूमिका में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं। भारतीय समाज का कोई भी अध्ययन जन साधारण या 'दलित वर्ग' के अध्ययन के बिना अधूरा है। यदि इन वर्गो का अध्ययन नहीं किया जाता है तो भारतीय राजनीति एवं भारतीय समाज के विकास में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका को नहीं समझा जा सकता है। दलितोत्थान के प्रबल प्रेरणा स्रोत डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को महाराष्ट्र के महो नामक स्थान पर हुआ था। महार जाति महाराष्ट्र में अछूत समझी जाती है। जन्म के समय उनका नाम भीम सकपाल था। जिस समय भीमराव अम्बेडकर का जन्म हुआ था उस समय निम्न जाति के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन तथा जीवन के प्रारंभिक काल में निम्न जाति में पैदा होने के कारण अनेक बार अपमान सहना पड़ा जिसने उनके भविष्य की रूप-रेखा तैयार कर दी तथा उन्होंने अपना जीवन 'दलित वर्ग' के उत्थान के लिए समर्पित कर दिया।

डा॰ अम्बेडकर का जीवन भारत के सामाजिक सुधारों के लिए समर्पित था। उन्होंने जातिवाद और अस्पृश्यता निवारण के लिए जीवन भर संघर्ष किया। वे राष्ट्रवादी तथा देशभक्त थे और वे भारतीय स्वाधीनता के प्रबल समर्थक थे। वे सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन चाहते थे। उन्हें जीवन में लाने के लिए अपमान सहना पड़ा था। इससे उनके मन में सब कार्यो के प्रति कटुता उत्पन्न हो गयी थी। उन्हें हिन्दुओं के व्यवहार और ब्रिटिश शासन की नीति से यह पूर्ण ज्ञान हो गया था कि सभी अछूतों के प्रति उदासीन हैं और अछूत सभी प्रकार से कमजोर हैं और वे सामाजिक राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सवर्णों का मुकाबला करने में असमर्थ हैं। इसलिए अछूतों के उद्धार तथा उत्थान के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। यही कारण है कि उन्हें 'दलितों का मसीहा कहा जाता है। डॉ. अम्बेडकर ने जातिगत भेद-भाव को समाप्त कर के राष्ट्रीय एकीकरण की दिशा में महान प्रयत्न किया। डा॰ अम्बेडकर दलितों तथा अछूतों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व के समर्थक थे। उनकी माँग थी कि मुसलमानों की तरह दलितों को भी पृथक प्रतिनिधित्व दिया जाये। उन्होंने प्रथम तथा द्वितीय गोल मेज सम्मेलन में अछूतों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व पर ही सबसे अधिक बल दिया। उन्होंने कहा था कि अब हमारा विश्वास न गांधी पर है और न कांग्रेस पर यदि हमारा विश्वास किसी बात पर है तो वह अपना 'उद्धार' करने पर ही है। वे चाहते थे कि अछूत एवं दलित सम्मानपूर्ण ढंग से जीवन बिताएं। डॉ. अम्बेडकर ने दलित जातियों को राजनीतिक सेना के रूप में भी परिणित करने का प्रयास किया। उनके राजनीतिक दाँव डॉ. अम्बेडकर की वकालत के कारण मान भी लिए गये और इनके लिए 1935 के निर्वाचन में विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी थी।[1]

डॉ. अम्बेडकर हिन्दू समाज संगठन की जो समझ रखते थे एवं जो समीक्षा करते थे, उसका एक मात्र उद्देश्य था कि भारत में समाज सुधार की प्रकिया कैसे लागू की जाए। ''कास्ट इन इण्डिया'' शीर्षक से एक निबन्ध में अम्बेडकर ने अछूतों व सवर्ण हिन्दूओं के सामने भी हिन्दू समाज की एक अत्यन्त ज्ञान परख समीक्षा रखी। उनके विचारों में हिन्दू समाज का मौलिक गुण यह था कि जातियाँ, वर्ग और जनजाति के नाम से पहचान रखने वाले सामाजिक समूहों की तरह अपने आप में अलग इकाईयाँ नहीं थे जो स्वयं समाज के सर्वोच्च स्थान पर थे अर्थात उच्च जाति के लोग जो शताब्दियों से प्रभुता की संस्कृति बनाने में सफल रहे, जिसके कारण निम्न जाति के लोग अपनी स्थिति निम्न होने के कारण अपनी निम्नता को बेहिचक स्वीकार करते चले गए और ऊँची जाति के लोग अपनी उच्चता के

*शोधछात्रा, समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दम्भ में मगरूर होते गए। इन स्थितियों से दलितों को उबारने के लिए डॉ. अम्बेडकर ने दलितोद्धार के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[2]

'दलित' शब्द का उद्‌भव मराठी भाषा से हुआ। जिसका प्रथम प्रयोग ज्योतिबा राव फूले ने किया। जिसका अर्थ टुकडों में टूटा हुआ' विह्वल, दुःखी आदि से लगाया गया क्योंकि समाज में इनकी स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। राजकिशोर के अनुसार दलित शब्द एक वर्गीय शब्द ठहरता है भारत एक गरीब देश है यहाँ कि आधा से ज्यादा आबादी दलित ही है यह एक राष्ट्रीय दंश है। लेकिन जिन्हें दलित कहा जाता है उनका दंश कुछ और है। 'दलित' शब्द उन जातियों के अर्थ में रूढ़ होता जा रहा है जिन्हें पहले अछूत या हरिजन कहा जाता था इनके लिए कानूनी शब्द 'अनुसूचित जाति' है।[3] नामदेव व ढसाल के अनुसार– ''अनुसूचित जातियाँ, बौद्ध, भूमिहीन कृषक व भटकने वाली सभी जातियाँ दलित हैं।''[4] डॉ. अम्बेडकर के अनुसार 'व्यक्ति एक बार भंगी तो हमेशा के लिए भंगी'।[5] ज्योतिबा राव फूले से डॉ. अम्बेडकर तक तथा दलित पैंथर आन्दोलन सहित वर्तमान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि परिस्थितियों के सकारात्मक परिवर्तन के कारण 'दलित' शब्द व्यापक रूप से प्रचलित होता जा रहा है। ये दलित (डिप्रेस्ड) मध्यकाल में अति शूद्र या अस्पृश्यता या अन्त्यज के रूप में जाने जाते थे। इनके द्वारा समाज व व्यक्ति की स्वच्छता के लिए किए जाने वाले महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य के बावजूद उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। 'अन्त्यज' शब्द- अन्त्य + जन + ड् से निष्पन्न होता है, अन्त्य त्र अन्तिम जत्र होना अर्थात् जो अन्त में उत्पन्न हुआ हो या जिसकी स्थिति अन्त में हो उसे अन्त्यज कहते हैं।[6] ये सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि प्रकार से शोषित थे इन्हें राज्य की तरफ से भी कोई विशेष संरक्षण प्राप्त नहीं था जिससे कि ये अपनी दयनीय स्थिति से उपर उठ सकें। सर्व प्रथम ब्रिटिश काल में इन अछूतों एवं अस्पृश्यों को दलित वर्ग (डिप्रेस्ड क्लास) के नाम से पुकारा गया। बाद में यह शब्द डॉ. अम्बेडकर के दलित नेता के रूप में प्रसिद्धि मिलने से चर्चित हो गया क्योंकि स्वयं डॉ. अम्बेडकर दलित परिवार से थे इस वर्ग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एंव अन्य पक्षों से भली भांति परिचित थे। 1935 के अधिनियम के पहले तक भारत सरकार 'दलित वर्ग' जैसे शब्द का प्रयोग करती थी। 1935 की जनगणना में दलित वर्ग के वर्गीकरण के लिए जिन नौ परीक्षणों का उल्लेख किया गया वे सब छुआ-छूत, मन्दिर प्रवेश और अन्य सामाजिक व्यवहारों पर आधारित थे। 'अनुसूचित जाति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग साइमन कमीशन एवं तत्पश्चात् भारत सरकार 1935 के अधिनियम के तहत 1936 में किया गया। जिसमें असम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मध्यप्रान्त, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त की कुछ जातियों को अनुसूचित जाति' बताया। आज अनुसूचित जाति शब्द एक राजनीतिक एवं वैधानिक शब्द है कुछ लोग दलित शब्द के अन्तर्गत अनुसूचित जन-जातियों को नहीं रखते क्योंकि स्वयं न तो डा॰ अम्बेडकर ने और न ही **प्रख्यात समाजशास्त्री एलेनर जिलियेट** ने ही जन जातियों को दलित के अन्तर्गत रखा जिसका कारण यह है कि विकास की व्यवहारिक स्थिति दलितों और आदिवासियों के लिए अलग-अलग है, दलित तेजी से उत्थान की ओर बढ़ते हुए आधुनिकीकृत शहरीकृत और पश्चिमीकृत होना चाहता है। भारत में आधुनिक युग से पहले अछूतों को अपना नाम चुनने की आजादी नहीं थी, 1933 में इन्हें हरिजन कहा गया जिसे अब अपमानजनक माना जाता है। अंग्रेजों ने अपनी सुविधानुसार इस वर्ग को आउट कास्ट, डिप्रेस्ड कास्ट, एक्सटेरियर कास्ट का नाम दिया।[7]

प्रमुख दलित जातियों को निम्न रूप में देखा जा सकता है– जिनमें महार, जाटव, मेघवाल एवं भंगी जातियाँ प्रमुख हैं। नैमिशराय के अनुसार– 'महार बटालियन' बनने से पहले भी उनका (दलितों) को कितने पराक्रम का इतिहास रहा है। शिवाजी के धर्म निरपेक्ष राज्य निर्माण का आधार भी महार सैनिक थे।[8] नैमिशराय ने अपनी पुस्तक ''भारतीय दलित आन्दोलन'' में लिखा है कि जाटवों का एक गौरवशाली इतिहास रहा है।[9] नैमिशराय ने अपनी पुस्तक ''भारतीय दलित आन्दोलन'' में परिचय देते हुए लिखा है कि मेघवाल समाज आज राजस्थान में अनुसूचित जाति में बहुसंख्यक एवं प्रगतिशील जाति हैं।[10] श्री एन.आर. मलकानी ने लिखा है कि आधुनिक काल में शहरों के विकास के साथ ही भंगी पेशा शुरू हुआ। सबसे पहले मुसलमानों ने इस व्यवसाय की नीव रखी।[11]

दलित उत्थान के प्रबल प्रणेता डॉ. भीम राव अम्बेडकर आधुनिक काल में दलितों के सर्व प्रमुख एवं सर्वाधिक प्रतिभावान, प्रखर एवं मुखर नेता एवं प्रवक्ता थे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर दलितों के मूलभूत मानवीय अधिकारों तथा राजनीतिक माँगों के लिए संघर्ष करने वाले, योद्धा थे जो स्वयं दलित वर्ग में जन्मे थे। वे अपने अध्ययन तथा अपने व्यवसाय के बल पर दलितों के सर्वोपरि नेता का पद हासिल करने में सफल हुये। वे समाज सुधार 'उपकार' के रूप में चाहते थे। डॉ. अम्बेडकर के प्रारम्भिक कार्यक्रम (1920-30) को संस्कृतिकरण के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिसमें सम्मिलित यज्ञोपवीत धारण करना गणपति उत्सव में शामिल होना और मन्दिर-प्रवेश का प्रयास। प्रथम प्रयास अमरावती में किया गया जो विफल रहा। 2 मार्च 1930 को नासिक में कालाराम मन्दिर में प्रवेश के लिए सत्याग्रह छेड़ा गया जो लम्बा चला। इसमें पांच सौ स्त्रियों सहित पन्द्रह सौ सत्याग्रही शामिल हुए। हिंसा की आशंका से पुलिस ने मन्दिर के पट बन्द करवा दिये, जिन पर पहरा बिठा दिया गया। समस्या के शांतिपूर्ण समाधान हेतु जनसभा का आयोजन किया गया परन्तु कट्टरपंथी हिन्दू अड़े रहे। 1935 तक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। यह धार्मिक से अधिक सामाजिक आन्दोलन था हिन्दू समाज के सम्मानित सदस्य होने का अधिकार हासिल करने के लिए। वैसे 1920 में 'मूकनायक' का प्रकाशन आरम्भ करने के अवसर पर ही वे कह चुके थे कि 'यह

कहना कठिन है कि दलित (अस्पृश्य) हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश करें या अपने पृथक मन्दिर निर्मित करें।' [12]

डॉ. भीमराव अम्बेडकर चाहते थे कि दलित मन्दिर प्रवेश और अर्न्तजातीय खान-पान तक ही सीमित न रह जाएं। वे मानते थे कि मंदिर-प्रवेश से दलितों की आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नहीं होगी। दलितों के उत्थान के लिए आर्थिक समस्या का समाधान आवश्यक था। इसके साथ ही वे सवर्ण हिन्दुओं की मानसिकता एवं व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन को भी समस्या के समाधान के लिए अनिवार्य मानते थे जैसा कि ठक्कर बापा (ठक्कर बापा अस्पृश्यता-विरोधी लीग के संयुक्त सचिव थे) के नाम उनके पत्र से प्रकट होता है। डॉ. अम्बेडकर का कहना था कि देश भर में दलितों के नागरिक अधिकारों (सार्वजनिक कुओं के प्रयोग, स्कूलो में प्रवेश आदि) के लिए अभियान छेड़ना आवश्यक था। जिसके लिए कार्यकर्ताओं की सेना खड़ी करने की आवश्यकता थी जो दलित वर्गो से भी भर्ती किए जा सकते थे। समस्या के समाधान के लिए संघर्ष का छिड़ना भी उनकी दृष्टि में अवश्यम्भावी था क्योंकि महाड़ में चावदार तालाब, नासिक के काला राम मन्दिर तथा गुरुवायूर मन्दिर के सन्दर्भ में छेड़े गये अभियान से प्रकट हो गया था कि 'सुधारकों के लाखों दिनों तक प्रवचन' से भी इतनी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी। वे अनुभव करते थे कि दलितों का प्रश्न आत्म-सम्मान का प्रश्न था। सन् 1930 के बाद अम्बेडकर ने मन्दिर प्रवेश आदि से सम्बन्धित प्रयास या कार्यक्रम त्याग दिये और अपना ध्यान समुदाय के शैक्षणिक उत्थान एवं राजनीतिक प्रस्थिति के उन्नयन पर केन्द्रित किया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की जीवन शैली में सुधार के प्रयास किये। उन्होंने मृत पशुओं को फेंकना, उनका मांस खाना, मदिरा पान करना भीख मांगना आदि के त्याग के लिए, पढ़ने लिखने, बच्चों को शिक्षित करने, खानपान, वेशभूषा सुधारने, स्वच्छ रहने और हीनता की भावना त्याग कर आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान की भावना का आह्वान किया। ब्रिटिश सरकार ने नवम्बर 1930 में लन्दन में गोल मेज सम्मेलन आहूत किया। इसमें उपस्थित डॉ. अम्बेडकर ने भारत में अस्पृश्यों की दशा का वर्णन करते हुए कहा कि ''एक सौ पचास वर्षो के ब्रिटिश शासन के बाद भी अस्पृश्यों की स्थिति में तनिक भी अन्तर नहीं आया था।'' अस्पृश्यता के आधार पर पुलिस और सेना में उनके प्रवेश को रोका। अतः डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गो की संस्कृति, धर्म तथा आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक मूल-भूत अधिकारों की घोषणा तैयार कर अल्पसंख्यक उपसमिति के समक्ष रखी। उन्होंने भारत के भावी संविधान में दलितों, अस्पृश्यों के लिए जिन सुरक्षाकवचों की मांग रखी उनमें सरकारी सेवाओं में भर्ती, भेदभाव विरोधी विधान और दलितों वर्गो की देख-रेख के निमित्त विशेष विभाग की स्थापना के साथ ही पृथक निर्वाचन का अधिकार भी शामिल था।[13]

डॉ. अम्बेडकर की सम्मति में वर्ण व्यवस्था की अस्पृश्यता की जड़ थी और अस्पृश्यों को हिन्दू समुदाय में आत्मसात करने के लिए वर्ण व्यवस्था का परित्याग अनिवार्य था। जबकि गांधी जी चाहते थे कि हिन्दू धर्म की त्रुटियां या दोषों को दूर कर उसके आदर्श स्वरूप की पुनर्प्रतिष्ठा की जाये वहीं डॉ. अम्बेडकर को स्वयं इन आदर्शो के प्रति ही शंका थी। उनका कहना था कि छूआ-छूत मानने वाले हिन्दू बुरे हिन्दू नहीं बल्कि अपने धर्म का (जैसा उन्हें बताया गया था) पालन करने वाले थे। उनके आचरण में सुधार शास्त्रों की सत्ता का उन्मूलन करने पर ही सम्भव था। आघातकारी सिद्धान्तों का उन्मूलन कर और वंशानुगत पुरोहित पद का अंत कर एक मानक ग्रन्थ अपनाने और प्रमाणित और लाइसेंसधारी पुरोहित वर्ग की स्थापना करने पर हिन्दू धर्म में सुधार हो सकता था।[14] सन् 1946 में संविधान सभा के लिए निर्वाचन हुए (विभिन्न प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में) डॉ. अम्बेडकर अनुसूचित जाति के प्रतिनिधियों तथा मुस्लिम लीग (बंगाल एसेम्बली) की सहायता से चुने गये। इससे डॉ. अम्बेडकर को दलितों के उत्थान से सम्बन्धित प्रावधानों को स्वतंत्र भारत के संविधान में समाहित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात गठित सरकार में प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरु ने डॉ. अम्बेडकर को विधिमंत्री के रुप में शामिल किया, साथ ही उन्हें संविधान की ड्राफ्ट कमेटी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इससे सामान्यतः समस्त भारतीयों और विशेषतः दलितों के हित में कार्य करना उनके लिए अधिक सुगम हो गया।[15]

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि अछूतों का स्वयं का दृष्टि-कोण भी अछूतों की वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी था। अतः उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अछूतों को अपनी बुरी आदतों को छोड़ देना चाहिए और हीनता की भावना का त्याग करके आत्म विश्वास की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि अछूतों में स्वतंत्रता समानता और स्वाभिमान से जीवन व्यतीत करने की इच्छा होनी चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि अछूतों को संगिठत होना चाहिए तथा शिक्षा प्राप्त करके अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष करना चाहिए। उन्होंने अछूतों को सरकारी नौकरी में जाने तथा खेती करने का सुझाव दिया। वस्तुतः उन्होंने अछूतों तथा दलितों के उत्थान के लिए शिक्षा तथा स्त्री सुधार पर अधिक बल दिया। डा॰ अम्बेडकर अछूत तथा दलितों के लिए समर्पित सामाजिक और राजनीतिक विचारक थे। उनका उद्देश्य अछूतों तथा दलितों का उत्थान करना था। वे सामाजिक भेद-भाव मिटाकर समानता स्थापित करना चाहते थे।[16] संविधान में धर्म निरपेक्ष राज्य तथा अस्पृश्यता अपराध अधिनियम उन्हीं की देन है। वे प्रबल देश भक्त तथा राष्ट्र की एकता के प्रबल समर्थक थे। वे प्रारम्भ से ही राजनीतिक स्वतंत्रता के भी समर्थक रहे परन्तु उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य तथा अछूतों के लिए सम्मान पूर्ण जीवन की परिस्थितियाँ उत्पन्न करना था तथा समाज को समानता के आधार पर भेद-भाव तथा शोषण से बचाना था।

परिणामतः वे राजनीतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा पहले समाज सुधार चाहते थे। इसलिए कहा जाता है कि 'डॉ. अम्बेडकर' राजनीतिक व्यक्ति न होकर प्रमुख समाज सुधारक थे। आधुनिक भारत के महान विद्वान के रूप में देश के सामने उभरने वाले एक ऐसे मसीहा थे जिन्होंने दलितों के उत्थान के लिए मुख्य प्रणेता के रुप में लगातार संघर्ष किया। जिसका सुपरिणाम वर्तमान भारत में देखने को मिल रहा है और अब दलित अपने अस्तित्व, मान, सम्मान, अस्मिता एवं अधिकारों को प्राप्त करने हेतु स्वंय संघर्षरत हैं, जिसका सारा श्रेय दलितोत्थान के प्रबल प्रणेता डॉ. भीमराव अम्बेडकर को जाता है।

सन्दर्भ

1. जिज्ञासा, ए रिसर्च जरनल, वाल्यूम द्वितीय, अंक 4, दिसम्बर 2009 पृ. 264
2. जी.पी. गौतम, दलित महिला सशक्तिकरण एवं वैश्वीकरण, कला प्रकाशन, वाराणसी, 2011, पृ॰ 99
3. राजकिशोर, 'अगर मै दलित होता'– धर्मयुग पत्रिका, मई 1994 पृ॰ 22
4. वृहरित स्मृति, 7, 181-2, पृ॰ 273
5. वही, 7, 181-2, पृ॰ 273
6. आम्टे, वामन शिवराम : संस्कृत हिन्दी कोश, पृ.50
7. गंगवार, रामपाल एवं नीलम सिंह दलित विमर्श, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 1-2
8. गंगवार, रामपाल एवं नीलम सिंह दलित विमर्श, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 6
9. नैमिशराय, भारतीय दलित आन्दोलन का इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, मुम्बई, 2013
10. गंगवार, रामपाल एवं नीलम सिंह दलित विमर्श, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 7-8
11. प्रकाश भातम्ब्रेकर, नरक सफाईः हिन्दी अनुवाद, मूलतः अरूण ठाकुर एवं मुहम्मद खान कृत, राधाकृष्ण प्रकाशन, मुम्बई, 1996
12. वी॰पी॰सिंह, आर॰एन॰ द्विवेदी कमजोर वर्गो का समाजशास्त्र, वाराणसी प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, 1998, पृ॰सं॰ 168-69
13. वही, पृ॰सं॰ 169-71
14. कीर, धनञ्य, डा॰ अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, 1995, पृ॰ 128
15. पाटनकर एण्ड एमवेट, 'द दलित लिवरेशन मूवमेन्ट इन कालोनियल पिरीएड, 1979 इकोनामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, अंक-14, पृ॰ 409, 424
16. सलीम एम., डॉ. बी. आर. अम्बेडकर : ए ग्रेट वारियर अगेन्स्ड अन्टचिबिलिटि (सम्पादित) भारत रत्न डॉ. अम्बेडकर, आर.बी. राव, चुक पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 1993, पृ0 242-247

सन्त कबीर एवं रैदास की निर्गुणोपासना : एक अवलोकन

प्रो. मंगला कपूर एवं प्रतिमा गुप्ता***

भारतीय इतिहास में उत्तर भारत के सन्तों की परम्परा प्राचीन काल से समयानुसार कुछ परिवर्तनों के साथ आज तक चली आ रही है। ये अपने स्वानुभूति पर आधारित ज्ञान को अधिक महत्व देते हैं, इनकी रचनाओं में गहरी भावानुभूति दिखाई पड़ती है।

सोलहवीं शताब्दी भक्ति काव्य के समन्वय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है, क्योंकि इसी शताब्दी में सूरसागर के रचयिता सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रतीक कबीरदास, दादूदयाल, रैदास आदि अनेकों सन्त हुए। इन सन्तों ने भक्ति मार्ग द्वारा समाज में उपस्थित रूढ़िवादी परम्पराओं का विरोध किया। सन्त कबीर और रैदास को निर्गुणधारा का प्रमुख कवि माना जाता है।

कबीर और रैदास जैसे बहुत कम कवि हैं, जो अपनी उदात्त प्रतिभा के बल पर अशिक्षितों और जनसाधारण के विचारों को परिष्कृत करके उन्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं। मध्यकाल में धर्म, समाज, संस्कृति और राजनीति में एक सृजनात्मक क्रान्ति का बीजारोपण हुआ और जीवन के व्यावहारिक पक्ष के नये मूल्यों की उपयोगिता सामने आई। उस समय हिन्दू और मुसलमान तथा ब्राह्मण और शूद्र के बीच की खाइयाँ गहरी होती जा रही थीं, जिसको पाटना आसान नहीं था; तत्कालीन सन्तों ने अपने व्यापक दृष्टिकोण से धर्म के मर्म को समझा, इसे दूर करने के लिए सन्तों ने रूढ़िबद्ध धार्मिक, सिद्धान्तों और सामाजिक अंधविश्वासों का विरोध किया। अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार-प्रसार करने के लिए उन्होंने काव्य को माध्यम बनाया।

सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उपेक्षित और हेय जातियों में उत्पन्न इन सन्तों में वैदिक परम्परा के प्रति न तो आस्था थी और न इसके अध्ययन के प्रति रूचि। अधिकांश सन्त अशिक्षित या अल्प शिक्षित थे जो अनुभव पर बल देते थे। इनके द्वारा भक्ति की जो गंगा प्रवाहित की गई उसमें अवगाहन करने का अधिकार सभी को था, किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं था। यही समतामूलक भक्ति का आवेग सन्तों के विराट व्यक्तित्व की आन्तरिक संकल्प शक्ति, क्रान्तिकारी ऊर्जा तथा नैतिक आदर्श का सम्बल पाकर प्रबल वेग से उभरता हुआ, सभी प्रकार की विषमता-तरूओं को झकझोरता हुआ पूरे भारतीय समाज में एक नई लहर पैदा कर गया।

सन्त कबीर और रैदास को मध्यकालीन (भक्तिकालीन) सन्त माना जाता है। मध्यकाल में भक्तिकाव्य की मुख्य दो शाखाएँ हैं– सगुण और निर्गुण। सगुण भक्ति काव्य में रामकृष्ण के साकार ब्रह्म की उपासना का वर्णन किया गया है। निर्गुण भक्तिकाव्य में निराकार रूप की उपासना व आन्तरिक साधना पर बल दिया गया है। निर्गुण भक्ति में कबीर और रैदास के अतिरिक्त मलूकदास, नानक आदि प्रमुख कवि हुए।

श्रीमद्भगवत् के अनुसार भक्ति की तीन कोटियाँ हैं– तामसी, राजसी और सात्विकी। इन तीनों से परे की भक्ति निष्काम भाव की भक्ति है। पराभक्ति ही यह अहैतुकी भक्ति है जो अव्यार्हित होती है, इसी को निर्गुण भक्ति कहा गया है। रामानंद स्वामी ने बताया है कि विकृष्ट प्राकृत गुणों से जो रहित हो, उसे निर्गुण कहते हैं तथा दिव्य गुणों से परिपूर्ण भगवान का सगुणत्व सिद्ध होता है।

''निर्गुण शब्द अपने पारिभाषिक रूप में सत्वादि गुणों से रहित या उनसे परे समझी जाने वाली किसी ऐसी अनिर्वचनीय सत्ता का बोधक है, जिसे बहुधा परम तत्व, परमात्मा अथवा ब्रह्म जैसी संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया जाता है।'' –हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ.5

निर्गुण भक्तिधारा के कवियों ने ईश्वर के निर्गुण निराकार रूप की उपासना पर बल दिया। उन्होंने भजन, पूजन आदि के विधि विधान की आवश्यकता स्वीकार नहीं की।

सगुण भक्तों ने भगवान के अवतारों में राम कृष्ण को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इन दोनों अवतारों के आधार पर सगुण भक्तिधारा का दो उपधाराओं के रूप में विभाजन मिलता है, रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना में योगियों ने निर्गुण ब्रह्म पर बल दिया।

निर्गुण विचारधारा का दूसरा मुख्य तत्व यह है कि उस ब्रह्म तक दर्शन-शास्त्र रूप में पहुँच नहीं, फिर भी उसका साक्षात्कार सम्भव है वह निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के माध्यम से ही द्रष्टव्य है। निर्गुण विचारधारा के अन्तर्गत ईश्वर को पाने के लिए पहली और अन्तिम बात है आत्मसमर्पण। निर्गुण विचारधारा का तीसरा प्रमुख तत्व है गुरु का महत्व। चौथी निर्गुणोपासक सन्तों ने नाम स्मरण के महात्म्य पर जोर दिया। निर्गुण विचारधारा में भगवत् प्राप्ति के ज्ञान, कर्म, योग आदि साधनों के साथ प्रेम योग को भी साधनरूप में स्वीकार किया गया है।

---

*निर्देशिका, गायन विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नारदीय सूक्त में सर्वप्रथम निर्गुण ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जिसे मूल सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। वह प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। इसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। मूल सत्ता के स्वरूप की साधना दो रूपों में की जाती है। ईश्वर के साकार रूप में विष्णु के अवतारवाद का आधार भक्ति का साधन बना है जबकि निर्गुण ब्रह्म की भक्ति उसके निराकार होने के कारण ज्ञान चेतना पर आधारित है। वस्तुतः सगुण और निर्गुण इसी मूल सत्ता के दो रूप है।

ऐतरेय और बृहदारण्यक में कहा गया है कि पहले आदिकाल में केवल सहआत्मा मात्र थी। छांदोग्य में कहा गया है, यह सब कुछ आत्मा ही है। ''बृहदारण्यक फिर कहता है– आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इसी तरह छांदोग्य कहता है- आदि में केवल सत् था दूसरा कुछ नहीं था। मुंडक में कहा गया है कि यह सब कुछ ब्रह्म है। इन सब वाक्यों में ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। ''मैं ब्रह्म हूँ।''

वास्तव में निर्गुण ब्रह्म की स्वायत्त प्रतिस्थापना ही कबीर आदि सन्तों का एक क्रान्तिकारी मुद्दा रहा है जिसके तहत उनके सामंत विरोधी सांस्कृतिक प्रयत्न अन्तर्निहित है।

निर्गुण ब्रह्म की उपासना की परम्परा विशुद्ध रूप से भारतीय है और सगुणोपासक भागवत् धर्म में कहीं इसका विरोध नहीं है किन्तु निर्गुण की उपासना कठिन होने के कारण उतना महत्व नहीं प्राप्त कर सकी जितना सगुणोपासना।

सन्त कबीर की निर्गुणोपासना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीरदास पहले भक्त हैं जिन्हें भक्त के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। उनके सम्बन्ध में नाभादास ने लिखा है कि ''वे भक्ति विमुख धर्म साधनाओं को अधर्म मानते थे। उन्होंने भक्ति की तुलना में योग, यज्ञ, व्रत, दान सभी को तुच्छ बताया है। भक्ति ही मूलतत्व है जो कबीर को नाथपंथी योगियों की परम्परा से अलग करती है।

योग के भक्ति में रूपान्तरण की प्रक्रिया में कबीर ने जिस भक्ति का निरूपण किया उसका स्वरूप निर्गुण भक्ति का था। जीव सर्वव्यापक ब्रह्म का अंश है। माया के बन्धनों के कारण यह अपना वास्तविक स्वरूप भूल गया है। प्रेम और भक्ति ही वह मार्ग है, जिसके द्वारा वह इन बन्धनों से मुक्त होकर अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। कबीर ने ब्रह्म के इसी सर्वव्यापक निर्गुण रूप को आराध्य बताया, क्योंकि परमात्मा का वास्तविक रूप यही है, किन्तु उनकी निर्गुण भक्ति के स्वरूप का निर्माण अनेक तत्वों से हुआ है। इसमें ज्ञान भी है, योग भी है और सगुण भक्ति में पाये जाने वाले समर्पण भाव, अनन्य अनुराग भी। अतः उनकी भक्ति को कोई एक नाम देना उचित नहीं, यद्यपि प्रधानता निर्गुणत्व की है। उनकी भक्ति का स्वरूप समन्वयात्मक है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भक्ति को निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्तर्गत रखा है। इसका कारण इनकी भक्ति में ज्ञान तत्व की प्रधानता है। निर्गुण ब्रह्म की प्रतीति ज्ञान और तर्क के द्वारा कराई जाती है। उन्होंने अवतार, मूर्ति, पूजा, ईश्वर के सगुण रूप की उपासना तथा बाह्य विधानों का खण्डन किया तथा तर्क और बुद्धि के द्वारा शरीर के भीतर ही परम तत्व के अन्वेषण पर बल दिया। भक्ति में ज्ञान और तर्क का सहारा धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के खण्डन तथा आचार की पवित्रता को स्थापित करने के लिए किया। ज्ञान की सीमा जहाँ से समाप्त हो जाती है वहाँ से भक्ति आरम्भ होती है। भक्ति अनुभूति का विषय है और ज्ञान का आधार तर्क है। परमात्मा के विराट् स्वरूप को तर्क द्वारा जाना नहीं जा सकता, इसे भावना के केन्द्र में उतारा जा सकता है।

ज्ञान और तर्क के द्वारा रूढ़ियों के खण्डन और आन्तरिक परिष्कार के बाद कबीर भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और यही उनके दर्शन का मूल प्रतिपाद्य है। इस भक्ति में प्रेम और समर्पण की प्रधानता है। यही उनकी प्रेमा भक्ति है। भक्ति के इस रूप में निर्गुण और सगुण दोनों मिश्रित रूप में विद्यमान है। कबीर ईश्वर को सर्वव्यापक एवं निराकार रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे बोधगम्य और भक्ति का विषय बनाने के लिए 'राम' कहते हैं। मूर्त आधार के प्रति ही प्रेम और भक्ति निवेदित की जा सकती है। प्रेम ही वह आधार बिन्दु है जहाँ निर्गुण और सगुण का भेद मिट जाता है।

कबीर ने जिस ईश्वर का निरूपण किया है उसका स्वरूप निर्गुण है। उसका कोई आकार नहीं, उसका कोई प्रतिरूप नहीं, वह पुष्प की गन्ध से भी सूक्ष्म है–

''जाके मुह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहप बास से पातला, ऐसा तत अनुप॥''
''बिन मुख खाइ चरस बिन चाले, बिन जिह, गुण गावै।''

कबीर के अनुसार राम नाम के सच्चे मार्ग को पहचान लेने पर बाह्योपचार का कोई महत्व नहीं रह जाता और यही सहज, भक्ति प्रेम भक्ति कहलाती है। कबीर ने इसे ''हरिसू गठजोरा'' कहा है। मन वचन कर्म से रामनाम का स्मरण करना ही सबसे बड़ा साधन है। कबीर भक्त को ज्ञानी कहते हैं, उसके लिए बाह्याचारों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता–

''माथे तिलक हथिमाला बाना,
लोगन राम खिलउना जाना।''

कबीर ने भक्ति में राम नाम को बहुत महत्व दिया है, इसका यशोगान वे निरन्तर करते हैं–

''राम नाम निज अमृतसार,
सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार।''

कबीर कहते हैं कि भक्ति एक मूल्यवान वस्तु है–

''भगति भजन हरि नाव है, दूजा दुक्ख अपार
मनसा वाचा क्रमना, कबीर सुमिरण सार।''

कबीर राम के प्रेम (भक्ति) में इतने डूब गये हैं कि उन्हें लोक निन्दा की परवाह नहीं। वे स्वयं को राम का कुत्ता कहते हैं-

''कबीर कुत्ता राम का, मुतिया मेरा नाउँ,
गलै राम की जेवड़ो, जित खैचे तित जाऊँ।''

कबीर के समर्पण भाव का यह चरम रूप है। इसी भाव से प्रेरित होकर मन को समझाते हुए वे कहते हैं कि संसार में तुम्हारा कुछ नहीं है जो कुछ है वह ईश्वर का है। इस समर्पण भाव के उत्पन्न होने पर शरीर का सब कुछ परमात्मा का हो जाता है इसके सारे पाप-पुण्य और चेष्टाएँ उसी की हो जाती है।

इस अवस्था में पहुँच जाने पर अहं का पूर्ण विलयन परम तत्व में हो जाता है। कबीर भी राम का नाम लेते ही राम मय हो गये हैं। उनका मैं अब तुममें बदल गया है वे जिधर भी देखते हैं, तुम ही दिखलाई पड़ता है।

''तूं तूं करता तूं भया, मुझमें रही न हूं।
बारी फेरी बलि गई, जित देखौ तित तूं।''

सन्त रैदास की निर्गुणोपासना

सन्त रैदास निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। सन्त रविदास ने इस जगत के कर्त्ता 'राम' को ही सत्य माना है। वे अपने उपास्य देव को राम, हरि, माधव, गोविन्द, मुकुन्द मुरारे आदि अनेक नामों से पुकारा है, किन्तु उनके राम, दशरथ पुत्र राम अथवा गोकुल के कृष्ण नहीं हैं। उनकी दृष्टि में तो कर्त्ता एक है और वही सच्चा राम है। सन्त रैदास निर्गुण ब्रह्म के अनन्य उपासक थे, उन्होंने भावातिरेकवश राम के सगुण रूप के प्रति अनुराग व्यक्त किया है जैसे–

''दर्शन दीजै राम, दर्शन दीजै, दर्शन दीजै राम, विलम्ब न कीजै,
दर्शन तोरा, जीवन मोरा, बिन दर्शन क्यों जीव चकोरा।''

रैदास के राम, जो निर्गुण, निराकार है, जिसका कोई आदि और न अन्त है, जो–

''निश्चल, निराकार, अति अनुपम, निरभै गति गोविन्दा।
अगम, अगोचर, अक्षर अतरक, निर्गुण अति-आनन्दा।।''

अपने ब्रह्म का परिचय देते हुए वे श्रीमद्भगवत् गीता में दिए गए उसके विराट स्वरूप का समर्थन करते हैं–

''चरण पताल सीस असमाना, सो ठाकुर कस संपुट समाना।।2।।
शिव सन्कादि अंत न पाया, ब्रह्म खोजत जनम गँवाया।।3।।
नख परस्वेद जाके सुरसरि धारा, रोमावली अट्ठारह भारा।।5।।
चार वेद जाके सुमिरत साँसा, भक्ति हेतु गावत रैदासा।।6।।''

ऐसे कतिपय पदों के आधार पर न तो इन्हें सगुणमार्गी भक्तों की कोटि में लाना न्यायसंगत होगा और न इन्हें अवतारवाद उद्घोषित करना ही उचित होगा। इनका सम्पूर्ण जीवन, मूर्तिपूजा एवं बहुदेवोपासना के विरोध में बीता। इन्होंने जहाँ भी ब्रह्म का सगुणवत वर्णन किया है वह भावना के आवेश में ही किया है।

सन्त कबीर की तरह रैदास भी निराकार, निर्गुण, निरंजन की उपासना करते हैं। रैदास कहते हैं कि सच्चे निष्काम भक्त वे ही जो राम को वर्ण रहित कहते हैं–

''वर्ण रहित कहैं जे राम, सो ममता केवल निहकाम।''

सन्त रैदास ने मन की पूजा को महत्व दिया है उन्होंने कर्मकाण्ड का विरोध किया–

''मन ही पूजा, मन ही धूप, मन ही सहज सरूप
पूजा अरजा न जानू तेरी, कह रैदास, कवन गति मेरी।''

सन्त रविदास में सत् असत् प्रवृत्तियों का चिन्तन शाश्वत स्वरूप में निर्मित होता है। लोहा पारस के स्पर्श से सोना बन जाता है परन्तु सन्तों का संग तो मनुष्य को संतरूपी बना देता है। संत रविदास और अन्य निर्गुण कवि सामाजिक मूल्यों का अनुसरण करते हुए उसकी विकृतियों को दूर करने का प्रयास करते हैं।

सन्त रैदास सत्य को आधार बनाकर आध्यात्मिक सत्यों का निरूपण करते हैं, उन्होंने निर्गुण को स्वीकार किया है परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए वे सार्थक गुणों की आवश्यकता पर बल देते हैं। निर्गुण भक्ति का यह दृष्टिकोण समाज में व्याप्त धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के बाह्याचारों और खोखली मान्यताओं और विश्वासों की कमजोरी और निरर्थकता को बड़ी मार्मिक उक्तियों से प्रदर्शित करते हैं। रैदास ने अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों की जड़ों पर प्रहार किया। उनकी वाणी की वेदना भीतर से छटपटाहट पर नई सोच और दृष्टि प्रदान करती है।

उन्होंने मूर्तिपूजा और बहुदेवपाद का अत्यन्त कठोर शब्दों में खण्डन किया है, उन्होंने एक मात्र ईश्वर की पूजा का उपदेश दिया है, रविदास का कहना है कि हरि सा हीरा छोड़कर दूसरे अवतारों की आशा रखना मूर्खता है–

''हरि सा हीरा छाड़ि के, करी आन की आस,
ते नर दोजख जाहिगे, सत भाषै रविदास।''

वे प्रेम भक्ति का मार्ग अपनाने का उपदेश देते हैं–

''करि बंदगी छाड़ि में मेरा; हिरदे नाम समारि सवेरा।''

वे किसी देवी या देव की भक्ति का साधन नहीं अपनाते। वे तो सीधे हरि के साथ जुड़े हैं, और उसके दर्शनों के लिए प्रेरित करते हैं। वे उसके प्रेम में ही मग्न हो जाते हैं-

''जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा।
जउ तुम चंद तउ हम भए है चकोरा।''

विषय विकारों से मन को मोड़कर ही प्रभु से प्रेम किया जा सकता है कोई भी व्यक्ति दो नावों में कदम रखकर पार नहीं जा सकता।

रविदास जी कहते हैं कि प्रभु भक्ति द्वारा मनुष्य प्रभु हो जाता है चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। प्रभु को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि-

''तोहि मोही मोही तोही अन्तरू कैसा
कनक कटिक जल तरंग जैसा।''

श्री वियोगी हरि का वक्तव्य है- कबीर रैदास आदि की वाणी को छूते ही ऐसा लगता है कि अलौकिक महारस का पूर्ण परिपाक तो यहीं पर हुआ है। साहित्यालोचकों के यह कथन अर्थशून्य-से जंचे कि ''इन सन्तों की अटपटी रचनाओं में न साहित्यिक सरसता है न संगीत की लय है और कला की ऊँची अभिव्यंजना ही और भाषा भी उनकी ऊबड़ खाबड़ सी है।''

सन्त शूद्र और निम्न जातियों के प्रतिनिधि थे। इसलिए प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादियों को इन सन्तों की रचनाएँ अस्पष्ट, ऊटपटांग, अव्यवस्थित सी लगी।

निर्गुण काव्य में कविता का प्रयोजन केवल मनोरंजन या आत्मनिवेदन तक ही सीमित नहीं था बल्कि उससे समाज को जागरूक भी करना था। निर्गुण ब्रह्म का वर्णन तो असम्भव है क्योंकि वहाँ तक न मन पहुँच सकता है न वाणी, न इन्द्रियाँ। उसका केवल संकेत मात्र किया जा सकता है।

सन्त कबीर की तरह रैदास भी ऊँच नीच अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, जाति बन्धनों आदि की कठोरता के सख्त खिलाफ थे। वे समता के गायक थे। सर्वहारा, उपेक्षितों के लिए परमात्मा के द्वार खोलते हैं।

समदर्शी कवि रविदास, कबीर ने निर्गुण निराकार ब्रह्म को दिग्भ्रमित और निराश जनमानस में ज्ञान की अखण्ड ज्योति के रूप में परिभाषित किया। यह आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना का नया प्रयोग था। सन्तों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों, बाह्याडम्बर का विरोध किया, समाज ने निम्न जातियों में ज्ञान, ध्यान, विद्या का प्रसार किया।

इतिहास सदैव स्मरण रखेगा कि रविदास और कबीर जैसे सन्तों ने सामाजिक, धार्मिक एकरूपता की प्रतिष्ठा और समाज को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राय, डॉ. चन्द्रदेव, कबीर और रैदास एक तुलनात्मक अध्ययन, सौहार्द्र प्रकाशन, आजमगढ़, पेज नं. 196, 197
2. सिंह, प्रो. वासुदेव, कबीर साहित्य साधना पंथ, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1993, पेज नं. 57
3. गौतम, डॉ. मीरा, संत रविदास की निर्गुण भक्ति, निर्मल पब्लिकेशन्स, कबीर नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998, पेज नं. 34, 48, 50, 49
4. डॉ. तिवारी, रामचन्द्र, कबीर मीमांसा, लोक प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1976, पेज नं. 77, 89
5. प्रसाद डॉ. जगदीश्वर, कबीर की प्रगतिशील चेतना, नई कहानी, आलोपी बाग, इलाहाबाद, प्रथम संस्कारण 1993, पेज नं. 78 79, 81
6. शर्मा, डॉ. ब्रजभूषण, कबीर चिन्तन, वाणी प्रकाशन, 4697/21ए, नई दिल्ली, प्रथम संस्कारण 1992, पेज नं. 57, 58, 59
7. चंचरीक-कन्हैया लाल, सन्त रविदास जीवन और दर्शन, यूनिवर्सिटी पब्लिकशेन, नई दिल्ली, संस्करण 1999, पेज नं. 30, 33, 51
8. बेगमपुरा सोवीनर, 2004, पेज नं. 141

प्राचीनमकरन्दीय पञ्चाङ्ग के ग्रहर्क्ष के अनुसार शीतताप प्राकृतिक आपदाएँ वर्षा (वृष्टि) एवं कृषि का निर्धारण –एक समीक्षा

*प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र**

1. शीत ताप आपदाएँ एवं वर्षा (वृष्टि)

मकरन्दीय सौरपञ्चाङ्ग विकृत सायनवादियों तथा दृग्वादियों (प्रतिबिम्ब को सर्व मूल मानने वाले) की दृष्टि से अशुद्ध है, लेकिन सर्वविध प्रभावशास्त्र (Effect releted scinces & Time space releted effecte indicating system of Jyotish Sanhita) की दृष्टि से यह पद्धति आज भी महत्वपूर्ण है। सौरपक्ष का क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिक ग्रहानयन तथा कक्षावृत्तीय दृग्ग्रह एवं ग्रहणादि उदयास्त निर्धारण प्राचीन तथा नवीन दोनों खगोलशास्त्र से संभव है। सूक्ष्मनिरयण (अचलनक्षत्रात्मकराशिचक्र) एवं सायन (चल बसन्त संपात) की दृष्टि से प्राचीन पद्धति में कालान्तरसंस्कार आपेक्षित होने पर भी योगजप्रभाव (Combind effect) की दृष्टि से ये सभी आज भी महत्वपूर्ण है। हम तथा हमारी पृथ्वी ब्रह्माण्डीय प्रभावों से कैसे प्रभावित होती है, तथा भारतीय ज्योतिष इन्हें कैसे निर्धारित करता है, इसका निर्धारण संघीय उद्यम साध्य है। सूक्ष्म कालगणना से विभिन्नस्थितियां विभिन्नरुपक प्रभावों को जान सकने के स्पष्टविधान प्राचीन शास्त्रो में आज भी प्राप्त हैं।

देश में युगभिप्रायिक पञ्चाङ्गपद्धति का मूल सूर्यसिद्धान्त तथा सिद्धान्तदर्पण, सिद्धान्तसेतु तथा प्रसिद्ध करणग्रन्थ मकरन्दप्रकाश, भास्वती, ग्रहलाघव आदि आज भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त, करण तथा बृहत्संहितादि संहिता ग्रन्थ हमें प्राप्त है, फिर भी भारतीय पंचांग तथा इसके साथ ज्योतिष संहितोक्त मौसम-वातावरण, वृष्टि, कृषि, तथा वास्तुस्थापत्य आदि पूर्णवैज्ञानिक विषय-मुख्य शोधधारा से बहिर्भूत है। इन विधानों को तथा निष्कर्षों के यथार्थ पक्षों को समझना है तो पञ्चाङ्ग कमेटी की रिपोर्ट, अयनांशविमर्श, अयनांश विवेक, शास्त्रशुद्ध पञ्चाङ्गमीमांसा, पञ्चाङ्गवादाचा स्वयं निर्णय आदि के कालगणना जन्य समीक्षाओं को प्रभाव सम्बद्धता की दृष्टि से समझना होगा।

ज्योतिष सभी शास्त्रों की दृष्टि होनें सें सभी प्रयोगक्षेत्रों को 6 षडवेदांग, एवं मीमांसादि 6 आस्तिक दर्शन की सापेक्षता से सही मार्ग निकालनें में गणितसिद्धान्त एवं व्याकरण के व्युत्पत्ति विधान के आलोक में तर्क+गोल+यन्त्र की निष्पत्ति से सभी तथ्य गम्य हो सकते है। सही गम्यत्व एवं बोध के विकास से सारे अर्थ तथा पूर्वानुमान यथार्थ तथा प्रत्यक्ष से ठीक-ठीक मिलेंगे।

सौरग्रह के तीनों रुप राशिगत 1. क्रान्तिवृत्तीय स्थानीय, 2. विमण्डलीयपार्थिव ग्रहबिम्ब तथा भूगोलीय अन्तरिक्ष में दृश्य 3. ग्रहर्क्ष प्रतिबिम्ब वास्तविकता से कितना अन्तरित हैं, इन्हे गणना तथा वेध से पुनः सत्यापित करना होगा।

इसके प्रथम चरण के शोध से इसका महत्व सभी प्रकार से सिद्ध हो चुका है। दीर्घकालीन गणित तथा वेधजन्य सत्यापन संघीय दृष्टि से सर्वथा अपेक्षित है। प्रभावमात्र क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्राय से तथा दृग्ग्रहमात्र ग्रहबिम्बोदयास्त से सम्बद्ध है, यह प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध है। जो ग्रह दिखाई पडता है उसे दृग्ग्रह तथा क्रान्तिवृत्तीयग्रह (Zodical planet) दृक्सिद्ध है। सौरमण्डलीय सूर्यकेन्द्रिक ग्रह विमण्डलीय वा प्रतिमण्डलीय कहलाते हैं। इन तीनों स्थितियों के अलग-अलग स्वतन्त्र महत्व हैं। अगर ब्रह्माण्डीय गतिपरिवर्त्तन तथा इसमें होनें बाले विक्षेप का निर्धारण ठीक-ठीक हो सका तो पूर्वानुमान का ठीक-ठीक हो पाना संभव हेा सकेगा।

2. नवीनमौसम विभाग तथा पर्यावरणविज्ञान

इनके नाम पर भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकार द्रव्य का मुंह खोलनें में संकोच नहीं करती,वहाँ आज भी Rs. 1000×12×2 = Rs.24000 पाकर पञ्चाङ्ग निर्माण करने वाले केवल दो विशेषज्ञ मानवीय सनातनधर्मनिष्ठा के नाम पर पञ्चाङ्गनिर्माण कार्य का.सिं.द.सं.वि.वि. में तथा तृतीय श्रेणी के कर्मचारी के रुप में का.हि.वि.वि. में वर्षों से करतें आ रहे हैं। नवीन शोध की संभावना से जोड़ने के लिए इस विभाग के अधिकांश द्वार बन्द है।

15वीं शताब्दी में निर्मित मकरन्दप्रकाश के गणीतीय आधार पर तथा बल्लालसेन से 12वीं शताब्दी के संहितोक्तशोध के कुछ मुख्यसूत्रों तथा निष्कर्षों के प्रयोग से आचार्य प्रो. रामचन्द्र झा जी अभी भी समर्पित भाव से का.सिं.द.सं.वि.वि. पञ्चाङ्ग को सम्पादित कर संस्कृतनिष्ठ पञ्चाङ्ग परम्परा को आगे अग्रसारित कर रहे। प्रो. शिवाकान्त झा जी ने अद्भुत सागर का राष्ट्रभाषा में अनुवाद कर, वाराणसी चौखम्भा से प्रकाशित कर अद्वितीय कार्य किया है। पंचांगशोधन तथा भारतीय प्राचीन मौसमविज्ञान के क्षेत्र में प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय नें संकाय प्रमुख, एवं ज्योतिष विभागाध्यक्ष के रुप में तथा प्रो. रामचन्द्र झा ने इस काल खण्ड में भी इस गहन पक्ष को यथा संसाधन के अनुसार आगे बढ़ा रहे, लेकिन ये प्रभाग फिर से सुप्त हो सकते हैं, यदि उपेक्षा का क्रम आगे भी चलता रहा। यद्यपि वि.वा. ओझाजी नें वैदिकविज्ञान के आलोक में वृष्टि विज्ञान+मौसम के क्षेत्र में इस युग

*प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

में नवीनप्रवर्त्तन कर अद्वितीय कार्य किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी आज भी कोई तुलना नहीं है। आवश्यकता इन्हें नवीन सत्यापन की दृष्टि से प्राचीन शोधमानकों के आलोक में पुनः सत्यापित करने की है।

***3. परीक्षणार्थ देखें इस पञ्चाङ्ग की नैसर्गिक भविष्यवाणी** तथा शीत, ताप, वातसंचार, मेघच्छाया, विभिन्न उत्पात, एवं वर्षा की दृष्टि से इसके विविध रुपों की परीक्षा कर सत्यासत्य का सत्यापन करना इस युग में भी संभव है। पञ्चाङ्गों के साधार पूर्वानुमानित तथ्यों का एक वर्ष तक निरन्तर परीक्षण करने का अवसर भी समाज तथा तद्विद् विशेषज्ञों के पास रहता है। अतः आवश्यकता है, कादम्विनी मेघमाला, मयूरचित्रक, वृष्टिप्रबोध, बृहद् दैवज्ञरंजन, ज्योतिर्निवन्ध, अद्भुतसागर, बृहत्संहिता आदि वृष्टिविज्ञान विधायक मध्यकालीन तथा ओझा जी एवं डॉ. धूनिराम त्रिपाठी आदि के ग्रन्थों के आलोक में वर्षव्यापी परीक्षण करनें की। वैदिक अतीन्द्रियता आज संभव नहीं, लेकिन मध्यकालीन चाक्षुषजन्य परीक्षण को नवीन गणितीय तथा प्रेक्षण जन्य सत्यापन एवं यान्त्रिक समन्वय से अद्यतनरुप प्रदान करना संभव है। समस्त संस्कृत विश्वविद्यालयों के साथ तद्तद् विषय सम्बद्ध नवीनविभागों तथा भारत सरकार के वैज्ञानिकप्रतिष्ठानों को सत्यापन के लिए समवेतरुप से आगे आना होगा। इस क्षेत्र में संघीय निवेश तीनों दृष्टि से जरुरी है।*

4. सौरमण्डलीय परीक्षण का सम्वत्सर से सम्बन्ध

इस में गोलीयबिम्ब,एवं प्रतिबिम्ब सम्बन्धित दृश्य ,इनके उदयास्त, संचार, वर्ण, रश्मि, योग, अन्तर, वक्र, मार्ग, संस्थान तथा आकृति विशेष एवं योग विशेष का निर्माण तथा अष्टविधनिमित्तों वा पञ्चविधनिमित्तों का परीक्षण त्रिगोलीय सापेक्षता से समग्र वर्ष पर्यन्त करना आवश्यक है। यदि प्रतिदिन त्रिगोलीय परीक्षण संभव नहीं हो तो कम से कम निम्नांकित चान्द्रमासों में परीक्षण यथार्थ निर्धारण के लिए जरुरी है। यथा– 9.अगहन, 10.पौष, 11. माघ 12. फाल्गुन, 1.चैत्र, 3.ज्येष्ठ तथा 4. आषाढ मास के विशिष्ट तिथियों, में निरयण दृष्टि से चन्द्रनक्षत्रों, के साथ-साथ सूर्यनक्षत्रप्रवेश, ग्रहों के नक्षत्रप्रवेश, सूर्यादि के वर्ण, भूपृष्ठीयतापक्रम, वातावरण, वायु तथा मेघसंचार आदि का विधिवत परीक्षण समग्र राष्ट्राभिप्राय तथा विश्वाभिप्राय से करना संघसाध्य तथा अर्थसाध्य भी है। भारत के प्रायः पञ्चाङ्ग इतने बड़े आर्थिक निवेश निकट भविष्य में कर पायेंगे, यह कहीं से भी नहीं लगता। अतः अगर शोध की दृष्टि से प्राचीन पद्धति की इसी तरह उपेक्षा जारी रही तो, वह दिन दूर नहीं जब हम सर्वथा अपना आत्मनिर्भरत्व खोदेंगे। संस्कृत तथा संस्कृतनिष्ठ ज्ञानविज्ञान से समाज तथा देश जितना दूर होता जायेगा, हम आत्मनिर्भरता से उतना दूर होते जायेंगे। अतः इस परम्परा गत क्रम में भी प्रायोगिक सयन्त्र विधान निवेशित कर समग्र राष्ट्र की दृष्टि से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, खण्डवृष्टि, शारदधान्य एवं ग्रीष्मधान्य निष्पत्ति का विचार शास्त्रोक्त सिद्ध निष्कर्षो से करना आज भी संभव होने से जरुरी है। इस युग में ओझा जी का वृष्टिविज्ञान के क्षेत्र में किया गया अन्वेषण तथा उनकी वैदिकविज्ञान परम्परा आज भी संघीय ध्यानाकर्षण की प्रत्याशा में है। अतः भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकार इन तथ्यों पर ध्यान दें, तो राष्ट्र का यथार्थ परिप्रेक्ष्य में इस दृष्टि से कल्याण संभव होगा।

5. संहितोक्त पूर्वानुमान ज्ञापक विधान

आकाश, राशिमण्डल, नक्षत्र, ग्रह तथा उपग्रह का दिव्य, नाभस, भौम तथा मिश्रप्रभाव सम्पूर्ण पृथ्वी पर कैसे पड़ता है, इसका निर्धारक विधान संहिता है। इसमें उपर्युक्त तथ्यों का सप्रयोग परीक्षण द्वारा ठीक-ठीक निर्धारण संघसाध्य उद्यम का विषय है। यद्यपि इससे सम्बद्ध भारत सरकार के पास कई विभाग हैं, जो मिलकर भौतिक तथा रसायनिक तथा पांचभौतिक निष्पत्ति से जो परीक्षण करते हैं वे भी केवल 36 घंटों तक ही एक हद तक ठीक हो पाते हैं। अतः भारतीय पद्धतियों को भी इन नवीन क्षेत्रों में आज आजमाने की आवश्यकता है। एतदर्थ भारतीयों को संगठित होकर पूर्वसूत्रों तथा निष्कर्षों को फिर से परखना होगा। कुछ निष्कर्ष, कुछ सूत्र तथा कुछ पूर्वानुमान योगज प्रमाण पर निष्कर्ष रुप दिये गये हैं। द्रष्टव्य विश्वविद्यालय का मकरन्दीय पंचांग. का.सिं.द.सं.वि.वि. दरभंगा-2012-13।

6. पंचांग तथा पूर्वानुमान की समवेत पद्धति

इस पंचांग को आज 50 पल (20 मिनट) से 5 घटी (2 घंटे) तक अन्तरित कहा जा रहा। नवीन दृश्यवेध से यह अन्तर होगया है। लेकिन संयोग से इसमें कालान्तरबीज की व्यवस्था भी है, तथा यह युगीयपद्धति का प्रतिनिधि करण ग्रन्थ पर आधारित है। युगीय मध्य से तात्कालिक मध्य तथा युगीय स्फूट से तात्कालिक स्पष्टग्रहादि तथा तिथ्यादि का अन्तर कालगति से नियत है। यह कितना अन्तरित है, निर्धारित करना तीनों दृष्टि से खगोलीयवेध तथा गणितीय सत्यापन से संभव है। कलियुगादि से स्थनाभिप्रायिक भगोलीयग्रहस्थान से, प्रतिमण्डलीय पार्थिवग्रहबिम्ब से तथा कक्षावृत्तीय प्रतिबिम्ब से ठीक-ठीक केवल नाटिकल से हीं नहीं अपितु भारतीय पद्धति से लाने हेतु भारतीय उद्यम को सक्रिय करना जरुरी है। नाटिकल सायनप्रमाण से ग्रहबिम्बप्रतीति एवं प्रतिबिम्बदर्शन आज संभव है, लेकिन केवल वर्त्तमान सूक्ष्मगति प्रमाण से महाभारत की स्थिति अन्तरित होती है,फिर उससे पूर्वकालखण्ड का क्या कहना? कलियुगादिगणना तथा बीजसंस्कार से मकरन्द की पद्धति आज भी महत्वपूर्ण है। आवश्यकता दृश्यादृश्य प्रभेदों को ठीक-ठीक समझकर पहल करनें की है।

7. चान्द्रमासों के वातावरण एवं वृष्टि आदि की दृष्टि से विचार

कार्त्तिक कृष्ण -30/10/2012 से 13/10 तक का सिं द. सं. विश्वविद्यालय के पञ्चाङ्ग के अनुसार दिनांक 30-10 से 3/11 तक वायुसंचार, ताप तथा मेघ संचार का योग ग्रहस्थिति के अनुसार त्रिनाडीचक्र के सैद्धान्तिक परीक्षण पर आधारित है।

दि. 4-11 से 8-11 तक मेघच्छाया, अल्पमात्रा में खण्डवृष्टि तथा वायु संचार एवं पक्षान्त में वायुसंचार, ताप तथा मेघ संचार का योग बना। नक्षत्र तथा ग्रहयोग के त्रिविध निवेश में ग्रहसंचार से त्रिनाडीविचार वर्षा के निर्धारण में महत्वपूर्ण है।

कार्त्तिक शुक्लपक्ष– दिनांक 14-11 से 28-11-2012, 1 प्रतिपदा बुध से 15 पूर्णिमा बु. तक, पक्ष के पूर्वार्ध में वायुसंचार एवं मेघसंचार तथा पक्ष के उत्तरार्ध में मेघच्छाया, वायुसंचार तथा खण्डवृष्टि का योग बनता है।

अग्रहायणकृष्णपक्ष- दि. 21-11 से 13-12-2012, 1 प्रतिपदा बुध से 30 अमा गुरू तक। इस पक्ष के आदि तथा अन्त में मेघसंचार, वायु संचार, सामान्य तापवृद्धि तथा मध्यभाग में वायुसंचार शीत, वृष्टि, तथा छिन्न (जहां तहां बुन्दाबान्दी) वृष्टि का योग बनता है।

अग्रहायणशुक्लपक्ष- दि. 14-12 से 28-12-2012, ति.1 प्रतिपदा शुक्र से 15 दिन का पक्ष है। पक्ष के आदिभाग में शीतवृद्धि, हिमपात तथा वायुसंचार का ग्रहस्थिति से योग बनता है। पक्ष के उत्तरभाग में शीतवृद्धि, वायुसंचार तथा मेघचार संभावित।

पौषकृष्णपक्ष- दि. 21-12 से 11-01-2013 तक 1 प्रतिपदा शनि से 30 अमा शुक्र तक 14 दिनों का पक्ष है तथा त्रयोदशी का क्षय है। पक्ष के पूर्वार्द्धभाग में शीतवृद्धि हिमपात तथा वायुसंचार एवं उत्तरभाग में शीत वृद्धि, हिमपात तथा मैदानी तथा समुद्रतटीय भागों में छिन्नवृष्टि की संभावना है।

पौषशुक्लपक्ष- दि. 12-01-2013 से 27-01-2013 तक तिथि 1 पडिवा शनि से 15 पूर्णिमा रविवार तक। पक्ष के आदिभाग में वायुसंचार, छिन्नवृष्टि शीतवृद्धि, हिमपातादि तथा उत्तरभाग में वायुसंचार, तापवृद्धि लेकिन शीत बना रहेगा ।

माघकृष्णपक्ष- 28-01 से 10-02-2013 तक 1 सोमवार से 30 शनिवार तक कृष्णपक्ष। इस पक्ष के पूर्वार्ध में सामान्य तापवृद्धि के बाद पुनः शीतवृद्धि, वृष्टि, हिमपात, वायुसंचार तथा उत्तरभाग में शीत, मेघ, वायुसंचार संभावित। कहीं-कहीं छिन्न कहीं प्रबलवृष्टि संभावित।

माघशुक्लपक्ष- दि. 11-02 से 25-02-2013 तक पक्षारम्भ 1 प्रतिपदा सोमवार के पक्षान्त पूर्णिमा 15 सोमवार। पक्ष के आदि अन्त भाग में, शीत विद्यमान रहेगा। इसके साथ समेघ वायुसंचार, कहीं कम तथा कहीं-कहीं प्रबलवर्षा का योग वहां पक्ष के मध्य भाग में तापवृद्धि, मेघच्छाया तथा वायुसंचार संभावित।*[2]

फाल्गुन कृष्णपक्ष- दि. 26-2 से 11-03-2013 तिथि-2 मंगलवार से 30 चन्द्रवार तक। पक्ष के आदि अन्तभाग में मन्दवृष्टि, कहीं बर्फ कहीं छोटे-छोटे बर्फखण्ड वर्षा, वायुसंचार तथा मध्य भाग में मेघ छाया, ताप तथा वायुसंचार आदि संभावित।

फाल्गुनशुक्लपक्ष- दि. 12-03 से 27-03-13 तक। दि. 1 प्रतिपदा मं से 15 बुध तक। पक्ष के पूर्वार्द्ध में तापवृद्धि, तीव्रवायुसंचार, अग्निभय, तथा उत्तरार्द्धभाग में झंझावात, उप्पलपात (जमा पानी का छोटा-2 बर्फखण्ड) तथा मेघ छाया संचार संभावित।

चैत्र कृष्णपक्ष- 28-03 से 10-04-2013 तक- दि. 1 प्रतिपदा बु. से 30 अमा बु., पक्ष के पूर्वार्द्ध में मेघ, वायुसंचार, तापवृद्धि, उत्तरभाग में तापवृद्धि वायु तथा आग से भय वृद्धि संभावित।

2.1 वृश्चिक प्रवेश कुण्डली-ग्रीष्मधान्य निष्पत्ति निर्धारक

1. सूर्य का वृश्चिकराशि प्रवेश विचार- का.सिं.सं. विश्वविद्यालय पञ्चाङ्ग के अनुसार सूर्य का वृश्चिक प्रवेश, दि.16.11.2012 तृतीयाशुक्र 25 घ 41 पल, सूर्य 7/01।17'।54'' अयनांश 22'-42'।13'' अयनगति 54' (मध्यगति), सायनसूर्य 7।23'।00''।07''। सूर्य 6-29^0 = समयफल 42।28+ प्रवेशसमय 25/41= 8/9 के समानुपातिक आधार पर प्रवेशलग्न 1 । 9^0। 08।09 (स्थूल लग्न) है। नवीन दृक्सिद्ध तथा दृग्ग्रह से यह कितना अन्तरित हैं, इसका विमर्श पुनः कर्त्तव्य है। मैंने इन तथ्यों की सैद्धान्तिक समीक्षा अयनांश विमर्श में की है, तथा उन्हें अपनें हिसाब से प्रभाव की दृष्टि से ठीक तथा सूक्ष्मप्राचीन सूत्रों को भी ठीक पाया है। कालान्तर जन्य अन्तर से किंचित कालान्तर होने लगा है, जिन्हें सकारण जानकर ठीक करना इस युग मे विधिवत् संभव है।

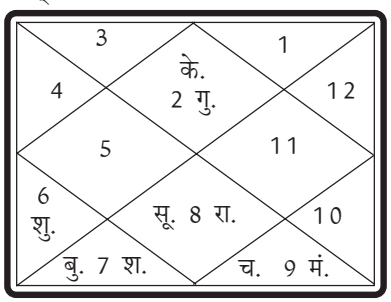

2. ग्रीष्मसस्य निष्पत्ति में वृश्चिकप्रवेश कुण्डली की स्थिति

उपर्युक्त कुण्डली में केतु युक्त गुरू लग्न (प्रथमभाव) में तथा तुलाराशि षष्ठभाव में बुधयुक्त शनि है। केवल 5 भाव त्रिकोण में कन्या में शुक्र तथा भाग्येश कर्मेश शनि षष्ठभाव में बुध से युक्त तथा प्रथम में केतु युक्त गुरु तथा अष्टमभाव में धनु में मंगल तथा चन्द्रमा है। शनि उच्चस्थ अरिष्टनाशक एवं बुध से युक्त है। सूर्य राहु से सप्तम भाव वृश्चिक में एवं गुरू केतु के साथ लग्न में है। ये निम्नांकित सभी सूत्र निरयण सूक्ष्मगर्भीय प्रमाण से तथा निरयणान्तर्भुक्त सूक्ष्मगर्भीयसायन से उभयथा परीक्षणीय है।

सूत्र-1 शुभप्रभावदर्शक-यदि निरयणवृश्चिकराशि में सूर्य का प्रवेश लग्न से शुभग्रह लग्न में हो तथा बली शुभग्रह से युक्त तथा दृष्ट हो तो (1.4.7.10 केन्द्र), (5,9. त्रिकोण) गत होनें पर ग्रीष्म धान्य की वृद्धि करते हैं। यहाँ इस वर्ष 2 शुभग्रह तथा 3 पापग्रह केन्द्र में हैं तथा एक शुभग्रह त्रिकोण में है।

सूत्र-2 अशुभप्रभाव दर्शक-यदि लग्न से त्रिक (6,8,12) भावों में शुभग्रह तथा पापग्रह हो तो शुभग्रह भी रोग, मारकयोग तथा सभी प्रकार का आय-व्यय एवं हानि तथा विनाशादि की स्थिति उत्पन्न करते हैं। इस वर्ष 4 ग्रह त्रिकस्थ हैं। शनि 6 भावस्थ होनें से अरिष्टनाशक भी है, लेकिन अरिष्ट योग उत्पन्न होंगे ।जितने बल निष्पत्ति से लग्नादि 12 भावों पर पापग्रह योग तथा पापग्रह की दृष्टि हो, उसी मात्रा में (100 प्रतिशत के मानक प्रमाण से) गोचर एवं अष्टवर्ग योग जन्य परस्पर सापेक्षिक निष्पत्ति से तथा सर्वतोभद्रचक्र के प्रयोग से सभी तथ्य ह्रास तथा वृद्धि निर्धारित किये जा सकते है। बुध, राहु चन्द्र तथा मंगल फसलों में विभिन्नरोग, दोष तथा उपद्रव से क्षति की स्थिति उत्पन्न करेंगे।

3. ग्रीष्मधान्य का निर्धारण अर्थात् पूर्वानुमान

संहिता एवं होरा दोनों में खगोलीयपद्धति का प्रयोग

ग्रीष्मधान्य (अनाजमात्र निरयणसूर्य का वृश्चिक राशिप्रवेश) तथा शारदधान्य निरयण वृषराशि में सूर्य का प्रवेश निर्धारित करता है। अतः सूर्य का वृश्चिक प्रवेश कालिक लग्न वृषलग्न में गु.+ के तथा कन्या में 5 भावस्थ + शुक्र तुला में तथा षष्ठस्थ+बुध+शनि के साथ उत्तम योगकारक होने पर भी लग्न+केतु तथा सप्तमभाव + राहु से तथा बुध का षष्ठस्थ पापयुति अरिष्टनाशक शनि से एवं सूर्य का राहुयुति वार-वार अन्धकार (धुन्ध), वज्रपात, अतिवृष्टि अनावृष्टि से फसलों को क्षति पहुँचायेगा। 2 लग्न, 7 षष्ठभाव, 8 सप्तमभाव, 9 अष्टमभाव में पापग्रहजन्य युति से दक्षिण, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, उत्तर तथा उत्तरपूर्व में नगर, प्रान्त, देश तथा पृथ्वी पर नानाविध आपत्तियों को उत्पन्न करेंगे तथा बल केन्द्रगत (शत्रु राष्ट्र के प्रभाव से बल केन्द्र गत) विक्षोभ जन्य प्रभाव की निष्पत्ति परीक्षणीय तथा समीक्षणीय है। वायव्य, पश्चिम, उत्तर तथा उत्तरपूर्व भारत में उपर्युक्त बलविक्षोभ संभावित।

शनि उच्चस्थ अरिष्टनाशक तथा बुध भी शुक्र से स्थान विनमय कारक एवं योगकारक है। चन्द्रमा नीचासन्न लेकिन उच्चाभिमुखी है। मंगल गुरु गृही व्ययेश तथा मारकेश होकर युद्धभावस्थ (त्रिकस्थ) है। अतः सीमावर्त्तीक्षेत्र झड़प से धीरे-धीरे युद्ध की ओर बढेगा। इन क्षेत्रों में विदेशी हस्तक्षेप से विध्वंस बढेंगे। ग्रीष्मधान्य निष्पत्ति को कीटादि एवं विभिन्न प्रकार के नाभस उत्पातों से क्षतिग्रस्त होनें के योग हैं। अतः भारतीय हुक्मरानों को प्राकृतिक उत्पात के साथ पाकिस्तान+चीन के षडयन्त्रों से निपटनें के लिए अपनें बुते पर तैयार होना होगा। बुध+शनि, सूर्य+राहु, मंगल+चन्द्र, गुरु+केतु की पापयुति तथा अस्त एवं छिद्र के साथ लग्नास्त में शुभपापयुति से उत्पन्न प्रभाव घटना चक्र के अनुसार परीक्षणीय तथा समीक्षणीय है।*

4. प्रश्नविधान एवं तात्कालिक स्थिति

मानवीय जिज्ञासा का शमन प्रश्न तथा प्रश्नोत्तर के रुप में करने की परम्परा अति प्राचीन है। ज्योतिषीय प्रश्नतन्त्र में भी मानवीय विभिन्न भावप्रश्नोत्तर के साथ पृथ्वी पर घटने बाली विभिन्न घटनाओं के निर्धारण के विधान भी मिलते हैं। इस शाखा के सूत्र भी काफी महत्वपूर्ण हैं। प्रश्नतन्त्र से मानवजीवन सम्बद्ध समस्त व्यवहार जातक प्रश्न तथा देशादि प्रभाव संहितोक्त प्रश्न विधान से जुडे हैं। निरयण प्रमाण से मेषार्क प्रवेश तुलार्क, वृषार्क-वृश्चिकार्क प्रवेश, वर्षलग्न, जगल्लग्न, निरयण अयन प्रवेश, मकरादि तथा कर्कादि कालिक स्व-स्व स्थान के अक्षांश तथा देशान्तर के अनुसार द्वादश भाव का निवेश लग्न क्रम से कर सभी सूर्य, चन्द्र, ताराग्रह, छायाग्रह, पातग्रह, अदृष्टग्रह का निवेशकर-केन्द्र (1,4,7,10,), त्रिकोण (5,9,) त्रिषडाय (3,6,11,) तथा त्रिक (6,8,12) भाव तथा भाव का मालिक ग्रह की निष्पत्ति से भावगत ग्रह एवं भावेशग्रह की विभिन्नभावगत स्थिति के अनुसार शुभाशुभप्रभाव तथा इनके बल की निष्पत्ति से उत्तम, मध्यम तथा अधमप्रभाव निर्धारित होते हैं। केन्द्र (1,4,7,10,), त्रिकोण (5,9,) उत्तमप्रभाव प्रदायक, आपोक्लिम (2,5,8,11)मध्य प्रभावी तथा पणफर (3,6,9,12) से सामान्य तथा अधम प्रभाव निष्पत्ति का निर्धारण करना चाहिए।

***संहितोक्त प्रभाव ज्ञापक सूत्र.** 4–वर्षलग्न, जगल्लग्न, संक्रान्तिकालिक प्रवेशलग्न, ग्रहों के नक्षत्र तथा राशिसंचारप्रवेश लग्न शुभग्रह योग से ये लग्नादि 1,4,7,10 केन्द्रस्थ तथा त्रिकोणस्थ 5,9 भावों में हो, शुभग्रह से युक्त तथा दृष्ट हो तो सम्पूर्ण वर्ष उत्तम होता है। पापयुक्त तथा दृष्ट होनें पर रोगभय,राजभय तथा ग्रहज आपत्तिभय व्यक्तिगत तथा तद्तद् देशाभिप्राय से जानना चाहिए। पञ्चमहाभूतानि योनिरिति वराहः पञ्चमहाभूत एवं त्रिगुण सर्वविध प्रभावमात्र में प्रत्यक्ष माध्यम बनते हैं। अतः धरती के पदार्थ, जीव, जन्तु तथा वन भूतादि क्रम से कालखण्ड विशेष में शुभ तथा अशुभप्रभावों से प्रभावित होते हैं।

*सूत्र 5 उच्चबली, स्वगृहस्थ, केन्द्रस्थ, शुभग्रहयुक्त तथा दृष्ट बलबान ग्रह सुवृष्टि, शुभ एवं सुख की वृद्धि कारक होते है। क्रूर तथा पापयोग तथा दृष्टि रोगादिभय तथा प्राकृतिक आपदाओं का सृजन करते है।

इस वर्ष वृश्चिक प्रवेश काल में 4 ग्रह त्रिकस्थ अर्थात् 6,8 भावस्थ तथा 1 केन्द्र में राहु एवं तृतीयकेन्द्र में केतु की उपस्थिति से कई दोष उत्पन्न होंगे। ग्रीष्म धान्य की उत्पत्ति में भी बाधाएँ उत्पन्न होंगी। अगर इस वैदिक अन्वेषण को ठीक से ज्योतिष संहिता के परिप्रेक्ष्य में चलाया जाए तो 60 वर्ष तक का सूक्ष्म पूर्वानुमान जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में सद्यः करना संघीय योग से विधिवत् संभव है।

सूत्र-6 लग्न+बलवानलग्नेश + शुभग्रह से युक्त तथा दृष्ट उपर्युक्त सभी प्रकार के निरयण मेषादि मीनान्त लग्न हों तथा केन्द्र+शुभग्रह हो, तो सभी पदार्थ सस्ते होते हैं।

सूत्र 7 इसके विपरीत-लग्न तथा लग्नेश कमजोर हो, पाप से युक्त तथा दृष्ट हो, केन्द्रो में पापग्रहों के योग तथा दृष्टि हो तो महंगाई बढ़ती है।

5. गोलीय प्रभाव बोधक विधान

सूक्ष्म निरयण राश्याभिप्रायिक भूगर्भीय ग्रह, अदृष्ट समस्त प्रभावों के मूल हैं। क्योंकि स्पष्टाधिकारान्त साधित क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिक ग्रहगणित से अदृष्ट प्रभाव सम्बद्ध ग्रहों को जब दिग्देशकाल की पृष्ठीय सापेक्षता,एवं ग्रहणादि साधन कर सूक्ष्मतः दृश्य कर सकें तभी करणपद्धति सूक्ष्म मानी जायेगी। द्रष्टव्य पं.क.रि-चुलैट,अयनांश विवेक-तिरुपति, शास्त्रशुद्धपञ्चाङ्गमीमांसा, प्रो. शक्तिधरशर्मा अयनांशविमर्श-संवत्सराग्निविचार एवं कदम्ब प्रोतीय निरयण तथा ध्रुवप्रोतीय सायन मानों के स्वातन्त्र्य तथा परस्पर समन्वय की भारतीय पद्धति की समीक्षा-वाराणसी के इस केन्द्रीय नियामकत्व में जरुरी है।

सूर्य आदित्य संज्ञक नक्षत्र है। इसे जगदात्मा, कालात्मा, कालकृत तथा विभु के रुप में वैदिकसाहित्य व्यक्त करता है। संहिताएँ मन्त्रमय, सूत्रमय, श्लोकात्मक, तन्त्रात्मक+यन्त्रात्मक रुप में प्राप्त संहिताएँ विभिन्न ऐतिहासिक विध्वंस के बाद भी महत्वपूर्ण हैं। महर्षि पतंजली के अनुसार षडवेदांग वेदज्ञापक 6 वैधानिक प्रयोग पद्धति हैं। अतः नवीन अन्वेषण महत्वपूर्ण एवं गणिताश्रित होने से प्राचीन सम्बद्धता में सर्वथा ग्राह्य है। अभी नवीन क्रम में कुछ उभयशास्त्र मर्मज्ञ आधिदैविक तथा अध्यात्मिक विज्ञानों को प्रारम्भिक तौर पर आजमाना शुरु किये है। पराविज्ञान अभी भले शुरुआती दौर में है, लेकिन हाल-हाल तक हुए सिद्धों, महात्माओं, सन्तों एवं फकीरों के योगनिष्ठ चमत्कारों से एवं मन्त्रतन्त्रयन्त्रादि के चमत्कार से तथा इस युग के भौतिक अविष्कार से सारा देश परिचित हैं।*[3]

6. जगल्लग्न से मानवीय शुभाशुभ निर्धारण

मानव और पृथ्वी का तथा त्रिलोकी का परस्पर सम्बन्ध एवं त्रिगोलीय या त्रिलोकी जगत्–मानवीय जन्मलग्न से जगल्लग्न जिस भाव में हो तथा जिस शुभ या पापग्रह से युक्त तथा दृष्ट हो उसके हिसाब से मानव के वे भाव तथा शरीर में शरीर के शीर्षादिचरणान्त 12 मुख्याङ्ग वृद्धि तथा ह्रास को प्राप्त होते हैं। पापयोग से रोग तथा सपाप क्रूर योग से तद् अंग जन्य हानि, तथा भयंकर रोग आदि प्रभाव होते हैं। होरा एवं जातक के अन्तर्गत अहोरात्रप्रभावान्तर्गत जीवोत्पत्ति मात्र का संकेत एवं मूलसंरचना, प्रकृति, शील, गुण, दोष, चेष्टा एवं आधान से जन्म तथा जन्म से निधन (मृत्यु) तक सभी क्षेत्र में बुद्धिगम्य एवं गणितादि गम्य तथा योग एवं सांख्य के महाविज्ञानात्मक मूल से सभी तथ्य सम्बद्ध है।

7. कालनर त्रिलोकी तथा मानवीय प्रभावनिर्धारण

कालपुरुष के हिसाब से निरयणमेषादि क्रम से 12 राशियाँ सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए देशभेद कूर्म तथा व्यूह क्रम से तथा मानव के लिए लग्नादि द्वादश भाव एवं शीर्षादि चरणान्त अंग मेषादि लग्नक्रम से लग्नादि 12 भाव क्रम से भावस्थ ग्रहयोग से शुभ तथा अशुभप्रभाव उत्पन्न करते हैं। लग्नादि क्रम से मानवीय 12 भावों की निम्नांकित संज्ञाएँ है। 12 राशियों में कोई भी राशि प्रथम लग्न हो सकता है। जैसे कालात्मासूर्य मेषादि मीनान्त भूसापेक्ष संचार से जिस राशि में हो, सूर्योदयकाल में वह प्रथमलग्न, मध्याह्नकाल में उससे चतुर्थराशि चतुर्थलग्न, अस्तकाल में सप्तमराशि सप्तमलग्न तथा मध्यरात्रि में दशम राशि दशम लग्न होता है। दिन या रात्रि में तो समय जन्म या प्रश्न का हो, उसके अनुसार प्रथम लग्न देश तथा कालभेद से अलग-अलग होता है। मानसागरी, भारतीय कुण्डलीविज्ञान, ज्योतिषरहस्य, आदि की सहायता से पंचांग के आधार से इष्टकालिक लग्न तथा ग्रह निश्चित कर पराशर, जैमिनी बृहज्जातकादि के प्रमााण से मानवीय शुभाशुभ का ठीक-ठीक निर्धारण इस युग में भी संभव है।

***लग्नादि 12 भावों से विचारणीय विषय एवं भाव संज्ञाएँ**– 1 तनु-लग्नभाव-शरीरसुख, 2 धनभाव-धनलाभ, 3 पराक्रमभाव-कुटुम्ब, मित्र, अनुज, 4 सुखभाव, भूमि, भवन वाहनादि, माता, तथा गृह 5 विद्याभाव– तथा सन्तान-पुत्रलाभ, पुत्रहानि, विद्या एवं बुद्धि का विकास एवं बौद्धिकह्रास 6 शत्रुभाव रोग एवं शत्रु तथा आरोग्य लाभ 7 कामभाव - स्त्रीसुख, कामसुख एवं काम सम्बन्ध 8 छिद्रभाव रोग से मृत्यु, युद्ध से मरण, मरण हेतु तथा मृत्युप्रदेश, 9 धर्मभाव धर्मलाभ, धर्माचरण, भाग्योदय, अर्थलाभ, 10 कर्मभाव–कर्म, कर्मक्षेत्र, पिता तथा कर्म एवं पद, पदप्राप्तिकाल 11 भाव-आय, धन एवं सुख का संचय तथा सर्वविध आय के स्त्रोत (आगमनस्त्रोत) 12 व्ययभाव - दुःख दारिद्रय एवं व्यय की चिन्ता तथा शरीर का एवं इसके विभिन्न अंगों के क्षय प्रभृति तथा त्रिगोलीय सम्बद्धता के द्योतक हैं। ये मानवीय भाव जन्य प्रभाव सूर्य के मेषप्रवेश (निरयण प्रमाण) से जानना चाहिए। ये बारह भाव सिर से चरणान्त मुख्याङ्गों की पुष्टि तथा तद् अंग जन्य सुख के भी ज्ञापक होते हैं। ये प्रभाव जन्मलग्न से मेष प्रवेश लग्न के मेषादि 12 राशियों तथा लग्नादि 12 भावों पर शुभग्रह दृष्टि एवं शुभग्रहयोग से शुभ प्रभाव तथा अशुभ, पाप, क्रूरयोग से कष्टादि होना मानवभिप्राय से निश्चित है। ये 12 भाव, ग्रहयोग के शुभाशुभत्व के अनुसार ग्रह एवं भावबल की निष्पत्ति से सुप्रभाव तथा दुष्प्रभाव यथा समय (घटनाकाल में) प्रत्यक्ष होकर पूर्वानुमान के लिए आधार मात्र है।*

*जन्मलग्न मानव के जन्मकाल तथा देशविशेष के अनुसार तथा वर्षलग्न मेष राशि में सूर्यसंक्रान्तिकाल के अनुसार लाते हैं। जगल्लग्न प्रथमचान्द्रमास प्रवेश काल से लाते हैं। चैत्रकृष्णादिप्रवेश तथा चैत्रशुक्लादि प्रवेश काल के अनुसार जगल्लग्न लाते हैं। जन्मलग्न से जगल्लग्न 8,12 भाव में हो तो विवाद, युद्ध, हानि, व्यय आदि अशुभफल

होते है। 6 भाव में रोग। सम्पूर्ण वर्ष के प्रभाव तथा अशुभ निर्धारण में उपर्युक्तसूत्र अतिमहत्वपूर्ण तथा सिद्धप्राय हैं।

मानवीयप्रभावपिर्धारण– जिसका जन्म होता है उसका जन्म नक्षत्र चान्द्रनक्षत्रमूल से दशान्तर्दशा+तात्कालिक ग्रहसंचार जन्य गोचर+सलग्न सूर्यादिशन्यनन्त परस्पर सापेक्षिक गोचरीय अष्टवर्ग की निष्पत्ति से प्राप्त शुभाशुभप्रभावों को इससे जोडकर सूक्ष्मप्रभाव निरयण गर्भीय प्रमाण से निर्धारित करना वैदिक ऋषियों के निष्कर्ष हैं।

***3. देशादि प्रभाव निर्धारण**– अगर जगल्लग्न तथा वर्षलग्न प्रमाण से देश, नगर, क्षेत्र राशि से यदि नगर का प्रारम्भकाल पता हो तो नगरराशि तथा लग्न से 8,12 भाव में यदि जगल्लग्न पड़े तो हानि एवं विनाशादि प्रभाव यथा- पाप, क्रूर अतिक्रूर संयोगवश भयंकर विनाश आदि जाने। द्रष्टव्य बृ.सं.अ. 40 श्लोक 1-2, प्रश्नवैष्णव-श्लो. 13, बृहद्दैक्षरन्जन-अ. 31-लो. 93 से 96, श्लो. 97 से 101

1. देशप्रभाव निर्धारण– सभी राशियों में सूक्ष्म निरयण गर्भीय (दृक्सिद्ध सूक्ष्मनिरयण) प्रमाण से साधित ग्रहर्क्ष प्रमाण एवं सूक्ष्मनिरयण लग्न (सायन संपातिक क्षेत्राभिप्राय से निर्धारत कर) के आधार पर उपर्युक्त विधानपक्ष को वराहोक्त नक्षत्रकूर्म, नक्षत्रव्यूह, ग्रहभक्ति,तथाराशि सम्बन्धित द्रव्यनिश्चयादि से, एवं नरपति जयचर्योक्तस्वरबल, भूबल, मन्त्रतन्त्रयन्त्र, औषधि आदि त्रिविध चक्रात्मक निवेश से जोड़कर वर्ष फल का सर्वविध सूक्ष्म निर्धारण एक क्षेत्र तथा स्थान के लिए कुछ विशेषज्ञ तथा संघीय योग से सम्पूर्ण देश तथा विश्व स्तर पर सभी त्रिगोल सापेक्ष जीवन के सभी क्षेत्रों में निर्धारित करना संभव है। संहितोक्त समग्र प्रभाव निरयण मूलक हैं। निरयण अचलप्रभाव ग्रहयोगादि से संचरणादि क्रम से परिवर्त्तित होते हैं। द्रष्टव्य- भारतीयज्योतिष नक्षत्रविद्या-लेखक आचार्य सच्चिदानन्द मिश्र, संहिता स्कन्ध का स्वरुप एवं वैज्ञानिकत्व।

2. वृषार्कलग्न प्रवेश से कार्त्तिक,अग्रहण में उत्पन्न अन्न की निष्पत्ति के परीक्षित सूत्र प्राप्त होते हैं। यथा- कुछ महत्वपूर्ण सूत्र–

वृष प्रवेशकाल में इष्टकालिकलग्न तथा सूर्य से 5,2,11 संख्यक सिंह, वृष तथा कुम्भ राशि में शुभग्रह 7,14,10,6 राशियों में पाप ग्रह होने पर शारदअन्न की वृद्धि (धान्य की अधिक उत्पत्ति) जाने। द्रष्टव्य वृ.दै.र. अ. 10 अ. 31 श्लो. 102 से 107 तक।

सूर्य के वृष प्रवेश से 11,9,5 राशि में गुरू तथा चन्द्र वा दोनों 1,3 राशि में शुक्र - 2,5,8,11 राशि में तथा बली लग्नस्थ पापग्रह तथा बलहीन शुभग्रह हो तो उत्पन्न भी नष्ट होते हैं।

9,6,2,8 राशियों में पापग्रह हो तो अल्पवृष्टि से शरदऋतु में उत्पन्न होनेवाले अन्न (धान्य) सुख जाते है। केवल सजल क्षेत्रों में धान की उपज होती है। लेकिन तब जब यदि इन्हें न तो शुभग्रह देखे, नहीं इन इन राशिस्थ भावों में हो तथा नहीं बलबान होतो धान्य निष्पत्ति नहीं होती है।

3. सुख समृद्धि बर्धक योग– ज्ञापकसूत्र- मीन 12वीं निरयणराशि + बु.शु. यदि 1,4,7,10 भावस्थ हो। मीन 12+चं +गु. यदि 1,4,7,10 भावस्थ हो, तथा + शुभग्रह +शुभदृष्टि हो तो = समृद्धि।

4. मिथुनार्क प्रवेशलग्न– वर्षा की दृष्टि से इसका विचार महत्वपूर्ण है। इससे वर्षा का निर्धारण होता है। इसके कुछ प्रमुख सूत्र- सूर्य के मिथुन प्रवेश काल में (निरयण संक्रमण में) 12,6,3, राशियों में चं, गु. शु. बु. हो तो सुवृष्टि। 2,4+शु.बु., 12+च., 6+गु. होने पर मध्य में अवरोध होने पर भी सुवृष्टि होती है।*

मं.श. रा. यदि 12,6,3 राशियों में हो तो अल्पवर्षा होती है तथा कौनी आदि अल्प वृष्टि से उत्पन्न होने वाले अन्न उपजते हैं। श. मं. 4,2 तथा 3,6,9,12 राशियों में राहु (चन्द्रपात) अल्पवर्षा तथा अल्प अन्न उपजाता है।

4. चिकित्सा विज्ञान संहिता एवं जातक

ज्योतिर्विज्ञानियों के साथ चिकित्सा विज्ञानियों के लिए भी जगल्लग्न एवं मानवीयजन्मलग्न एवं जातकोक्त विधान अतिमहत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त सापेक्षता से होरा तथा जातक के साथ प्रश्न, स्वर तथा सामुद्रिक के योग से योग+ज्योतिष+आयुर्वेदोक्तप्रयुक्तज्योतिष+मन्त्र+तन्त्र+यन्त्र+अभिषेक + औषिधि एवं रोग निदान तथा उपचार में उपर्युक्तों के प्रयोग समवेत रुप में जरुरी है। ऋतुचर्या के साथ चन्द्रजन्य विमर्श आयुर्विज्ञानी भी करते हैं।

1. चिकित्सकीय विधान + चिकित्सकीय ज्योतिष (Medical Astrology)

इसके कई ग्रन्थ स्वतन्त्र तथा ज्योतिष धर्मशास्त्र एवं आयुर्वेद के संयोग से संस्कृत भाषा में उपलब्ध होते हैं। द्रष्टव्य- जैमिनी सूत्र, बृहत्पाराशरहोराशास्त्र, गर्गसंहिता, बृहज्जातकादि जातकतत्त्वान्त, होरा एवं जातकग्रन्थराशि तथा कर्मविपाक एवं गदावली, वीरसिंहवलोक, अनुष्ठानप्रकाश, शान्तिप्रकाश, भगवन्त भास्कर शान्ति मयूख आदि के साथ अष्टांग आयुर्वेद के अन्तर्गत चरक एवं सुश्रुतादि संहितादि प्रमाणभूत ग्रन्थ राशि आज भी उपलब्ध है।

शान्तिकल्प के अन्तर्गत योग+ज्योतिष+धर्मशास्त्र+आयुर्वेद+वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, अभिषेक, शान्ति एवं पुष्टिकर्म के समवेत रुप शान्तिकल्प संज्ञक है। मन्त्र, मणि, अभिषेक तथा औषिधि में आज केवल औषिधि गतिशील है, लेकिन उपर्युक्त समवेत प्रयोग के विना पूर्ण आरोग्य संभव नहीं।

5. कृषिविज्ञान, मौसमविज्ञान तथा संहिता

मौसमविज्ञान के लिए सूर्य के मेष, वृष, मिथुन, वृश्चिक आदि निरयणराशि प्रवेश के साथ संहितोक्त अष्टविध तथा 5विध निमित्तों के

साथ मुख्य परीक्षणीय परिस्थितियों पर ध्यान रखनें के लिए सम्पूर्ण विश्वहित में समग्र भूगोलाभिप्राय से प्रयोग सन्नद्ध होना चाहिए। भारत सहित सभी राष्ट्र तथा संयुक्तराष्ट्रसंघ को इस दृष्टि से विश्वहित में ध्यान देना चाहिए।

1. संहितोक्त कृषि विज्ञान, तथा वृष्टि विज्ञान

ये काफी महत्वपूर्ण हैं,तथा गर्ग, पाराशर, भद्रवाहु, वराह, अनवमदर्शी, लल्ल, श्रीपति, वल्लाल सेन, शिवराज, रामदीन, मधुसूदन ओझा, धूनिराम त्रिपाठी, पं. रत्नेश्वर झा, प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, प्रो. रामचन्द्र झा, प्रो. शिवाकान्त झा, प्रो. देवी प्रसाद त्रिपाठी आदि के संहितोक्त कृषिविज्ञान तथा मौसमविज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य समीक्षणीय हैं। उनके प्रयोग से कृषि, वन, वनस्पति, उपवन, कृषि कार्य, मौसम व्यवस्था का ठीक-ठीक निर्धारण संभव है, जो अभी एकाङ्गि नवीन विकास में भारतीय पक्ष का प्रयोग नहीं होने तथा परम्परागत विद्याओं की नवीनक्षेत्रों में समन्वया भाव से नहीं हो पा रहा। अरबों रूपये खर्च करके भी जो नवीन अन्वेषण से संभव नहीं हो पा रहा है, वह केवल भारतीय ज्योतिष के संहितास्कन्ध को इन विद्याओं से जोड़कर समवेत प्रयोग से संभव है।

वस्तुतः स्वतन्त्रता के बाद से समस्त संस्कृत संस्थान अतीत के धरोहर के नाम पर चलाये जा रहे, वहाँ इन में निहित ज्ञान, विज्ञान, कला, दर्शन तथा अध्यात्म के समवेत सप्रयोग निवेश कर सम्पूर्ण देश तथा विश्वकल्याणकारक तत्वों को गहन अध्ययन तथा अन्वेषण की दृष्टि से स्वीकार नहीं करना तथा नवीनवैज्ञानिक विषयों को संस्कृत से तथा नवीन शिक्षण में कक्षा 4 से पूर्व तथा 8 के बाद संस्कृत तथा संस्कृत निष्ठ जीवनसम्बद्ध अनिवार्य ज्ञान से काटना तथा संस्कृतभाषा के विज्ञानविषय के छात्रों को नवीन विज्ञान केन्द्र (DST) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से काटना समवेत विकास में सबसे बडा अवरोध है। अतः उभयशास्त्र मर्मज्ञ इन तथ्यों पर ध्यान दें।

6. भूपृष्ठीय प्राकृतिक उत्पातनिर्धारण में द्यु तथा नभ की भूमिका

प्राकृतिक विपर्यास को संक्षिप्त शब्द में उत्पात कहते हैं। इन उत्पातों में पृथ्वी पर होने वाले भूसम्बद्ध उत्पात से अधिक प्रभावी अन्तरिक्ष तथा सबसे अधिक आकाशीय (द्युलोकीय) उत्पात प्रभावी होते हैं। दिन के उत्पात से रात्रि के उत्पात अधिक बली होते हैं। मानवीय अपचार (प्रकृति विरूद्ध आचरण) तथा पापकर्म से भी विभिन्न रूपक उत्पात सम्बद्ध होते हैं। मानवीय अपचार तथा पाप के प्रभावों को विभिन्न रूपक उत्पात आकाश, अन्तरक्षि तथा भूमि सम्बन्धी दुर्घटनाएँ संसूचित करती हैं। समस्त प्रकृति विरूद्ध, मानव तथा मानवीय सद्धर्मविरूद्ध तथा सभी प्रकार के शास्त्र विरूद्ध आचरण से उत्पन्न दोष तथा पाप विभिन्न रूपक त्रिगोलीय उत्पातों को सृजित करते हैं। यथा वराह-

यः प्रकृति विपर्यासः सर्वः संक्षेपतः स उत्पातः।
क्षितिगगन दिवा जातो यथोत्तरं गुरूतरोभवति ॥
अपचारेण नराणामुपसर्गः पापसंचयाद्भवति ।
संसूचयन्ति दिव्यान्तरिक्षभौमास्त उत्पाताः॥

-बृ सं. अ.46 श्लो.

दिव्योत्पात– ग्रह तथा नक्षत्र जन्य विकार से उत्पन्न होते हैं। इसके कई भेद नक्षत्र, ग्रह तथा केतु जन्य संचरण, संस्थान, प्रकृति, गुण तथा युति, वर्ण आदि के निसर्ग तथा परिवर्त्तन से विभिन्न सम्बद्धता से विभिन्न रुपक उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार जन्य घटनाएँ विविध परिणामन से भूगोलीय अन्तरिक्ष की परिणतस्थिति से भूपृष्ठीय तथा गर्भीय घटनाएँ दिग्देश एवं काल की सापेक्षता से जुडी हैं।

नाभसउत्पात– उल्कापतन, वायुपतन (निर्घात) परिध, परिवेष, भूगोलीय अन्तरिक्ष में गन्धर्वनगरदर्शन, इन्द्रधनु, मेघ एवं वायुविकार, धूल कणों का वायुमण्डल में सघन होना आदि नाभस उत्पात हैं। ये सहेतुक होते हैं। मेघों का फटना भी नाभस उत्पात है ।

भौम उत्पात– भूपृष्ठीय चर तथा अचर भू भाग के हिसाब से चर पदार्थोत्पन्न उत्पात तथा स्थिर पदार्थोत्पन्न उत्पात भूपृष्ठभेद से त्रिगुणात्मक निष्पत्ति से उत्पन्न होते हैं। भौमोत्पातों में प्रबलतम भूकम्प प्रभावित क्षेत्र में यदि इसका पहले ज्ञान हो जाए, तो जीवन रक्षा करना संभव हो पायेगा। अन्य भौमोत्पात के पूर्वानुमान से शान्तिकल्पोक्त विधान के प्रयोग से शान्तिसंभव है। नाभसोत्पात को पूर्णतः नष्ट नहीं किया जा सकता। केवल थोड़ा कम कर मन्दप्रभावी बनाया जा सकता है। दिव्योत्पात शमित नहीं हो सकते। वस्तुतः ये त्रिविध उत्पात त्रिविध सम्बद्धता से मुख्यकारण होते हैं। प्रभावमात्र का व्यक्तरुप पाँचभौतिक एवं त्रिगुणात्मक होते हैं। यथा वराह–

दिव्यं ग्रहर्क्ष वैकृतमुल्कानिर्घातपवनपरिवेषाः।
गन्धर्वपुरन्दरचापादि यदान्तरिक्षं तत् ॥44॥
भौमं चरस्थिरभवं तच्छान्तिभिराहतं शममुपैति।
नाभसमुपैति मृदुतां शम्यति नोदिव्यमित्येति ॥45॥

ये निष्कर्ष काश्यष तथा गर्ग के अन्वेषण के निष्कर्ष हैं, यह भट्टोत्पलीय निष्कर्ष से ज्ञात होता है।

उत्पातों के प्रभाव– निम्नांकित रूप में अपने ऊपर, सन्तान, कोषागार, वाहन, नगर, पत्नी, पुराहित, लोक आदि के ऊपर पड़ते हैं। अर्थात् कष्टादि प्रभावों को भोगने के ये माध्यम बनते हैं। राजा, राजा का देश, स्थान (नगरादि) के ऊपर आठ प्रकार से पर्यावरण प्रदूषण एवं पापप्रभाव झेलने पड़ते हैं। राजा शब्द प्रतीकात्मक है। अहेतुक भंग, चलन, स्वेद, अश्रुपात, ज्वलन, पापकर्मरति, लिङ्गार्चन आदि में विकार होने से राजा तथा देश नाश के लिए वे होते हैं। अराध्य अर्चा (प्रतिमा जन्य) यथा- वराह–

आत्मसुतकोश वाहन पुर दारपुरोहितेषु लोके च ।
पाकमुपयाति दैवं परिकल्पितमष्टधा नृपतेः॥7॥

भौमोत्पात

अनिमित्तचलनभङ्गस्वेदाश्रुनिपात-जल्पिनादीभिः।
लिङ्गार्चायतनाम्नां नाशाय नरेन्द्र देशानाम॥8॥

इनके भेद सशान्ति वराह ने दर्शाये है। अग्निजन्य विकार, वृक्षोत्पात, सस्योत्पात, वृष्टिजन्योत्पात, जलीयोत्पात, प्रसवजन्य (उत्पत्तिजन्य) उत्पात, चतुष्पदजन्योत्पात, वायुजन्यउत्पात, खग (पक्षी) मृग पशुजन्य उत्पात आदि की शान्ति साहित समीक्षा- अपने युगीयक्षमता के अनुसार करके वराह मिहिर ने श्लो. 17 से 72 तक संक्षिप्त में निवेश कर, उत्पात के स्त्रोत, उत्पात प्रभावित दिग्देशकाल एवं पात्र की समीक्षा कर हमारा महान उपकार किया है।

***प्रकीर्ण उत्पात-गृह एवं अन्य मानवीय सम्बद्धता से**

इन्द्रध्वज, इन्द्रकील, स्तम्भ, द्वार, प्रपात कपाट, तोरण, ध्वज आदि का असामायिक नाश राजादि के नाश का संकेत करता हैं (काष्ठ निर्मित कील (कांटी) द्वारअर्गल को इन्द्रकील कहते हैं।

* दोनों सन्ध्या में पूर्वापर क्षितिज दीप्त होना।
* बिना आग जलाए जंगल में धूम निःसरण।
* बिल खोदे विना छिद्र के अभाव में भी भूमि का फटना।
* भूमिकम्प। ये भयप्रदायक उत्पातों के पूर्वलक्षण हैं।

इन तत्वों की भौतिक तथा रसायनिक दृष्टि से तत्वात्मक परीक्षण तथा घटना से पूर्व तथा बाद में सत्यापन जरूरी है। वृ.सं. अ0 46 श्लों 73,74। वराह ने नाश होने वाली देशों में घटने वाली घटनाओ का जिक्र किया है। गर्ग के प्रमाण से शान्तिविधान भी दर्शाये हैं। भूकम्पादि दुर्घटनाओं के बाद यदि किसी की मृत्यु व किसी प्रकार का नुकसान होता है, वह उसके अपने किसी व्यक्तिगत दुष्कर्म का प्रभाव होता है। त्रिगोलीय (दिव्य नाभस, तथा भौम-पृथ्वी सम्बद्ध) उत्पात यदि ऋतुस्वभाव के अनुरूप हो, उसे दोष कारक नहीं मानता। इस तथ्य का प्रकाशन ऋषिपुत्र ने भी किया है।

यथा वज्रपात, अशनिपात, भूकम्प, सन्ध्या राग, निर्घात, सूर्य के पूर्णरक्तवर्ण बिम्ब का उदयास्त, परिवेष, रज (धूलकण), धूम निःस्वना आदि उत्पात आदि के फल तथा निष्प्रभावी रूपों को तथा ऋतु के अनुसार होने वाले उत्पातों के प्रभावी तथा निष्प्रभावी होना वराह के प्रमाण से विधिवत समीक्षित है। द्रष्टव्य सशान्ति उत्पाताध्याय वृ..सं. अ. 46 पृ. 534 से 600 के.वी. शर्मा सम्पादित राष्ट्रिय सं. संस्थान से प्रकाशित द्रष्टव्य।

बृहतसंहिता अ. 2 ज्योतिषशास्त्र में प्रवेश विधान ग्रन्थारम्भ प्रयोजन, मन्त्रात्मक विधानों की अपरिवर्त्तन शीलता तथा मन्त्रेतर साहित्यों का अर्थप्रधानरचना का विधान शास्त्रोचित है। प्राचीन विस्तृत ग्रन्थों के सारांश के रूप में बृहत्संहिता के प्रमाण तथा विभिन्न वैज्ञानिक प्रयोगों तथा अख्यानात्मक प्रमाणों से समागत सारांश ग्रहण कर एक-एक विद्या 1-1 अध्यायों में निबद्ध कर वराह नें वस्तुतः हमारा महान उपकार किया।

7. संहिता के प्रभाव निर्धारण में ज्योतिष शास्त्रीय मूलाधार

जगत्सृष्टि स्थिति तथा कारण का समग्र वैदिक तथा सांख्योक्त सृष्टि स्थिति तथा संहार क्रम का संकेत वृ.सं. अ.1 श्लोक 6,7 में कहकर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रुप से त्रिगोल तथा त्रिकाल सम्बद्ध ज्योतिष के समस्त समष्टि तथा व्यष्टि प्रभाव नियामक तत्त्वों के निरूपण एवं भूगोलीय सापेक्षता को व्यक्त करना वराह के अनेक शास्त्रीय अन्वेषण का प्रतीक है (श्लो. 8)। ब्रह्माण्डीय तथा त्रिगोलीय संरचना, संस्थान, संचार, गुण, प्रभाव कार्य एवं कार्य प्रभाव संहिता के अन्तर्गत परिगणित है।

इसमें गणित, गोल तर्क एवं यन्त्र के सैद्धान्तिक सप्रयोग आयामों से समग्र भूगोलीय सर्व विध प्रभाव स्थान एवं वस्तुजन्य भौम प्रभाव एवं वातावरण तथा मानव, पशु, पक्षी वनस्पति आदि जैव एवं वनस्पतिज प्रभाव त्रिस्कन्धरूप ज्योतिष के विषय है। गणित से ग्रह गत्यादि ज्ञान तन्त्र है। होरा एवं जातक इसका तृतीय स्कन्ध है। गर्ग ने भी ज्योतिष को स्कन्ध त्रयात्मक कहा है। 1. गणितसिद्धान्त ज्योतिष, 2. संहतास्कन्ध, 3. होरा एवं जातक स्कन्ध (श्लोक 9) गणित स्कन्ध का संहिता में प्रयोग तथा जातक निर्माण एवं प्रश्नाङ्ग निर्माण में प्रयोग अपरिहार्य है। (श्लोक 10,11)

इस प्रकार इस अध्याय में सृष्टि, संस्थान, संचार, एवं संहितोक्त एवं जातकोक्त प्रभावों की सम्बद्धता का संदेश देकर वे मौनावलम्बन नहीं करते। वस्तुतः इसके 11 श्लोक 11 महाविद्याओं का संकेत करते हैं। तत्पश्चात् साम्वत्सरसूत्र का प्रणयन कर त्रिस्कन्ध ज्योतिष का स्वसामयिकविस्तार निरूपण करते हुए दैवज्ञ लक्षण, ज्योतिषीय समस्त शाखा प्रशाखा भेद, दैवज्ञ का आचरण तथा स्वरूप, त्रिस्कन्धज्योतिषशास्त्र में निपुणता, काल तथा क्षेत्र सम्बन्ध का ज्ञान, आदि के रूप में सैद्धान्तिक गणित तत्वों की जानकारी की अनिवार्यता, दृग्गणित साम्य प्रदर्शन सामर्थ्य, अहर्गण, ग्रहस्पष्टीकरण का गणितीय एवं वेध जन्य समन्वय, ग्रहणजन्य दृग्गणितैक्यता, कक्षा परिधि प्रमाण ज्ञान पटुत्व, ग्रहण का सम्पूर्ण ज्ञान, दिनगण गणना में तथा प्रत्यक्ष वेध में कुशल ही ज्योतिष शास्त्र का वक्ता हो सकता है।

दैवज्ञ के दोष, मूर्खों के उपहास, होरा शास्त्र मर्मज्ञ होने के लिए अपेक्षित ज्ञान का विमर्श एवं जातक चिन्तन, यात्रा का प्रत्यक्षनिवेश आदि तथ्य भी आदेशकर्ता आचार्य के लिए आवश्यक ज्ञेय तथ्य है। इतनें सप्रयोग ज्ञान से भी ज्योतिर्विद केवल इन विषयों के मर्मज्ञ होपाते है।

संहिता पारगश्च दैव चिन्तको भवति बृ.सं. अ. 2 पृ. 39 श्लो.

9,10, पृ. 42 पर्यन्त स्पष्ट निर्देश है कि सविस्तृत संहिता स्कन्ध को जानें समझे विना गणित सिद्धान्तज्ञ भी दैवज्ञ नहीं बन सकता, फिर अन्यों का क्या कहना। प्राचीन काल में तपनिष्ठ महर्षि योगी तथा मुनि दैवज्ञ होने थे (श्लो.1)

इतने महत्वपूर्ण ज्योतिर्विद दैवज्ञ की तुलना सौरमण्डल में सूर्य तथा प्रकाशयुक्त रात्रि से करते हुए वराह ने कहा है कि यदि राजा के पास त्रिस्कन्ध मर्मज्ञ दैवज्ञ न हो तो उसका मार्ग भटक जाता है। बृ.सं. अं. 2 पृ. 45। आज उपर्युक्त तथ्यों की जितनी उपेक्षा बढ़ रही, इससे विशेषज्ञ निर्माण की प्रक्रिया क्षीण हो रही है। इससे समाज तथा देश उभयत्र अन्धत्व बढ़ रहा है। वस्तुतः त्रिस्कन्धमर्मज्ञत्व के बिना दैवज्ञत्व का सम्पादन त्रिकालज्ञाता की दृष्टि से असंभव है।

*कूर्मविभाग देशप्रभाव निर्धारक

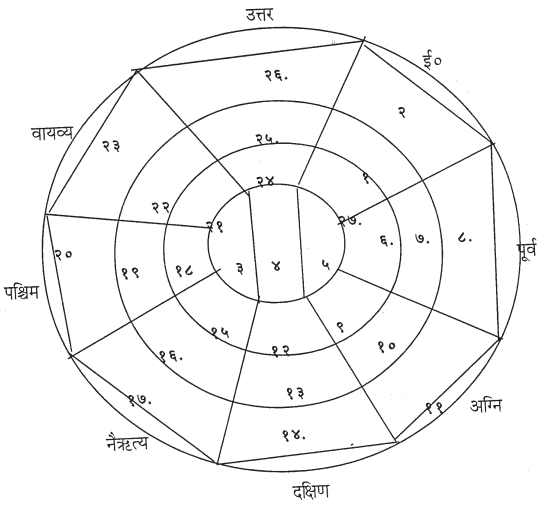

कूर्मचक्र– इसमें 3 से कृत्तिकादि क्रम से भारतवर्ष के मध्यदेश में प्रयाग को रखकर सारे प्रान्त तथा देश वर्गीकृत किये गये हैं। इसका प्रयोग कूर्मादि अध्याय से जाने। यद्यपि वराह नें सम्पूर्ण पृथ्वी के देशों के नाम नहीं दिये, लेकिन इसमें 9 मुख्य तथा 27 उपविभाग के हिसाब से सम्पूर्ण पृथ्वी का भी आकलन करना तथा नरपतिजयचर्या का भी प्रयोग करना चाहिए। एक नक्षत्र में 4 चरण से 108 उपखण्ड महत्वपूर्ण हैं। देशप्रभाव निर्धारण में कूर्मचक्र तथा सर्वतोभद्र चक्र का प्रयोग सर्वाधिक महत्व पूर्ण है। सर्वतोभद्रचक्र का विधिवत् ज्ञान नरपतिजयचर्या से करना चाहिए।

*सगणित गोलज्ञान की प्रभावशास्त्र मात्र में अनिवार्यता तथा आवश्यकता अर्थात् गणित सिद्धान्त मर्मज्ञ के अभाव से होने वाली क्षति–

इससे देश में सभी गोलीय गणना तथा प्रतीति अस्त व्यस्त हो जायेंगे। अन्य संहितोक्त, जातकोक्त, प्रश्नोक्त, शकुनों के तथ्य भी प्रकाशहीन रात्रि के समान हो जायेंगे, यदि दैवज्ञ राज्याधिष्ठित तथा संघीभूत नहीं हो। दैवज्ञों के महत्वों को अनेक तरह से निरुपित करते हुए, प्राचीन परम्परा के महत्व को दर्शाते हुए म्लेच्छों (म्लां निषिद्ध भक्षणे) तथा यवनों (कामाचार सम्बद्धाः यवनाश्च) में भी इस उत्तम विद्या के प्रसार तथा विशेषज्ञता का दृष्टान्त इस विद्या के समग्र धरती पर फैले होने का संकेत करता है। बृ.सं.अ. 2 श्लोक 07 से 14। सन्दर्भ 9 से 10 द्रष्टव्य तथा समीक्षणीय हैं।

***इन्द्रजालज्ञाता, तथा कर्णपिशाची ये दैवज्ञ नहीं हो सकते,** क्योंकि केवल कुछ समय पूर्व का भूतकालिक घटना बताने में कुछ समय तक इनकी क्षमता रहती है। सिद्धिचक्र खत्म होते ही वह क्षमता जाती रहती है।

बिना शास्त्र जाने दैवज्ञ बनकर शास्त्र का आदेश करने वालों को नक्षत्र सूची तथा निन्द्य कहा है। इससे सिद्ध होता है कि उस समय भी भोली-भाली जनता को ठगने वाले थे तथा आज भी हैं। बृ.सं. आ. 2 सन्दर्भ 12 श्लो. 15, 16 पृ. 52।

नक्षत्र सूची की उपमा– नगरद्वार रखे पत्थर में यदि कोई सिन्दूर आदि से पूजन कर दे, फिर देखा-देखी अन्य भी वहाँ पूजन करने लगते हैं। अप्रतिष्ठित उस पत्थर के आगे माथा ठेकने वालों में से यदि किसी की मुराद पूर्ण हो जाए, फिर लोभवश लोगों की भीड़ वहाँ इकट्ठी होने लगती है। नक्षत्र सूचक तथा शास्त्रहीन तथाकथित दैवज्ञों की यही हालत बनती है। आज इस तरह के तथा कथित ज्योतिषियों से सारा भारत तथा सम्पूर्ण धरती पटी पडी है।

द्रव्य मांगकर या फीस रखकर आदेश करना या शास्त्र के एकभाग को जानकर आदेश करना, ये दैवज्ञलक्षण नहीं हैं। ये एकांगी होनें से दैवज्ञ नहीं होकर एकज्ञ होते हैं। आजकल इस तरह के ज्योतिषी ही अधिक हैं।

प्रशस्त दैवज्ञलक्षण, शास्त्रात्मक क्षमता तथा दृष्टि आदि से युक्त दैवज्ञ ही राजा, राज्य तथा देश का हितसाधक बन सकता हैं । बृ.सं. अ. 2 सन्दर्भ 13 श्लो. 19 से 21।

*दिव्य प्रभाव विधान तथा सर्वविध सम्बद्धता

इन तथ्यों की विधिवत जानकारी देने के बाद वराह ने अ. 3 से अ. 13 तक आदित्य चार से सप्तर्षिचार तक मुख्य रूप से नक्षत्र सापेक्ष सौरमण्डलीय दिव्यप्रभावों तथा ज्ञापकविधानों को व्यक्त किया है। नक्षत्र एवं ग्रह सापेक्ष विभिन्न भूपृष्ठीय एवं भूगर्भीय सम्बद्धता के साथ पदार्थ एवं सजीव निर्जीवादि सम्बन्धों को भी व्यक्त किया है। भौमप्रभाव निर्धारण में भी दिव्यप्रभाव सर्वथा समीक्षणीय एवं परीक्षणीय है। इसके बिना किसी भी सार्वभौम सम्बद्ध पूर्वानुमानों का दिग्देशकाल तथा पात्र के हिसाब से ठीक होना असंभव है।

8. नक्षत्र कूर्म विचार

स्थानाधिपत्य तथा ग्रहसंचार सम्बद्धता से प्रभाव निर्धारण इसका मुख्य विषय है। जिस नक्षत्रकूर्म तथा व्यूह में जो उत्पात उदित होते हैं, वे स्वसम्बद्ध कूर्म का नाशक होते हैं। ये व्यूह एवं ग्रह भक्तयादि क्रम से लोकनाशदि उत्पात जन्य प्रभावों को व्यक्त करते हैं। अतः ग्रह संचार प्रमाण से नक्षत्रों के अलग प्रभाव परिवर्तित एवं संचरित होकर सम्बद्ध देशों एवं पदार्थों को शुभ-अशुभ रूप में प्रभावित तथा अवस्था परिवर्तित करते है। वराह नें नक्षत्रकूर्म में अ. 14 में देशाधिपत्य निर्धारत किया है। यह विभाग भारतवर्ष का तथा इसमें समग्र एशिया, तथा यूरोप का भी निवेश देश नाम से प्रतीत होता है। कृत्तिकादि से 3-3 नक्षत्र मध्यदेश प्रयाग को मध्य में रख कर वहाँ से पूर्व, अग्नि, दक्षिणादि आठों दिशाओं में अवस्थित देशों को नक्षत्रों के हिसाव से विभाजित तथा वर्गीकृत किया हैं। बृ.सं. अ. 14 श्लो.

श्लोक 2 से 4 मध्यदेश, श्लोक 5 से 7 पूर्वीदेश, श्लो. 8 से 10 अग्निकोण के देश, श्लो. 11 से 16 दक्षिणी देश, श्लो. 17से 19 नैऋत्य कोण के देश, श्लो. 20 से 21 पश्चिमी देश पश्चिमी समुद्रान्त, श्लो. 22 से 23 वायव्यकोण के देश, श्लो. 24 से 28 उत्तरी देश, श्लो. 29 से 31 ईशानकोण के देश पठित हैं। आधुनिक भूभाग के चित्र से ये देश उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका तथा ग्रीन्लैण्ड को छोड़कर प्राचीन बृहत्तरभारतवर्ष के देशो का वर्गीकरण प्रमुखरुप से करता है। नरपतिजयचर्या में ब्रह्माण्ड कूर्म से भू-कूर्म क्रम से देश, नगर तथा गृहकूर्म तक के विधान प्राप्त होते हैं। इनकी सापेक्षता प्राचीननाम के बदले नवीन नाम जानने तथा सत्यापन के लिए समग्र पृथ्वी का सर्वेक्षण जरूरी है। नवीन नक्शे प्राचीन सम्बद्धता को नहीं दर्शाते हैं। कुछ प्राचीन नाम आज भी उपलब्ध होते हैं। प्रदत्त देशों के पूर्वापर तथा दक्षिणोत्तर क्रम में भी व्यतिक्रम दिखाई देता है।

***मध्यदेश**– पश्चिम में (पुष्कर तथा मरूस्थल से कच्छ तक)। दक्षिण में उज्जैन तक, उत्तर में यमुना का उद्गम-यमुनोत्तरी तक। पूर्व में उपज्योतिष (आसाम) तक सभी 19 देश वर्णित हैं। अतः समध्य सभी खण्ड का क्षेत्राभिप्रायिक निर्धारण संघीय शोध गम्य तथ्य है। इसके विभिन्न प्रभाव जो तत्काल में अदृष्ट होते हैं, वे एक निश्चित समय के बाद प्रत्यक्ष होते हैं। अतः सूक्ष्मनिरयण गर्भीय क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिक ग्रह से समस्त अदृष्ट प्रभाव निर्धारण तथा बिम्बाभिप्रायिक विमण्डलीय ग्रह एवं कक्षावृत्तीय प्रतिबिम्बीय ग्रह का ठीक अभिज्ञान करना एवं वेधगोलीय परीक्षण से कालान्तर जन्य अन्तर को ठीक करते रहना तथा दीर्घकालीन पठितांक रक्षण से दीर्घकालीन कालान्तर का निर्धारण भारतीय गणितसिद्धन्त के मुख्य लक्ष्य हैं।

***टिप्पणी**– 1. मेट्रोलोजिकल सोसाईटी, डी.एस.टी. तथा यू.जी.सी भारत सरकार- ये परम्परागत पद्धति के नाम पर विशिष्ट शोध के लिए तथा विभिन्न रूपक प्रयोगशालाओं के निर्माण के नाम पर अब तक कोई विशेष एड नहीं देती। 12वीं शताब्दी तक एवं 14वीं शताब्दी तक के पुराने शोधकार्य तथा ई.पू. 3000 से सम्बद्ध वैदिक शोध निष्कर्ष के नाम पर विशिष्ट अन्वेषण तथा प्राचीन+नवीन समन्वयार्थ संस्कृत विश्वविद्यालयों को कोई अतिरिक्त अनुदान नही देती, जिससे कुछ ठोस कार्य एवं निवेश संभव हो सके।

प्राचीन विज्ञान सम्बद्ध छात्रों को जहाँ प्राचीनमूल से काटा जा रहा, वहाँ नवीनपूरकता तथा सम्बद्धता से अभी तक मूल रक्षण पूर्वक नहीं जोड़ा गया। डा. रामकरण शर्मा के द्वारा प्रस्तावित अभियान को भी बिहार सरकार नें मध्य में रोक दिया। इसमें कई पक्षों की ऋणात्मक भूमिका रही।

एच.आर.डी. भारतीय तथा प्रान्तीय एवं यू.जी.सी. संस्कृत शिक्षकों को वेतन के अतिरिक्त अन्य कोई खर्च नहीं करती। सामान्य छात्र जन्य शोधक्षेत्र भी कई दृष्टि बाधित है। अध्यापकों पर यू.जी.सी. के 5-6 लाख के प्रोजेक्ट अतिरिक्त शोध के लिए अन्य कोई खर्च नहीं करती। संघसाध्य शोधकार्य में इतनी कम रकम से कुछ अच्छा कर पाना कितना संभव है,इस पर विशेषज्ञ विमर्श करें।

इस प्राचीन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में तथा कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय में एक छोटा प्लेन्टोनियम (Plentiniyam) तारामण्डल तथा का.सिं.द.सं.वि.वि. में इतना कमजोर दूरदर्शक (Telescope) है, कि इससे कोई व्यापकशोध इसके आधार से संभव नहीं होसकता। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भी खगोलीय प्रयोगशाला की समन्वित योजना 11वीं योजना के प्रारम्भ से लम्बित है। 12वीं योजना में भी खगोलीय प्रयोगशाला प्रस्तावित है। यदि उच्चस्तरीय खगोलीय वेधशाला का निर्माण संभव हुआ तो एक अच्छी शुरुआत करना संभव होगा। मौसम, वातावरण, वृष्टि तथा कृषि से अन्तः सम्बन्ध जोड़ने होंगे।

***टिप्पणी**–2 किसी ने बसन्त 5 से समग्र भारत में 3 दिनों तक प्रबलबृष्टि योगों का पूर्वानुमान नहीं किया जबकि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर पूर्वानुमान करना संभव है। गर्भीय तथा पृष्ठीय अदृष्ट तथा दृष्ट ग्रहर्क्षयोग, नक्षत्र+ग्रह, ग्रह+ग्रहयोग, चन्द्रादि संचार एवं चान्द्रनक्षत्र तथा सौरनक्षत्र एवं ग्रहर्क्षबिम्ब परीक्षण के विधानों को भी दीर्घगामी परिणाम ज्ञानार्थ आजमानें की जरुरत है।

***टिप्पणी**–3 ये प्रभाव योगज है। ये पूर्वानुमानित समय से कितना आगे या बाद में घटना के रुप में घटते तथा कितना प्रमाणिक होते हैं, ये सब आठ या पाँच प्रकार के निमित्तों से परीक्षणीय हैं। दृग्ग्रह तथा घटना दोनों घटित सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होते हैं। ऋतुविकार, प्राकृतिक प्रदूषण, जंगलों तथा जंगली प्रजातियों के ध्वंस तथा कार्वनप्रभाव से उत्पन्न ग्लोबल वार्मिंग के दोष से उत्पन्न प्रदूषण, विभिन्न गर्भमूढता तथा मेघगर्भमूढता के परिणाम परीक्षणीय तथा समीक्षणीय हैं। सूर्यकलंक जन्य प्रभाव तथा ग्रहर्क्षयुति की सापेक्षता से यदि अष्टविध निमित्त परीक्षित हों तो सूक्ष्म निर्धारण सूक्ष्मनिरयण गर्भीय गणना से संभव है।

***टिप्पणी**– 4 उपर्युक्त संकेत के अनुसार प्राचीनप्रयोग परम्परा के प्रमाण तद्तद् ग्रन्थों के आलोक में सूक्ष्मनिरयण गर्भीय प्रमाण से परीक्षणीय है। नक्षत्रचक्रान्तर्भुक्त गर्भीयसायन के अनुसार भी सांपातिक नैसर्गिक अश्विन्यादि नक्षत्र को भी यथा स्थिति प्रथममानकर (विकृतसायन को छोड़कर) वर्त्तमानभारतीय तात्पर्य से नवीन वैज्ञानिक भौतिक एवं रसायनिक कारणों को एक हद तक परख सकते हैं। जैसे वायुसंचार, भूपृष्ठीय तापक्रम, वाष्पोत्पत्ति, मेघगर्भधारण, गर्भपुष्टि, गर्भस्राव, मूढगर्भ, सद्यः तथा दीर्घकालीन वृष्टियोग एवं विभिन्नरुपक योगजपरीक्षण, 8 तथा 5 प्रकार के निमित्तों से ग्रह+नक्षत्र योग, अन्तरिक्ष लक्षण, ग्रहवर्ण, सूर्य एवं चन्द्रकलंक, सूर्य, मंगल चन्द्र आदि के निरयण नक्षत्रपुंज गत संचार आदि प्राचीन प्रमाणों को अत्याधुनिक यन्त्रों की सापेक्षता से परीक्षण कर सत्यापित करना जरुरी है। शास्त्रीय प्रायुक्तिकी में गणित, गोल, यन्त्र, तर्क के साथ पांच भौतिक एवं त्रिगुणात्मक विधान योगमूल से गणितीय अष्टकर्म एवं बुद्धि की सापेक्षता से आधिभौतिक + आधिदैविक + अध्यात्मिक दृष्टि से गोलीय तथ्य परीक्षणीय हैं।

***टिप्पणी**– 5. सायनग्रह (Tropical planet) मान केवल निरयण स्थितिज्ञापन के साथ ऋतुप्रभाव एवं मन्दकेन्द्रिक स्थिति दूरत्वादि निर्धारणार्थ मूलतः प्रयुक्त हैं। भारतीय सिद्धान्त इन्हें समन्वित करते हैं। कुछ भ्रान्त पञ्चाङ्गकार इन तथ्यों को समझना नहीं चाहते।

***टिप्पणी**– 6 महगााई बढनें में उपयोगी पदार्थों की कमी, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि, कीट भय, बर्फ एवं बड़े-बड़े ओले गिरना एवं एकाधिक क्रूर योग से प्राकृतिक आपदाएँ आती हैं। उपर्युक्त योगों से केन्द्रस्थ पाप योग से महँगाई उत्तरोत्तर बढती जायेगी।

***टिप्पणी**–7 इसवर्ष पश्चिम, पश्चिमोत्तर (वायव्य) उत्तर तथा ईशानकोणस्थ भारतीयप्रदेश उपर्युक्त दोषों से अधिक प्रभावित हो सकते हैं। दक्षिणी भारत में भी आपदाएँ संभावित हैं। लेकिन विभिन्न करणग्रन्थ साधित ग्रहयोगों के प्रभाव आकलन हेतु तात्कालिक परीक्षण एवं सत्यापन भी जरूरी है। तभी सभी सिद्धान्तों एवं संहितोक्तसूत्रों के प्रत्यक्षपरीक्षण से सभी पूर्वपठितांकों के सत्यापन संभव हो पायेंगे। आरोप प्रत्यारोप की परम्परा मिटेगी तथा गणित, तर्क एवं निगमागमोक्त प्रायुक्तियों के वैज्ञानिक सत्यापन से सभी प्रकार के यथार्थ सामने आयेंगे।

8. टिप्पणी- लेकिन क्रूरग्रहबल या शुभग्रह की सर्वाभिप्रायिक निर्धारण संघसाध्य परीक्षण गम्य होने पर ही संभव है। संहिताभिप्रायिक चाक्षुष तथा नवीन यान्त्रिक परीक्षण से समवेत सत्यापन करके हीं वास्तविक बोध होगा। 1 से मेष, 2 से वृष, 3 से मिथुन, 4 से कर्क, 5 से सिंह, 6 से कन्या, 7 से तुला 8 से वृश्चिक, 9 सेधनु, 10 से मकर,11 से कुम्भ, 12 से मीन राशि जानें। ये राशियाँ ही मेषादि मीनान्त लग्न तथा सूर्य की स्थिति के अनुसार लग्नादि 12 भाव होते हैं।

टिप्पणी-9 देश (स्थान) भेद से लग्न प्रवेश काल बदलता है। प्रति राशिप्रवेशकालिक लग्न तथा ग्रहस्थिति महत्वपूर्ण है। सर्वविध दृष्टप्रभाव निरयणपृष्ठीय तथा अदृष्टप्रभाव निरयणगर्भीय तथा ग्रहण उदयास्तादि भूपृष्ठ दृश्य घटनाएँ सूक्ष्मनिरयण पृष्ठीय तथा सायनपृष्ठीयग्रह प्रमाण से निरयणान्तर्भुक्तप्रमाण से गम्य है।

टिप्पणी-10 उपर्युक्त तथ्य एवं विधान सूक्ष्म निरयण गर्भीय गणना एवं निरयणान्तर्भुक्त सूक्ष्मसायनगर्भीय वास्तविक नाक्षत्राभिप्रायिक ग्रह की सापेक्षता से प्रभावशास्त्रीय प्रमाण से सिद्ध होते हैं। विकृतसायनभारतीय प्रभावशास्त्र में अनुपयुक्त है। उपर्युक्त विधान के प्रयोग से कृषि विज्ञान संस्थान तथा वातावरण, पर्यावरण, मौसम, वायु एवं वृष्टिविभाग के विशेषज्ञ सत्यापन के लिए आगे आएँ।

टिप्पणी-11 इस सप्रयोग शोध निबन्ध में कई पारिभाषिक शब्द तथा कई प्रयोगात्मक पद्धतियों की चर्चा है। जैसे सायन अर्थात् सूर्यसापेक्ष संपातिकगणना, निरयण- अर्थात् अश्विन्यादि अचलनक्षत्राभिप्रायिक गणना। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द तथा गणितीय विधान त्रिस्कन्धज्योतिष गम्य हैं। जातक होरा एवं प्रश्न मर्मज्ञ ज्योतिर्वद से चिकित्सा विज्ञान का तथा कृषि, वातावरण एवं वृष्टि तथा मौसम के लिए संहिता मर्मज्ञों का संयोग विस्तृत परीक्षण एवं अध्ययन के क्षेत्र में क्यों जरूरी है,यह उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है। ज्योतिष विभाग का.हि.वि.वि. ने 21/22–2009 में पर्यावरण वृष्टि एवं मेलापक विचार के द्वारा इस प्रकार का उद्यम प्रारम्भ कर दिया है। द्रष्टव्य तृतीय अखिल भारतीय ज्योतिष सम्मेलन की प्रो. राजमोहन उपाध्याय संस्मृति स्मारिका। लेकिन यह प्रारम्भ मात्र है। संकलित तथा ग्रन्थगत सन्दर्भों को सप्रयोग सत्यापित करने हेतु प्राचीन नवीन समन्वित समवेत उद्यम अपेक्षित है।

●

स्वामी विवेकानन्दजी युवकों से कहते थे*

*प्रो. गिरीशचन्द्र चौधरी***

स्वामी जी ने अपने लघु जीवन के अंतिम पाँच वर्षों में समस्त जीवन का निचोड़ बताते हुये एक पत्र में लिखा था कि एक उपदेशक को नौजवान होना ठीक नहीं। यद्यपि मैंने जीवनभर यही किया। लोगों की वृद्धों में अधिक विश्वास है और यह अधिक आदरणीय दिखाई पड़ता है। इसके बाद मृत्यु के वर्ष (सन् 1902) में यह कहते रहे कि मैं समझता हूँ कि मेरा कार्य हो चुका है।

आज उनके गये 150 वर्षों बाद भी हम उन्हीं की बातें कर रहे हैं। क्या किसी अन्य का प्रभाव 150 वर्षों के बाद भी रह सकता है? उन्हें अक्सर युवाओं की पूजनीय प्रतिमूर्ति कहा जाता है। स्वामीजी का युवकों से संदेश यह नहीं कि उन्होंने क्या कहा, अपितु वे कैसे रहे और उस युग का जिसमें जीवन बिताया। वे सदा सोचते थे कि युवावस्था में कैसे रहा जाये। सोच यह थी कि जीवन कैसे जीया जावे, जबकि जीवन मृत्यु एवं विश्वास का प्रश्न है, इन्हें जानने हेतु वृद्धावस्था तक रूकना आवश्यक नहीं। इसको किसी समय प्राप्त कर आबंटित किया जा सकता है। स्पष्ट है– अकूत धन-सम्पत्ति से युक्त मनुष्य को भी एक शती तक स्मरण रखना संभव नहीं होता पर आध्यात्मिक सम्पत्ति से युक्त स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुष जीवन में एक ही बार आते हैं। स्वामी जी का जीवन में ज्ञानोपार्जन अनूठा था। यदि कोई यात्री प्रवास से नवीन स्थान की मौलिक सूचनाएं प्राप्त कर ले पर अन्त में उससे यात्र के पड़ाव का ज्ञान पूछा जाये तो वह कहेगा– देखेंगे। ऐसा ज्ञान व्यर्थ है। कोई भी दर्शन, साहित्य का ज्ञानी हो जावे पर जब तक जीवन और मरण का बोध नहीं पा सका तो वह अपूर्ण ही रहेगा। तभी तो स्वामी जी कहते थे– ''मैंने मृत्यु पर विजय पहले प्राप्त कर ली है, जबकि मैंने जीवन छोड़ दिया था। मेरी केवल उत्कंठा कर्म है। यह सिद्ध है कि उन्होंने जीवन की विजय पा ली थी। वे आत्मा को जानने-पहचानने में कोई जल्दी की रूकावट नहीं मानते थे। बुद्धि या ज्ञान को वृद्धत्व के अधीन नहीं मानते थे, अतः युवाओं पर उनका विशेष ध्यान रहता था। उन्होंने अपने जीवन की युवावस्था जो अत्यंत लघु था, मैं ही जीवन और मृत्यु को समझ लिया था और अपने दर्शन को स्वयं में जीआ था और युवाओं को केवल उपदेशित नहीं किया था। इसीलिए वे युवाओं की पूजनीय प्रतिमूर्ति हुए। अपने एक युवा मित्र को उन्होंने लिखा कि मनोरंजन होना ठीक है। खाने, पीने, अलंकृत होने में, समाज में घुलने-मिलने में ही जीवन को न डुबो दिया जावे क्योंकि उनके बाद भी जीवन में कुछ और है। स्वामीजी अपने जीवन व मृत्यु के आध्यात्मिक-ज्ञान की उपलब्धि की अमूल सम्पत्ति के मालिक हुए थे।

स्वामीजी का कहना था कि सम्पूर्ण जीवन केवल तीन शब्दों में पूजनीय हो जाता है। ये शब्द हैं– जीव ही शिव है। वे बतलाते थे कि व्यक्तिगत रूप से ईश्वर का ज्ञान इन्हीं तीनों से संभव है। साथ ही बाहरी मूर्तियों की स्थिति केवल इसलिए है कि वे अन्तर की ओर इंगित करती हैं। वे बतलाती हैं कि केवल आत्मशोधन से ही ब्रह्म को पाया जा सकता है। दुःख इस बात का है कि ब्रह्म को पाने की इच्छा वाले अनगिनत लोग इस तथ्य को जीवन में नहीं उतारते। इसको पाने की कठिनाई यह है कि पाने की इच्छा वाले लक्ष्य का ज्ञान ही नहीं रखते। उन्हें आत्मसमीक्षा करनी होती है।

स्वामीजी ने ने सदा श्रेष्ठता का ज्ञाना कराना चाहा था। उन्होंने कई उत्साही नारे दिए जो हमें ठीक तरफ ले जाने वाले थे। वे कहते थे कि तुम्हें अन्दर से बाहर की ओर विकसित होना है। कोई तुम्हें बाहरी आदमी शिक्षा नहीं दे सकता और न ही आध्यात्मिक बना सकता है। केवल तुम्हारी अपनी आत्मा ही यह काम कर सकती है। तुम ईश्वर में विश्वास नहीं कर सकते जब तक तुम अपने पर विश्वास नहीं कर करते। मनुष्य का लक्ष्य ज्ञान है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं अपितु अपने आत्म समीक्षा से या आत्मबोध से ही उपजता है।

इस तथ्य को बारम्बार याद दिलाना कर्म हेतु प्रेरणा देना है। मनुष्य का प्रथम धर्म अपना आत्मबोध विकसित करना है अर्थात् सच्चाई से अपने स्वयं को विकसित करना है। अतः आत्मज्ञान को जैसा स्वामीजी ने आत्मसात किया था, वही जो वैदिक ऋषियों ने किया था। श्रेष्ठ होने योग्य सदा समय है। सच्चाई से स्वयं को विकसित करने का योजन किसी सांसारिक उपलब्धियों हेतु तुल्य नहीं। इसको अपनाने का क्षण ही स्वामीजी का समादर की शुरूआत होगी।

स्वामीजी आध्यात्मिक ऊँचाईयों को पाने हेतु भारतीय युवाओं में अत्यधिक सृजनात्मक ऊर्जा, साथ ही धनात्मक सामर्थ्य की उपस्थिति बताते थे। अगर मानवीय सर्जनात्मकता एक विशेष गुण है तो इसकी चरम सीमा होगी कि मृत्यु की बात कभी न कहो। अन्य लोगों के साथ किसी चुनौती का सामना करने हेतु शक्ति सामूहिक चेतना के साथ नौजवानों में विशेष रूप से है। यह आज भारतीयों की कनिष्ठ पीढ़ी के संदर्भ से प्राप्त है। यह वह समय है जब नौजवान चौकन्ने

---

*द्विपाद 150 वर्ष जन्मशती पर

**भारतेन्दु भवन, चौखम्बा, वाराणसी

हैं। साथ ही पर्यावरण द्वारा ललकारे गये तथा गुणों की कमी से ग्रस्त हैं। स्वामीजी ने युवाओं से आह्वान किया कि भारत स्त्रियाँ, बच्चों एवं लड़कियों के अनेक उत्पीड़न की चुनौतियों से त्रस्त है।

वे भारत में अत्यंत गरीब एवं अत्यंत धनवान श्रेणियों में अन्तर से मर्माहत थे। इसी पीड़ा से ग्रस्त सदा उद्‌बोधन करते थे, जिसका विषय जीवन में कठिनाईयों पर विजय रहता था। नवजवानों के जीवन को बनाने हेतु त्याग एवं सेवा को राष्ट्रीय जागरण हेतु सबसे महत्वपूर्ण बताते थे। आध्यात्मिक प्रबोधन की जीवन का पथ-प्रदर्शक कहते थे। उनके जीवन-दर्शन में मानवीय सफलताओं की लघुता और भौतिक सम्पदा की क्षणभंगुरता गंभीर चिन्तन का विषय रहते। उनकी चुनौती जो युवाओं से कहते थे कि जीवन जीने हेतु हमें महान् उद्देश्य, उनके आदर्श और मानवीय अस्तित्व की सीमाओं में उच्चावस्था प्राप्त करना होना चाहिए।

युवाओं में केवल गुण जिसकी उन्हें चाह थी अनुभूति की क्षमता एवं विकास का सृजन हो। उन्होंने अपना यह शक्तिशाली मन्त्र देकर इच्छा प्रकट की थी कि जो लोग इसको अपनावें वे ठोस कार्य करें। उनकी प्रभावशाली सोच थी– विचारों की शुचिता, धैर्य तथा जुनून। उनके विचार से युवा इन तीनों को अपनावें तो समाज पर उनका प्रभाव पड़ेगा। शुचिता विचारों एवं उपलब्धि की, तथा धैर्य, विकास के क्षेत्र पर, उसका गत्यात्मक स्वरूप तथा आसार की समझ होनी चाहिए। नवजवानों को आज के समाज में जुनून अपनाने की आवश्यकता है। जीवनयापन की वास्तविकता, समाजिक बदलाव, और राजनीतिक विभिननता में अपना श्रम लगाने की युवाओं में आवश्यकता है। इनके लिए एक जुनून या धुन से लगना पड़ेगा, क्योंकि आवश्यकता एवं भावहीन हो जावेगा। यह युवाओं को मन में घर कर लेना चाहिए।

स्वामीजी का युवाओं के सन्दर्भ में विश्वास था कि सामाजिक बदलाव हेतु कार्य में ऊर्जा तथा लगन की बहुत मात्रा चाहती है। अतः युवाओं को अपनी शारीरिक क्षमता एवं मानसिक ऊर्जा को बढ़ाना चाहिए। युवाओं की दृढ़ मांसपेशियों एवं इस्पात से कठोर स्नायुओं की वे अपेक्षा रखते थे। आज नवजवान ही असाधारणतः उत्तरदायी हैं और उन्हें सामाजिक न्याय दिलाने की पीपासा को थोड़ी बढ़ाने की आवश्यकता हैं। भारत के युवकों हेतु स्वामीजी न केवल माध्यम थे और वे एकमेव हैं तथा स्वयमेव में एक सन्देश थे।

उनके स्वयं के चरित्र की ओर भी ध्यान देना चाहिए जो उन्हें युवाओं के हृदय का सम्राट बन गया। उनके चरित्र की बातें अद्‌भुत हैं। स्वामीजी ने गुरू परमहंस के अन्य शिष्यों के साथ रामकृष्ण मिशन सेवा मण्डल की स्थापना की, जो भारत के अतीत के गौरव से परिपूर्ण व जुड़ा हुआ था। जीवन की समस्याओं के प्रति उनकी दृष्टि आधुनिक भी थी अर्थात् प्रतीचि और प्राची के बीच एक सेतु थी। वे भव्य स्वरूप वाले ओजस्वी वक्ता, लेखक, समभाव से परिपूर्ण अपने उद्देश्य से दृढ़तापूर्वक जुड़े तथा आंतरिक ऊर्जायुक्त और भारत को आगे ले जाने वाले भावों से दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्तित्व वाले महान् पुरूष थे। उनका मानना था कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अन्य से नहीं बल्कि यह स्वयंभू है। अन्त में स्वयं में विलीन न हो जाने वाला और स्वयं में सुप्रकाशित है। मनुष्य में ईश्वर को देखना ही ईश्वर की वास्तविक दृष्टि है।

वे धर्म सम्बन्धी रूढ़िवादिता की क्रियाओं के विरुद्ध विचारवाले थे, उनका कहना था कि वैचारिक स्वतंत्रता विकास एवं कल्याणकारी कर्म ही जीवन का ध्येय एकमात्र हो। वे पाश्चात् विकास की भारतीय आध्यात्मिक भूमि से जोड़ना चाहते थे।

प्रगतिशील स्वरूप स्वामीजी आवेक्षण में अर्न्राष्ट्रीय स्तर से आवेष्ठित थे। समस्याओं का समाधान वे विश्वस्तर पर चाहते थे।

उनका ध्यान सदा निडरता पर था। हमेशा निडर एवं शक्तिशाली रहने को युवकों से कहते थे। उनके विचार से मनुष्य पापी नहीं अपितु देवतत्व का एक भाग है, अतः वह क्यों कर डरे। उनकी दृष्टि में पाप है तो कमजोरी, अतः समस्त कमजोरी की उपेक्षा करनी चाहिए क्योंकि यही मृत्यु एवं पाप है। यही उपनिषदों की भी शिक्षा है।

●

पूर्वांचल में प्रचलित : हिन्दू जन्म संस्कार के गीत

चन्द्रजीत वर्मा एवं डॉ. के. ए. चंचल***

भारतीय संस्कृति का मूलभूत एक उद्देश्य **''श्रेष्ठ संस्कारवान मानव का निर्माण।''**[1] संस्कार शब्द ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान भारतीय आचार-विचार में पाया है।[2] भारतीय संस्कृति की आदिकाल से यह विशेषता रही है कि उसमें उद्देश्यपूर्ण आदर्शयुक्त, पारमार्थिक जीवन को ही प्रमुखता दी गई है। उस व्यक्ति को ही सच्चा मनुष्य माना गया जो संस्कारवान आदर्श जीवन जीता रहा हैं। अज्ञान, अशक्ति, अभाव आदि से संघर्ष करने का व्रत लेने वाले ही द्विज कहे जाते हैं। वस्तुतः जन्म से सभी शूद्र ही होते हैं, पर बाद में सूक्ष्म, आध्यात्मिक उपचारों द्वारा संस्कारित होकर अपनी चिन्तन चेतना को परिष्कृत कर वे द्विजत्व की प्राप्ति करते हैं।[3]

संस्कार का अभिप्राय उन धार्मिक कृत्यों से हैं जो किसी व्यक्ति को अपने समुदाय का पूर्ण रूप से योग्य सदस्य बनाने के उद्देश्य से उसके शरीर, मन और मस्तिष्क को पवित्र करने के लिये किया जाता है। किन्तु हिन्दू संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति में अभिष्ट गुणों को जन्म देना भी है। हमारी प्राचीन महत्ता एवं गौरव गरिमा को गगनचुम्बी बनाने में जिन अनेक सत्यवृत्तियों को श्रेय मिला था, उसमें एक बहुत बड़ा कारण, यहाँ की संस्कार पद्धति को भी माना जा सकता है। यह पद्धति सूक्ष्म आध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद प्रक्रिया पर अविलम्बित है। उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनुष्य को सन्मार्गगामी होने के उपयुक्त बनाता हैं।[4] परिवार को संस्कारवान् बनाने की, कौटुम्बिक जीवन को सुविकसित बनाने की एक मनोवैज्ञानिक एवं धर्मानुमोदित प्रक्रिया को संस्कार पद्धति कहा जाता है।[5]

वेद, पुराणों तथा धर्म शास्त्रों में संस्कारों की आवश्यकता बतलाई गई है। जैसे खान से सोना, हीरा आदि निकलने पर उसमें चमक-प्रकाश तथा सौन्दर्य के लिये उसे तपाकर, तराशकर मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है। उसी प्रकार मनुष्य में मानवीय शक्ति का आविर्भाव होने के लिए सुसंस्कृत होना आवश्यक है। संस्कारों से आत्मा अन्तःकरण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त करते हैं।[6] आर्य संस्कृति में संस्कारों की महत्ता सर्वोपरि है। यह न केवल कोरी कल्पना है और न ही मिथक वरन् सत्य और यथार्थ की नींव पर खड़ा दिव्य भवन है, जहाँ से आदर्श तरंगित होता है। जो मानव शरीर में संग्रहित होकर शील के रूप में परिणत होता है। तब यह सुसंस्कृत जीवन **''मधुमती वाचमुदेयम्''** (अथर्व. 16/2/2) अर्थात् **'सदा मधुर वचन बोलो'** के रूप में आत्मानुशासन प्रदान करता है।[7]

यद्यपि संस्कार और संस्कृति में जरा सा भी भेद नहीं है। इसलिए संस्कार और संस्कृति दोनों का अर्थ है धर्म।[8] संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का है, किन्तु आजकल इसका प्रयोग ''कल्चर'' शब्द के अनुवाद के रूप में किया जा रहा है। जिससे संस्कृति का वास्तविक रूप समझ में नहीं आता। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर **'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे'** इस पाणिनी सूत्र से भूषण सूट् का आगम होने पर संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ है मानव का वह कर्म जो भूषण स्वरूप अलंकार स्वरूप है। अंग्रेजी भाषा का 'कल्चर' शब्द 'कल्ट' से बनता है। इसके अनुसार किसी देश के रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, क्रीडा, कला, कौशल, संगीत, नृत्य और गीत का अन्तर्भाव उनमें होता है। संस्कृति का दूसरा वाचक शब्द हमारे यहाँ संस्कार है। यह भी 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'धञ' प्रत्यय होकर **'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे'** सूत्र से 'सुट्' का आगम होकर बनता है।[9]

'सम्' की आवृत्ति करके **'सम्यक् संस्कार'** को ही संस्कृति कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारों का पर्यवससान भी मलापनयन एवं अतिशयाधान में होता है। कुछ कर्मों द्वारा पाप, अज्ञानादि का अपनयन और पवित्रता, विद्या आदि अतिशयता का आधान किया जाता है।[10] **''वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुकूल लौकिक-परलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी व्यापार ही मुख्य संस्कृति है और वही हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति अथवा भारतीय संस्कृति है।''**[11]

मनुष्य जीवन में अनेक संस्कारों की व्यवस्था की गई है। जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रत्येक शुभकार्य किसी न किसी संस्कार से जुड़ा हुआ है और उन संस्कारों के अवसर पर उससे सम्बन्धित गीत, संगीत एवं नृत्य की भी परम्पराएं प्रचलित है। ये संस्कार मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक और मनोवैज्ञानिक विकास हेतु महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। विभिन्न ग्रन्थों में संस्कारों की संख्या अलग-अलग बताई गई है।[12] परासर सूत्र में तेरह, बैखानस में अट्ठारह जबकि गौतमसूत्र में इनकी संख्या 48 बताई गई है। महर्षि अंगिरा ने 25 संस्कार

*शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
**असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बताये हैं। पुराणों में अनेक संस्कारों का उल्लेख है किन्तु उनमें से मुख्य एवं आवश्यक षोड्श संस्कार माने गये हैं। महर्षि व्यास द्वारा प्रतिपादित प्रमुख षोड्श संस्कार इस प्रकार है।

''गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जात कर्म च॥
नाम क्रिया निष्क्रमणोऽन्नाशनं वपन क्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदरम्भ क्रियाविधः॥
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्कारा षोड्शस्मृताः॥''

अर्थात्

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चुड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ (विद्यारम्भ) समावर्तन, विवाह तथा अग्न्याधान। अग्न्याधान के अन्तर्गत तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, आहवनीय, अक्षिणाग्नि) स्थापित की जाती थी। इन अग्नियों का व्यवहारिक उपयोग वानप्रस्थ, अत्न्येष्टि और मरणोत्तर संस्कारों में होने से संस्कारें की मान्य संख्या सोलह सिद्ध हो जाती है। इन नामों में कहीं-कहीं विभिन्नता भी दिखाई देती है।

संस्कारों का शास्त्रीय विवेचना **'वृहदारण्यकोपनिषद्'** से प्राप्त होता है। मीमांसा दर्शन का भाष्य करते हुए शबर मुनि लिखते हैं- **''संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थे भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य''** अर्थात् संस्कार वह प्रक्रिया है जिसके होने से व्यक्ति या पदार्थ किसी कार्य के योग्य हो जाता है। संस्कार शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं मिलता किन्तु इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'शतपथ ब्राह्मण' में हुआ है। विष्णु धर्म सूत्र, मनु स्मृति तथा याज्ञवल्क्य आदि पूर्वाचार्यों ने इनकी संख्या का उल्लेख नहीं किया है। महर्षि हरित ने लिखा है– ''द्विविधो हि संस्कारो-ब्राह्मो दैवश्च। गर्भा धानादिस्मार्तो ब्राह्माः पाक यज्ञ सौम्यश्च दैवः।'' अर्थात् संस्कार दो प्रकार के होते हैं– 1. ब्रह्म संस्कार, 2. दैव संस्कार। गर्भादि संस्कार को स्मृति ग्रन्थों द्वारा विहित है ब्रह्म संस्कार कहलाते हैं और पाक यज्ञ, हवियज्ञ, सोम इत्यादि दैव संस्कार कहे जाते हैं।[13]

हिन्दू धर्म में इन संस्कारों के समय गीत, संगीत एवं नृत्य का भी विधान मिलता है, किन्तु मृत्यु अर्थात् अन्त्येष्टि संस्कार के समय प्रायः गीत नहीं गाये जाते, केवल शिवनारायणी सम्प्रदाय में मृत्यु के समय और शमशान जाते समय गाने-बजाने का प्रचलन है। उस समय केवल निर्गुण गाये जाते हैं।[14]

संस्कारों का परिचय इस प्रकार है– (कल्याण)

1. **गर्भाधान संस्कार :** एक स्त्री को गर्भधारण करने की क्रिया को गर्भाधारण संस्कार कहा जाता है। यह संस्कार प्रथम गर्भधारण के समय ही किया जाता है बार-बार नहीं।
2. **पुंसवन संस्कार :** स्त्री द्वारा गर्भधारण के तीसरे, चौथे अथवा आठवें माह में पुत्र प्राप्ति की इच्छा हेतु यह संस्कार किया जाता है।
3. **सीमान्तोन्नयन संस्कार :** यह संस्कार गर्भवती स्त्री के रक्षा के लिये किया जाता है। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन ये तीनों संस्कार शिशु जन्म से पूर्व किये जाते हैं
4. **जातकर्म संस्कार :** यह संस्कार शिशु के जन्म के उपरान्त होने वाला प्रथम संस्कार है।
5. **नामकरण संस्कार :** यह संस्कार नवजात शिशु के नाम रखने हेतु किया जाता है।
6. **निष्क्रमण संस्कार :** यह संस्कार नवजात शिशु के घर से बाहर निकाले जाने पर किया जाता है।
7. **अन्नप्राशन संस्कार :** इस संस्कार के समय शिशु को ठोस अन्न खिलाया जाता है।
8. **चूड़ाकर्म संस्कार :** इस संस्कार को मुण्डन अथवा चौल संस्कार के नाम से भी जाना जाता है। इस संस्कारों का आयोजन का उद्देश्य यह है कि इससे हर्ष, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि होती है।
9. **कर्णवेध संस्कार :** यह संस्कार रोगादि से बचने और आभूषण धारण करने के उद्देश्य से होता है।
10. **विद्यारम्भ संस्कार :** यह संस्कार बालक जन्म के पाँचवे वर्ष के उपरान्त किया जाता है।
11. **उपनयन संस्कार :** इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन था शिक्षा। बालक के शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाने पर यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार शूद्रों के लिये वर्जित है। इस संस्कार के बाद व्यक्ति द्विज हो जाता है अर्थात् उसका दूसरा जन्म माना जाता है।
12. **वेदारम्भ संस्कार :** गुरू के सानिध्य में पहुँचकर शिष्य का वेदाध्ययन प्रारम्भ करना भी एक संस्कार माना जाता है।
13. **केशान्त या गौदान संस्कार :** यह संस्कार बालक के वयस्क होने का सूचक है।
14. **समावर्तन संस्कार :** यह संस्कार बालक के ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति का सूचक है, यह संस्कार अधिकांशतः 25 वर्ष की आयु में किया जाता है।
15. **विवाह संस्कार :** यह संस्कार हिन्दू धर्म के अनुसार आठ भागों में विभाजित है। ब्रह्मविवाह, देवविवाह, आर्षविवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गन्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह।

16. **अन्त्येष्टि संस्कार :** यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार है। जो व्यक्ति के निधन हो जाने के पश्चात् किया जाता है।

भारतीय संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत सोलह संस्कारों में संगीत पूर्णतः समाहित है। संगीत जीवन के आत्मिक उल्लास, सुखानुभूति एवं दुखानुभूतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है। जैसे- पुत्र जन्म के अवसर पर खुशी की अभिव्यक्ति सोहर, खिलौना, बधावा गीत गाये जाते हैं और शादी विवाह के अवसर पर सभी रस्मों के गारी, बिरहा, बन्ना, ज्यौनार आदि गीत गाने की परम्परा है। जन्म से मृत्यु तक सारा जीवन विभिन्न संस्कारों से शुद्ध और पवित्र होता है। संस्कार गीतों का सम्बन्ध हमारी संस्कृति से है। हमारी लोक संस्कृति भारतीय संस्कृति की रीढ़ है।[15] **''लोक संगीत के संस्कार युक्त संस्करण को शास्त्रीय संगीत की संज्ञा दी गई है।''**[16] पूर्वांचल में मुख्य रूप से भोजपुरी बोली जाती है। भोजपुरी संस्कार की धुरी है। मध्यकाल के उज्जैन राजपूतों द्वारा राजा भोज के नाम पर भोजपुर राज्य का निर्माण हुआ। वही भोजपुर राज्य पूर्वांचल क्षेत्र के नाम से जाना जाता है।

धर्म ग्रन्थों में सोलह संस्कारों का जिक्र है, परन्तु भोजपुरी समाज में छः संस्कारों का विशेष प्रचलन है। जन्म संस्कार, मुण्डन संस्कार, जनेऊ संस्कार, विवाह संस्कार, गवना संस्कार, मृत्यु संस्कार। विभिन्न संस्कारों के अवसर पर जैसे- लगुन जाने पर, भाँत नौतने पर, रतजगा, खोइया, पलकाचार, मण्डप, तेल, ताई, हल्दी, स्नान, विदाई, गौना, सुहागरात आदि अवसरों पर संस्कार गीत गाये जाते हैं।

हिन्दू संस्कार में जन्म संस्कार के समय गाये जाने वाले **सोहर** गीतों को निम्नलिखित तीन खण्डों में बाँटा गया है।

प्रथम खण्ड- पुत्र कामना तथा जन्मोत्सव विषयक सामान्य व्यवहार और लोकाचार सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं। इन गीतों में गणेश वन्दना, सूर्य वन्दना आदि की जाती है तथा व्यंग्यार्थ द्वारा कलात्मक ढंग से आगामी मातृत्व का आनन्दप्रद संकेत मिलता है।[14] जैसे–

सोहर- प्रथम गणेश पदऽ गाईब देवता मनाईब हो,
ललना जब मोरा होइहे बालऽकवा त मोहर लुटाईब हो।।

अथवा

शुभदिन गोरिया नहइली पुह्वबऽ मुँह ठाढ़ भइली हो,
ललना कर जोरी सुरूजऽ मनावे की लोटवन जल भरी हो।।

द्वितीय खण्ड- इस दूसरे खण्ड में पौराणिक, आख्यानों, पात्रों तथा देवी-देवताओं से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं, जैसे- प्रसव जनित वेदना से पीड़ित रानी कौशल्या की लौंड़ी राजा दशरथ से धगड़िन (चमाइन) बुलाने को कहती है,[14] जैसे–

सोहर

एक मुठी चउरा चबऽईनी, चबाउहुँ ना पऽईनी नु हो,
ललना रसे-रसे उठेलारे दरऽदिया दरद से बेयाऽकुल-2 हो।।

अथवा

तासावा खेलतऽ राजा दशरथ चेरिया अरजऽ करे हो,
ललना, राउर धनिया वेदना रे बेयाकुल धगड़िन बोलावहु हो।।[14]

अथवा

केवना नगर में राम जनमले
केवना नगर ले शोर कि आरे सखी रे,
काहावाँ जनमें नव-कुश हो वने में उठे सोहर,
वने में उठे सोहर हो।।

तृतीय खण्ड-इस खण्ड में इस प्रकार के गीत होते हैं जो हास-परिहासात्मक एवं छोटे-छोटे खिलौने, पालना, गीत, लोरीगीत आदि जिनके विषय सोहर के होते हैं, जिसमें राम, कृष्ण आदि पौराणिक चरित्रों का उल्लेख मिलता है।[14] जैसे–

सोहर

जनमें के रहले कॉतिक मासे जनमें भदउवा मासे हो,
ललना ओरी-ओरी बेंङवा कुहुंकले त गोतिनी बोलावहु हो।।
छठी या सउर लिपाई - आधा घर लिपली ननदिया
त आधा हठ ठानेली हो,
ए भाभी देई देहु सोने के लरियावा तबही घर लिपहुं हो।

बधईया

कृष्ण जनम भइले आजु बधईया बाजेला।
नाँचत-गावत पवनी अइले, कहेले की नेग चाहीं गहना, बधईया..

उलारा

दउरऽ दउरऽ हो अम्मा हमार, कमरिया में पीरा भयो।
अब ना सोहाला हमें लाली अटरिया,
नाही तो सोठ गुड़ खाईब, कमरिया...

पालना गीत

पालना में ललना झुलावे सांवर गोरिया
आवऽ-आवऽ चाँद मामा आवऽ हो अजोरिया।

खिलौना गीत

केवन रंगवा वृन्दा रे वनवा, केवल रंग जमुना,
आरे सखी केवन रंग मोरा वाला कन्हईया खेलेले भरि अँगना।।[14]

अथवा

चन्दा मामा आरे आवऽ पारे आवऽ, नदिया किनारे आवऽ हो,
ए चन्दा आवऽ ना अँगनवा के बीच कन्हईया मोरा खेलिहन हो।।

लोरी गीत- आई-आई-आई गइया दुहाईं, बबुआ पीके पढ़े जाई।

अथवा

अनर-बनर पुआ पाकेला, चिलर खोंईछा नाचेला,
चिलरा के पुतवा गईल खेत खलिहाने, ले आईल तिलठिया धान।।[15]

अथवा

चन्दा मामा दूर के, पुआ पकाये गुर के।
अपने खाये थाली में, मुन्ना को दे गये प्याली में।[15]

गारी गीत (सोहर)

बबुआ के नानी बड़ लहरी, माड़ावा पियेली साढ़े तीन गगरी।
बबुआ के ईया बड़ सुहरी, सतुआ खइली साढ़े तीन धोकरी।।

आँख-अँजाई

बबुआ के लागे नाही केहु के नजरिया,
आवऽ-आवऽ चाँद मामा आवऽ हो अजोरिया।

इसी प्रकार से मुण्डन, जनेऊ, विवाह, गवना एवं मृत्यु संस्कार के समय भी हिन्दू धर्म में संस्कार गीत गाये जाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. षोड्श संस्कार विवेचन- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, पृ.सं. 1.34
2. वही पृ.सं. 1.33
3. वही पृ.सं. 1.29
4. वही पृ.सं. 3.1
5. वही पृ.सं. 3.2
6. कल्याण, संस्कार- अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ.सं. 37-38
7. वही पृ.सं. 271
8. वही पृ.सं. 78
9. वही पृ.सं. 77
10. वही पृ.सं. 69
11. वही पृ.सं. 7
12. धर्म-चक्र प्रवर्तन एवं लोक मानस का शिक्षण- पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।
13. कर्मकाण्ड- भास्कर, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (शान्तिकुन्ज हरिद्वार)
14. भोजपुरी संस्कार गीत- हंसराज तिवारी एवं राधा वल्लभ शर्मा।
15. भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन- डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय।
16. संगीत विशारद वसंत (संगीत कार्यालय, हाथरस), पृ.सं. 556

वैदिक वाङ्मय में जीवन-मूल्य के रूप में पुरूषार्थ

जूली सिंह एवं डॉ. सतीश चन्द दुबे***

वैदिक वाङ्मय में 'पुरूषार्थ' मानव जीवन के मूल स्तम्भ है जिनकी उपलब्धि सम्पूर्ण मानव जाति को करनी है। इन्हें मानव मूल्यों के रूप में स्वीकार कर भारतीय मनीषा ने तत्व और मानव अस्तित्व के प्रति महत्वपूर्ण कार्य किया है। मानव का सर्वांगीण विकास 'पुरूषार्थ' के माध्यम से होता है। पुरूषार्थ मनुष्य का वह आधार है जिसके अनुगमन से वह अपना जीवन जीता है तथा विभिन्न कर्त्तव्यों का मनोनिवेशपूर्वक पालन करता है। भारतीय चिन्तन परम्परा मे पुरुषार्थ वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृति, महाकाव्य और नीतिग्रन्थो मे यत्र-तत्र उद्धत है। हिन्दू विचारकों का यह जीवन दर्शन विश्व का अकेला दर्शन है जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है, कामना है तो साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है। उसमें व्यक्ति के उत्कृष्ट जीवन की साधना का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसरण से व्यक्ति अधर्म, अन्याय अवांछनीय विषय भोग से आसक्ति का परित्याग कर धर्म, न्याय, वाछनीय अनासक्त मार्ग का अनुसरण कर परम पुरूषार्थ को प्राप्त हो जाता है। जीवन समस्याओं का नाम है, समस्याओं से घबराकर मनुष्य को अपने लक्ष्य से विमुख नही होना चाहिए। समस्याएँ ही चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करती है। पुरूषार्थ के मार्ग का परित्याग करने से श्रेष्ठ गति नहीं होती है, क्योंकि जीवन मे उत्कर्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ का अनुसरण आवश्यक है।

'पुरूषार्थ' का अर्थ है– 'पुरूष का उद्देश्य' और उसका मुख्य प्रयोजन है 'सुखी जीवन'। जीवन में भौतिक सुख एवं आध्यात्मिक सुख दोनों का महत्व है एवं दोनों का समन्वित और सन्तुलित रूप जीवन को उन्नत करता है तथा जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता इसी से सम्भव है। अतः भारतीय जीवन दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों के संतुलित, सम्मिलित और समन्वित रूप को 'पुरूषार्थ' कहा है। मानव जीवन के उत्कर्ष के निमित्त पुरा काल में आश्रम की व्यवस्था की गई थी जिसकी सफलता पुरूषार्थ पर ही निर्भर थी। अतः पुरूषार्थ से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है साथ ही समाज का भी उत्कर्ष होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरूषार्थ माने गए जिन्हें शास्त्रकारों ने 'चतुवर्ग' कहा। वैदिक परम्परा के अनुसार पुरूषार्थ चतुष्टय के अर्थ और काम 'प्रेममार्ग' के अन्तर्गत आते है तथा धर्म और मोक्ष 'श्रेयमार्ग' के। ये पुरूषार्थ मनुष्य के मूल उद्देश्य हैं। 'धर्म' मनुष्य को सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराता है जो असत् (पाशविक) और सत् (दैवी) प्रकृति के मध्य का सेतु है। अर्थ मनुष्य की संतुष्टि और विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की उसकी उत्कंठा व्यक्त करता है। 'काम' मानव जीवन की सुखद और सहज अनुभूति से सम्बद्ध है, जिसके माध्यम से वह अपनी कामजनित प्रीति रूप भावना और वृत्तियों की तृप्ति करता हैं। 'मोक्ष' का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से तथा मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से है। इस प्रकार से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से समन्वित पुरूषार्थ व्यक्ति के जीवन को गरिमा-मण्डि बनाता है और उसके निवृत्तिमूलक व्यक्तित्व का निर्माण करता है। स्पष्ट है कि पुरूषार्थ जीवन-मूल्य के स्तम्भ है जिसमें धार्मिक (नैतिक) भौतिक (सांसारिक) तथा आध्यात्मिक (ईश्वरीय) तत्वों का निवेशन है।[1]

धर्म : भारतीय चिंतन परम्परा का प्रथम पुरूषार्थ है एवं भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले वेदों के विवेच्य विषयों को धर्म का मूल माना गया है **'वेदाऽलिखो धर्ममूलम्'[2]।** धर्म शब्द का अर्थ है धारण करने वाला। धर्म ही ऐसा तत्व है, जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने के योग्य बनाता है। **'धारयते लोकम् इति धर्म।** धर्म ही परिवार समाज और शब्द को एकसूत्र में पिरोने का कार्य करता है। मनु के अनुसार,''यह धर्मशास्त्र अभीष्ट अर्थ को प्राप्त करने वाला बुद्धि का विकास करने वाला कल्याणकारी यश दीर्घ आयु तथा मोक्ष प्राप्ति में सहायता देने वाला है''।

इदं स्वस्व्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निः श्रेयसः परम्[3]॥

महर्षि कणाद ने धर्माचरण के परिणाम को दृष्टि में रखकर कहा है– जिससे लौकिक अभ्युदय तथा परलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि होती है, वह धर्म है।

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसासिद्धिः स धर्मः[4]।

मनु ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं, वे हैं- सत्य, अहिंसा, असंग्रह, अचौर्य, दया, दान, धैर्य, सहिष्णुता, अक्रोध, संवेदन, शीलता। यथा–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्[5]॥

इन्हीं अर्थों में धर्म शाश्वत नैतिकता और मानव धर्म बन जाता है। ऋग्वेद के अनुसार **सत्यात नास्तिपरो धर्मः** अर्थात सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। धर्म किसी वस्तु का वह सार या

*शोधछात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**असिस्टेन्ट प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सिद्धान्त है, जिसके कारण वह वस्तु उस रूप में है, जैसे– अग्नि का धर्म जलाना है, पानी का धर्म शीतलता प्रदान करना है, आदि। इसीलिए धर्म को 'धृ' धातु से उद्धृत बतलाया गया है, जिसका अर्थ है जो धारण करे। अतः प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना धर्म है। मानव का सार आत्मा है एवं उसका वास्तविक धर्म आत्मानुसरण है। सृष्ट्रीय सन्दर्भ में सूर्य, चन्द्र, आकाश आदि की भांति धर्म भी एक है, जिसको वेदों में 'ऋतु' कहा गया है। यही नियम (धर्म) अनेकानेक पदार्थों में पृथक-पृथक रूप में प्रकट होता है। जिस प्रकार सौंदर्य तत्व एक है, परन्तु वह विभिन्न वस्तुओं के सौदर्य के रूप में प्रकट होता है। वृक्ष, पुष्प या नारी के सौंदर्य अलग-अलग होते हैं। इसीलिए मानवमात्र के संदर्भ में भी धर्म एक है। वेद में धर्म को बैल के उदाहरण से समझाया गया है, जिसमें धर्म (वृष), पृथ्वी (गौ) का संरक्षक है। धर्म (वृष) के लक्षण को बैल के चार पैरों से (सत्य, तप, दया, दान) से समझाया गया है। अतः वही मानव धार्मिक है, जिसमें ये चारों लक्षण विद्यमान हैं।

धर्म के तीन मूल कार्य हैं, जो आचरणगत नियमों का संग्रह है– (1) नियन्त्रण (2) व्यक्तित्व का उत्थान और (3) जीवन के अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष' के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करना।

धर्म व्यक्ति के उन सभी गुणों परिस्थितियों एवं कार्यों को अभिव्यक्त करता है, जिनसे वह एक सुसंस्कृत मार्ग का अनुगमन करता है। जिनके अनुरूप व्यक्ति अपना दैनिक जीवन व्यतीत करता है और सामाजिक बंधनों की स्थापना होती है, वही धर्म है। यही जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।

धर्म की आवश्यकता अभ्युत्थान के लिए है और अभ्युदय से सुख मिलता है। अतः सुखार्थी मनुष्य को भी धर्म पुरूषार्थ की सिद्धि में तत्पर रहना चाहिए। यथाः

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रतिन्तयः।
सुखं च न बिना धर्मत् तस्माद् धर्मपरो भवेत्।।[6]

मनु के अनुसार, जो धर्म की हत्या करता है, धर्म उसका पूरी तरह नाश कर देता है। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। अतएव धर्म का नाश कभी नहीं करें ताकि सुरक्षित धर्म हमारी रक्षा कर सके। अतः स्पष्ट है कि धर्म मनुष्य के विश्वास, नैतिक आचरण, व्यवहार और उसकी आस्तिकता से है, जिसमें मनुष्य का दैनंदिन और सामाजिक जीवन नियंत्रित और विकसित होता है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षित रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नोधर्मोहतो अवधीत्।।[7]

अर्थ : पुरूषार्थ में दुसरे स्थान पर है। मानव जीवन में अर्थ एक महत्वपूर्ण मूल्य है, जो जीवन की समस्त भौतिक सुख-सुविधा का आधार है। भौतिक उन्नति के लिए अर्थ पुरूषार्थ का सेवन आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति के सभी प्रयोजन अर्थ के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकते। आचार्य वात्स्यायन के अनुसार विद्या, भूमि, स्वर्ण, पशु, धन-धान्य बर्तन मित्रादि का अर्जन करना ही अर्थ पुरूषार्थ है।

विद्याभूमि-हिरण्य-पशु-धनधान्य-भाण्डोपस्कर ।
मित्रादिनाम् अर्जनम, अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः।।[8]

आचार्य चाणक्य ने भूमि को सर्व श्रेष्ठ 'अर्थ' माना है, क्योंकि इसके अतिरिक्त सभी पदार्थो के उपार्जन का आधार यही भूमि है इसी में सब निवास करते हैं और इसी में अन्नादि का उपार्जन किया जाता है–

मनुष्याणां वृत्ति अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।[9]

मनु ने जीविकोपार्जन के माध्यम से चारों वर्णों के लिए अलग-अलग धर्म बतलाये हैं। क्षत्रिय का अस्त्र-शस्त्र धारण करना, ब्राह्मण-वेद अध्ययन अध्यापन, यज्ञ करना आदि, वैश्यों के लिए पशुपालन व कृषि करना। आपातकालीन स्थिति में ब्राह्मण क्षत्रिय धर्म से जीविकोपार्जन कर सकता है, इसके अभाव में वैश्य के कर्म से धन संचय कर सकता है यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने निर्धारित कर्मों से जीविका न चला पाएं तो वे कुछ दुष्यों को छोड़कर धन वृद्धि करने वाले व्यापार कर सकते हैं।

मनु ने सात (7) प्रकार के धन की प्राप्ति को धर्म के अनुकूल बताया है–

(1) उत्तराधिकारी से प्राप्त धन। (2) भूमि आदि में पूर्वजों के गड़े हुए धन की प्राप्ति। (3) सस्ती वस्तु के क्रय से हुआ धन लाभ। (4) युद्ध में विजय से प्राप्त धन। (5) ब्याज और कृषि से मिला हुआ धन। (6) नौकरी आदि से वेतन के रूप में मिला हुआ धन। (7) सज्जन व्यक्ति से मिला हुआ धन।

भारतीय शास्त्रकारों ने भी अर्थ की महत्ता और आवश्यकता पर समान बल दिया है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है। अर्थ सम्पन्न (धनी) लोग सुख से रह सकते हैं। अर्थहीन (निर्धन) लोग मृत सदृश हैं किसी एक के धन का क्षय करते हुए उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है। धन को काम और अर्थ स्थापना का आधार माना गया है इससे स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। धर्म स्थापना के लिए अर्थ अनिवार्य है क्योंकि इस से प्राप्त सुविधा द्वारा धार्मिक कृत्य किए जा सकते है। जो धन से अनादृत है, वह धर्म से भी क्योंकि समस्त धार्मिक कार्यों में धन की अपेक्षा की जाती है। अर्थविहिन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है। अर्थ के बिना जीवनयापन असंभव है। अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण क्या नहीं होता, दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक अथवा चाण्डाल के समान है। अतः धन (अर्थ) ही जगत का मूल है।

इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के जीवन में अर्थ का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। धनार्जन, उपभोग्य, वस्तुओं के प्रति उत्कण्ठा एवं खान पान की विविध वस्तुओं का मोह आदि भौतिक सुख और धन सम्पत्ति का फल दुःखद होता है तथा धर्म विरूद्ध कार्यों में धन व्यय करना भी निन्दनीय माना गया है। अतः अर्थ के निमित्त किये जाने वाले प्रयास में धर्म की संस्तुति अवश्य होनी चाहिए।

काम : भारतीय मनीषियों ने काम को तीसरा पुरूषार्थ माना है। मनुष्य की जीवनयात्रा में जो स्थान धर्म और अर्थ का है, वही स्थान काम पुरूषार्थ का भी है। काम शब्द **'काम्यते इति कामः'** से व्युत्पत्ति के आधार पर विषय और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न मानसिक आनन्द है। काम का अर्थ इच्छा एवं कामना से भी है। मानव उन्हीं पदार्थों की इच्छा एवं कामना करता है जो उसे मानसिक और शारीरिक आनन्द देते हैं। अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा विभिन्न पदार्थों की जो इच्छा मनुष्य करता है, और इन सब पदार्थों को पाने के लिए जो उद्योग करता है, वही काम है। ऋग्वेद में काम की रूपरेखा इस प्रकार बतलाया है यथा

कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसा रेतः प्रथम यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरभिन्दन हृदा प्रतीच्यां कवया मनीषा॥[10]

अर्थात्, आनन्द और उससे सम्बन्धित साधनों को प्राप्त करने का मानसिक संकल्प काम कहलाता है। काम का सामाजिक आधार महत्वपूर्ण है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। विवाह के माध्यम से पति पत्नी के सम्बन्ध तथा प्रजनन के माध्यम से पारिवारिक और सामाजिक निरन्तरता काम के सामाजिक आधार है। प्रेम, स्नेह, अनुराग, सौन्दर्य प्रियता से मनुष्य के मन और मस्तिष्क में कोमल भावनाएँ उदीप्त होती हैं जिससे उसका व्यक्तित्व निखरता है तथा वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति उन्मुख होता है। काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को इन्द्रिय संतुष्टि और अदम्य इच्छाओं से विरत करता है तथा वह आत्मिक उत्थान भी ओर अग्रसर होकर धार्मिक बनता है। व्यक्ति का प्रेम, स्नेह, अनुराग और आकर्षण उच्चतर अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ पर ईश्वर के प्रति आकृष्ट होता है, जो मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। विषय भोग के प्रति उसकी वितृष्णा होती जाती है और वह इश्वर के प्रति अनुरक्त होता जाता है। अतः काम पुरूषार्थ का मुख्य उद्देश्य है 'तत्वज्ञान पूर्वक जीवन निर्वाह'।

अतः स्पष्ट है कि काम पुरूषार्थ को पूरी तरह छोड़ना अथवा एकमात्र उसी को ग्रहण करना, दोनों मार्ग अनुचित हैं। सामान्य और विशिष्ट प्रकार के काम का सेवन लोक यात्रा की दृष्टि से अनिवार्य है। जब इसकी धर्मानुकूल तथा अर्थानुकूल सिद्धि होगी, तभी यह पुरूषार्थ का रूप धारण करके व्यक्ति के उत्थान में सक्षम हो सकता है।

मोक्ष : भारतीय चिंतन परम्परा में मानव जीवन का प्रयोजन परम पुरूषार्थ मोक्ष है। इस अवस्था में मनुष्य सुख शांति की चरमावस्था को प्राप्त करता है एवं उसको आत्म तत्व के पूर्ण संतोष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष का अर्थ है जन्म मरण के चक्र से मुक्ति, सांसारिक बंधनों से छुटकारा तथा सब प्रकार के दुःखों से मुक्ति। यही परम आनन्द की अवस्था है। महर्षि वेदव्यास के अनुसार, राग द्वेष से रहित होकर ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थी और सन्यासी अपने-अपने निर्धारित कर्मो का विधिपूर्वक अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं-

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति चरमां गतिम्॥[11]

वस्तुतः मोक्ष पुरूषार्थ की कोटि में तब आता है, जब त्रिवर्ग सेवन के पश्चात् व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर जगत् को मिथ्या समझकर परमात्मा में लीन होने लगता है। श्रीमद्भागवत् में तो भगवत्प्राप्ति के लिए प्रेरित किया गया है–

तदस्य त्रिविधस्यापि दुःखजातस्य वै मम् ।
गर्भजन्मजरद्येषु स्थानेषु प्रभविष्यतः।[12]

मनु ने मोक्ष प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा तथा गुरू सेवा, इन छः कर्मो को मोक्ष का साधन माना है, अतएव मोक्षार्थी को नियमपूर्वक इन कर्मो को करना चाहिए–

वेदाभ्यासस्तयोजानमिन्द्रियाजां च संयमः।
अहिंसा गुरूसेवा च निः श्रेयसकरं परम् ॥[13]

भारतीय दार्शनिक मोक्ष पुरूषार्थ के वर्णन से युक्त इतिहास पुराणादि ग्रन्थों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन को मोक्ष के साधन मानते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भाक्तियोग को मोक्ष का मुख्य साधन बताया है। शंकराचार्य कहते हैं कि जीव का ब्रह्म में लय हो जाना ही मोक्ष है। सांख्यदर्शन के प्रर्वतक आचार्य कपिल ने भी त्रिविदा दुःख से छुटकारा दिलाने वाले मोक्ष को ही परम पुरूषार्थ माना है–

अथ त्रिविध दुःखत्यान्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरूषार्थ ।[14]

मनु के अनुसार, मोक्ष की दो अवस्थाएँ हैं- जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। ''वह कर्म जो इस लोक एंव परलोक में सुख प्राप्ति की इच्छा से किया जाता हैं वह प्रवृत्तिमूलक होता हैं निष्काम कर्म अर्थात सभी कामनाओं के स्वार्थ से रहित होकर किया गया कर्म निवृत्तिमूलक होता है।'' यदि पुरूष (मानव) प्रवृत्तिमूलक कर्मो को करता है तो वह देवताओं के समान हो जाता है। लेकिन जब वह निवृत्तिमूलक कार्य करता है, तो कार्य करने के फलस्वरूप वह पंचभूत तत्वों से परे जाकर जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है एवं परम् पुरूषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

पुरुषार्थ चतुष्टय का यह सिद्धान्त इसलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में एक्य स्थापित किया। पुरुषार्थ के अन्तर्गत इन दोनों स्थितियों का समुचित सामंजस्य ही व्यक्ति के अभ्युदय, लौकिक उन्नति और निःश्रेयस, आध्यात्मिक उन्नति का हेतु हो सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष पुरूषार्थ से ही संभव है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को मानव-मूल्यों के रूप में स्वीकार कर भारतीय मनीषा ने तत्व और मानव-अस्तित्व के प्रति अमूल्य योगदान दिया है। पुरुषार्थ के द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक आधार का अनुसरण करके मनुष्य अपने जीवन के प्रयोग को प्राप्त कर सकता है। वह अपने विभिन्न कर्मों और कर्त्तव्यों का संपादन पुरूषार्थ के ही संयोग से कर सकता है तथा इसी के माध्यम से अपने विविध उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक पूर्ण कर सकने में समर्थ होता है। मनुष्य का समाजिक, धार्मिक आध्यात्मिक और आर्थिक उत्कर्ष पुरूषार्थ से ही संभव है। पुरूषार्थ से ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। विवेकशीलता, कर्त्तव्यपालन, संतुलित और व्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करने से पुरूषार्थ की प्राप्ति संभव है।

आज वर्तमान सामाजिक सांस्कृतिक परिपेक्ष्य में पुरूषार्थ का मानव जीवन से विचलन हुआ है। समाज में अनेकों प्रकार की विसंगतियाँ एवं समस्याएँ उत्पन्न हो गयी है। नैतिक मूल्यों का ह्रास एवं अपराधों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। धर्म के नाम पर अधर्म (आतंकवाद, उग्रवाद) अर्थ के नाम पर अनर्थ (भ्रष्टचार) बन्धनग्रस्तता, लोभ, लालच, अनैतिकता (मृत्यु-हत्या) व्याप्त है। जिस कारण आज समाज में नैतिकता, अमन-शांति की जगह भय की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है।

इस प्रकार पुरूषार्थ की सबसे बड़ी महत्ता उसे निश्चित समय (आयु) में प्राप्त करना है तथा साथ ही उसके प्राप्ति का आधार भी नैतिक होना चाहिए। परंन्तु एक ओर जहाँ समय का ध्यान नहीं रखा जाता, वहीं उचित विधि से पुरूषार्थों की प्राप्ति भी नहीं की जा सकती। अनेको ऐसे उदाहरण हमारे समक्ष प्राप्त होते हैं, जिसमें व्यक्ति वानप्रस्थी अवधि में काम पुरूषार्थ या अर्थ पुरूषार्थ की प्राप्ति में जीवनभर लगा रहता है। ऐसा विचलन व्यक्तिगत तौर पर व्यक्तित्व विकास के लिए, सामाजिक विकास के लिए एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए बाधक सिद्ध होती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सभी समयानुकूल एवं नैतिक विधि से पुरूषार्थ करें। इस प्रकार से वैदिक वाङ्मय में पुरूषार्थ मानव-जीवन के मूल स्तम्भ हैं। मानव रूपी वृक्ष की जड़ धर्म है, अर्थ और काम इस वृक्ष का समस्त कलेवर है, जो अभ्युदय का प्रतीक है। इस वृक्ष का फल मोक्ष है। इस तरह भारतीय चिंतन ने नाशवान् मानव के प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रयोजनों की सम्यक पूर्ति हेतु श्रेष्ठ साधन का अन्वेषण किया। जो अभ्युदय के माध्यम से निःश्रेयस की ओर बढ़ने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग भी है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राधाकृष्णन, रिलीजन ऐंड सोसायटी
2. मनुस्मृति, 2/16
3. मनुस्मृति, 1/107
4. ऋग्वेद
5. मनुस्मृति, 6/91
6. शुक्रनीति, 3.1
7. मनुस्मृति, 8/15
8. कामसूत्र, 1
9. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 15.1
10. महाभारत, शांतिपर्व, 109.58
11. महाभारत शांतिपर्व, 242, 13
12. श्रीमद्भागवत् गीता 6.5
13. मनुस्मृति, 12/83
14. सांख्यसूत्र, 1.1

योगवासिष्ठ में मनोविज्ञान

डॉ. मीना पाण्डेय एवं डॉ. सरोज कुमार पाढ़ी***

मनोविज्ञान शब्द अंग्रेजी भाषा के Psychology शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जो ग्रीक शब्द Psyche- Logas से बना है। अतः इस Psychology शब्द की व्युत्पत्ति Psyche- Logas से हुई है। Psyche का अर्थ है- आत्मा और Logas का अर्थ है– विज्ञान[1]। अर्थात् मनोविज्ञान शब्द का स्पष्ट अर्थ होगा– आत्मा का विज्ञान (आत्मा का विशिष्टज्ञान)। सर्वप्रथम ग्रीक मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को आत्मा का विज्ञान (अनुभवात्मक ज्ञान) कहकर परिभाषित किया किन्तु समय के साथ-साथ मनोविज्ञान की परिभाषा बदलती गई। सोरहवीं शताब्दी के अन्त तक मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को आत्मा के विज्ञान के रूप में स्वीकार किया किन्तु आत्मा किसे कहते हैं, आत्मा का आकार क्या है, उसका स्वरूप क्या है इसी तरह के कई प्रश्नों का समाधान न मिल पाने के कारण मनोविज्ञान के इस परिभाषा को बदलकर मन के विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान को स्वीकार किया गया। तात्पर्य यह हुआ कि मनोविज्ञान की विषयवस्तु आत्मा से हटकर मन पर आ-टिकी किन्तु पाश्चात्यमनोवैज्ञानिकों के सामने फिर वही समस्या का पुनरागमन हुआ जिसके कारण मनोविज्ञान की दूसरी परिभाषा बनाई गयी थी अर्थात् मन किसे कहते हैं, मन का स्वरूप क्या है, उसका आकार क्या है इत्यादि-इत्यादि। कालान्तर में मनोविज्ञान ''मन का विज्ञान है'' को अस्वीकार करके चेतना के विज्ञान के रूप में स्वीकार किया गया। चेतना का विज्ञान कहने का तात्पर्य है कि चेतना प्राणी की वह अनिवार्य विशेषता है जिसके कारण लोक में व्यवहार करता है किन्तु बाद में विद्वानों के बीच मनोविज्ञान की परिभाषायें इसी तरह बदलती रहीं, कारण यह था कि आत्मा, मन, चेतना का ज्ञान मनोवैज्ञानिकों के पास प्रत्यक्षात्मक नहीं था क्योंकि आत्मा, मन आदि कोई स्थूल पदार्थ नहीं जो इन्द्रिय का विषय हो। ये तो अत्यन्त सूक्ष्मतत्त्व है इन पर अध्ययन करना असम्भव है क्योंकि इनके अपरोक्षानुभव की अनुभूति केवल दार्शनिक चिन्तन में ही की जा सकती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि योगवासिष्ठ का अध्ययन करे तो सर्वप्रथम योगवासिष्ठ के संक्षिप्त परिचय का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

दार्शनिक, साहित्यिक, पौराणिक, आध्यात्मिकग्रन्थों में उत्कृष्टतम स्थान पर शोभित इस ग्रन्थरत्न के काल और रचयिता के विषय में आधुनिक विचारकों के विषय में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है किन्तु यदि उपलब्ध ग्रन्थों का अन्तः अवलोकन किया जाय तो वसिष्ठरामसंवाद के रूप में योगवासिष्ठ को हिरण्यगर्भब्रह्म के आदेश से महर्षि वाल्मीकि ने लोककल्याणाय लिखा, और भी जब महर्षि वाल्मीकि ने चतुर्विंशतिसहस्र श्लोकों से परिपूर्ण रामायण (पूर्वरामायण, वाल्मीकिरामायण) ग्रन्थ की रचना करके अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को सुनाया तथा ऋषि भरद्वाज ने सुमेरु पर्वत पर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा को सुनाया तो प्रसन्न चेता ब्रह्माजी ने ऋषि भरद्वाजजी से कहा-

गुरुं वाल्मीकिमत्राऽऽशु प्रार्थयस्व प्रयत्नतः।
तेनेदं यत्समारब्धं रामायणमनिन्दितम्।।[2]

अरिष्टनेमि आदि अन्यान्य ऐसे भी कथा प्रसङ्ग यहाँ प्राप्त होते हैं जो हमें यह मानने को बाध्य करते हैं कि यह रत्न महर्षि वाल्मीकि प्रणीत है।

इह वैराग्यमुमुक्षुव्यवहारोत्पत्तिस्थितयः।
उपशमनिर्वाणाख्ये वासिष्ठे षट् प्रकरणानि।।[3]

उक्त वैराग्यादिषट् प्रकरणों में विभक्त सम्पूर्ण योगवासिष्ठ 32000 पद्यों से परिपूर्ण है जिसका उल्लेख स्वयं योगवासिष्ठकार ने किया है–

द्वात्रिंशत् सहस्राणि ज्ञातानिर्वाणदायिनी।।[4]

लौकिक-अलौकिक आख्यानोपाख्यान से समन्वित इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के विषय में यदि कहा जाय कि यह ग्रन्थ आत्मा के विशिष्ट ज्ञान का ही प्रतिपादन करता है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसका लक्ष्य ही है– प्राणिमात्र के अध्ययन करने से अथवा श्रवण करने मात्र से आत्मज्ञान का अपरोक्षानुभव कराये। अथवा जीव से ब्रह्म, पुरुष से पुरुषोत्तम, नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा का साक्षात्कार कराना ही इसका उद्देश्य है। यथा–

एतच्छास्त्रघनाभ्यासात्पौनः पुन्येन वीक्षणात्।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी।।
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः।
जीवन्मुक्तित्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते।।[5]

अर्थात् इस शास्त्र को बारम्बार अध्ययन करने से और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को भलि-भाँति व्यवहार में लाने से मनुष्य में महान् गुणों वाली नागरिकता का उदय हो जाता है। इस ग्रन्थ के श्रवणमात्र से बुद्धि में परमज्ञान और जीवन्मुक्ति का अनुभव होने लगता है।

---

*प्रवक्ता, जी. जी. आई. सी., डोमनपुर, मिर्जापुर।
**प्रवक्ता, वैदिकदर्शनविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

यद्यपि योगवासिष्ठ एक प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण इसमें वर्तमानकालीन मनोविज्ञान शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता है तथापि मनोविज्ञान का तात्पर्य आत्मा का विज्ञान के रूप में ग्रीक विचारकों ने जो स्पष्ट किया उस तात्पर्य को योगवासिष्ठ के अनुसार स्पष्ट किया जा सकता है। और भी मनोविज्ञान की परिभाषाओं को बदलने की जो विवशता विचारकों के सामने आयी थी वैसी समस्या हमारे ग्रन्थ में दृष्टिगोचर नहीं होती कारण यह था कि आत्मा अविनाशी ब्रह्म का स्वरूप होने से सर्वत्र व्याप्त व अनुस्यूत है। सर्वत्र व्याप्त होने पर भी उस अनिर्लिप्त आत्मा के द्वारा ही मन, चेतना, व्यवहार आदि सभी अस्तित्ववान् होकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न होते हैं किन्तु इस सर्वव्यापी आत्मा का ग्रहण स्थूल इन्द्रियों से परे होने से मात्र इसका अनुभव किया जा सकता है क्योंकि आत्मज्ञान की और उसके अभ्यास की पराकाष्टा आत्मानुभव में होती है। विचार और अभ्यास के परिपक्व हो जाने से आत्मानुभव का उदय होता है। यह अनुभव एक विचित्र प्रकार का अनुभव है जिसकी उपमा किसी दूसरे अनुभव से नहीं की जा सकती है यह अवर्णनीय है किन्तु चित्त के एक विषय से दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त होने के बीच की जो मानसिक क्रियारहित स्थिति है वह आत्मस्वरूप की स्थिति है, शिला के भीतर के समान, सभी सङ्कल्पों के क्षीण हो जाने पर जो जडता और निद्रा से रहित जो अपने भीतर का अनुभव है वह स्वस्वरूप की स्थिति है। अहं भाव के शान्त हो जाने पर, भेदबुद्धि का अनुभव न रहने पर और स्पन्दरहित सागर के समान जो अजड सा अनुभव होता है वह अपने स्वरूप का अनुभव अथवा आत्मानुभव है। यथा–

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये हि या स्थितिः।
निरस्तमनना यासौ स्वरूपस्थितिरुच्यते॥
सशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलान्तरिव स्थितिः।
जाड्यनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः स्मृता॥
अहंतांशे क्षते शान्ते भेदे निस्पन्दतां गते।
अजडा या प्रचकति तत्स्वरूपमिति स्थितम् ॥[6]

उक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम ग्रीकविचारकों ने जो मनोविज्ञान की परिभाषा बताई– ''मनोविज्ञान आत्मा का विज्ञान है'' यह शायद हमारे ग्रन्थों से प्रेरित होकर बनाई होगी क्योंकि इसका समर्थन योगवासिष्ठ, गीता आदि ग्रन्थों में पहले से ही कर दिया गया था किन्तु कालान्तर में जो मनोविज्ञान का स्वरूप बदला उसका एक प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि जिसकी जहाँ तक प्रज्ञा पहुँची वही स्वीकार कर लिया, क्योंकि सृष्टि के अनन्तर बलबुद्धिशक्ति सभी के सभी शनैः-शनैः क्षीण ही होते हैं जिसका प्रमाण प्राप्त होता है उदयनाचार्य कृत न्यायकुसुमाञ्जलि के हरिदासी टीका में–

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्॥[7]

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. सामान्यमनोविज्ञान पृष्ठ 1
2. योगवासिष्ठ 1. 2. 9-10
3. लघुयोगवासिष्ठ 6. 84
4. योगवासिष्ठ 2. 17. 6
5. वही 2. 18. 36, 8
6. वही 3. 117. 8-10
7. न्यायकुसुमाञ्जलि 2. 3

भारतीय धर्मों के ऐक्य बिन्दु : एक समीक्षा

आचार्य रत्नाकर पाण्डेय एवं डॉ. शीतला प्रसाद पाण्डेय***

विश्व के सभी शाश्वत धर्मों ने मनुष्य को गौरव पूर्ण बताने का प्रयास किया। कुछ विचारकों की दृष्टि में मनुष्य निकृष्टतम प्राणी भी बताया गया। किन्तु मानव विकास की प्रक्रिया में उसे नियन्त्रित और संयमित करने में सबसे अधिक भूमिका धर्मों की रही है। भारत विश्व के प्रमुख धर्मों का केन्द्र रहा है। इस समीक्षात्मक निबन्ध का उद्देश्य भारतीय धर्मों की आधारभूत रचना में **ऐक्य या समन्वय के बिन्दुओं की खोज है।** ''समीक्षा में सन्दर्भों की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती। समीक्षा में तटस्थ होना भी आवश्यक नहीं होता। हाँ समीक्षा तथ्यों की व्याख्या करते समय उनके वास्तविक मूल्यांकन की आकांक्षा रखती है। समीक्षा लेख की किसी विशिष्ट प्रविधि से मुक्ति प्रदान करती है।''[1] इस दृष्टि से समीक्षात्मक लेख के माध्यम से लेखक आत्म संरक्षित होते हुए विवादों से बच जाता है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने एक लेख **'श्री अरविन्द की मानव विषयक धारणा'** में मानव के प्रति विविध विचारों का संकलन किया है। चूँकि धर्म का प्रधान वाहक मानव होता है अतः मानव विषयक धारणाओं का उल्लेख यहाँ अपेक्षित जान पड़ता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह के लेख के अनुसार– ''श्री अरविन्द कहते हैं कि मानव मस्तिष्क एक अपूर्ण मशीन है जो अन्तिम विकासमान वस्तु नहीं है अपितु इसके ऊपर का स्तर अतिमानसिक सत्ता है। यह सत्ता आध्यात्म केन्द्रित धर्म से प्रसूत होकर पृथ्वी के जन जीवन को अज्ञान में जीने से मुक्ति दिला सकती है। श्री अरविन्द व्यक्तिगत मुक्ति की अपेक्षा पूरी मानव जाति की भलाई के हिमायती हैं।''[2]

अन्य प्रखर विचारकों में राष्ट्र कवि रामधारी सिंह **'दिनकर'** ने मनुष्य की परिभाषा देते हुए कहा कि–

एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान,
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी वही विद्वान् ।
और मानव भी वही।[3]

भारतीय अवतार वाद का मूल उद्देश्य 'धर्म' के अभ्युदय हेतु दिखाई पड़ता है। महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा में कहा कि–

''यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः''[4]

भगवान **तथागत** ने कहा कि 'अत्तनो सभावं धारेतीति धम्मो''।[5]

उपरोक्त कथनों की तीखी–मीठी परिचर्चा से एक बात सामने आती है कि सृष्टि के विकास में मानव ने विचारना प्रारम्भ किया अच्छे विचारों को आचार में ढालकर उसने सदाचारों की सूची बनायी, जो कालान्तर में 'धर्म' के रूप में सामने आया। तभी तो महामना पं. मदन मोहन **मालवीय जी** ने कहा था कि 'पृथ्वी मण्डल पर जो वस्तु मुझे सबसे अधिक प्यारी है, वह ''धर्म'' है और वह धर्म सनातन धर्म है।''[6]

हम यहाँ कुछ पाश्चात्य विचारों को इंगित करना चाहते हैं ताकि भारतीय विचारों को एक साथ उनका जबाव देते हुये दिखाया जा सके। **ग्राम्सी** जैसा एक विचारक कहता है कि– ''पूर्व के देशों की चेतना चिंतन विहीन है। वहाँ मानव आकस्मिक घटना मात्र है। केन्द्र में प्रभु की सत्ता है। सभी जन उसके चारों ओर घूमते रहते हैं। नैतिक निर्णय करने के बदले लोग सम्राट की ओर देखते हैं कि वह नैतिक नियम बनायेगा। भारत में तो जन बंधुआ मजदूर की तरह हैं। समाज जातियों और वर्णों में बँटा हुआ है। वह विभाजन भी मनुष्य की सचेतावस्था में नहीं अपितु नैसर्गिक होता गया।''[7]

पाश्चात्य दार्शनिकों में एक अन्य विचारक **स्विटजर** ने प्रश्न उठाया कि–

''प्राचीन भारतीय दर्शन में परमानन्द पर विशेष बल दिया जाता था। वहाँ मानव को जीवन एवं संसार के लिये निषेधात्मक दृष्टिकोण का बना दिया जाता था। पारलौकिकता के मोह में फँसा प्राचीन भारतीय दर्शन मायावाद से ग्रसित होकर आचार नीति से बिल्कुल अछूता रह जाता है।''[8] भारतीय दर्शन धारा को हृदयठम करने में, उसे समझने में पाश्चात्य बिल्कुल अयोग्य और अबोध सिद्ध हुये। अपनी पुस्तक **ईस्टर्न रिलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट** में डॉ. एस. राधाकृष्णन् ने विस्तृत जवाब दिया है तथा स्विटजर की आलोचनात्मक व्याख्याओं को निर्मूल सिद्ध करते हुये भारतीय पक्ष को मजबूती प्रदान की है। वे वेदों और उपनिषदों का सहारा तो लिये हैं किन्तु उनके प्रसंगानुकूल अर्थ के अभाव में बौद्ध वाणी तथा जैन तीर्थकरों विशेषकर महावीर आदि के वचन सारों को भी भारतीयता के पक्ष में रखते दिखाई दिये हैं।

इसी कड़ी में प्रसिद्ध जैन चिन्तक **प्रो. सागर मल जैन** कहते हैं कि–

*अनुसंधित्सु, ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।
**असिस्टेंट प्रोफेसर, धर्मागमविभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी।

''दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्वों के द्वारा न केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच अपितु जैन, बौद्ध, हिन्दू एवं सिक्खों– जोकि वृहद् भारतीय परम्परा के अंग हैं, के बीच खाइयाँ खोदने का कार्य किया जाता रहा है... और जैन तथा बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म के प्रति एक विद्रोह के रूप में चित्रित किया जाता रहा है।... वे आगे कहते हैं कि नये विचारों का उदय कदापि विद्रोहात्मक नहीं था वह तो परिस्कार के रूप में था।''[9] वे अपनी पुस्तक के पृष्ठ 42 पर स्वीकार करते हैं कि बौद्ध एवं जैन धर्म भी उसी आध्यात्म पथ के अनुयायी हैं जिनके कि औपनिषदिक् ऋषि। धर्मों में साम्य की दृष्टि से प्रो. सागरमल जैन कहते हैं कि जैन ग्रन्थ **आचरांग** तथा हिन्दू धर्म ग्रन्थ **माण्डूक्योपनिषद्** में आत्मा के सन्दर्भ में एक जैसी बातें बताई गयी हैं।

इसी प्रकार (इसिभासियाइ) ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शताब्दी) में नारद आदि पैंतीस ऋषियों का उल्लेख मिलता है जो हिन्दू धर्म के स्तम्भ हैं। वे जैन परम्परा के **उत्तराध्ययन** सूत्र बौद्ध परम्परा के **धम्मपद** तथा हिन्दू धर्म के प्रतिष्ठित ग्रन्थ **महाभारत** के शान्ति पर्व में ब्राह्मण के स्वरूप वर्णन में वैचारिक ही नहीं शाब्दिक साम्य को स्वीकार किया हुआ दिखाते हैं। वे हिन्दुओं की वर्ण एवं जाति व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव जैन धर्म पर भी देखते हैं। (पृष्ठ 56)। प्रो. जैन वहाँ उपनिषदों को वैदिक और श्रमण (जैन) धारा के समन्वय स्थल के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं। उनके अनुसार वर्तमान सनातन (हिन्दू) धर्म श्रमण एवं वैदिक धारा का समन्वित रूप है। वे पुस्तक के पृष्ठ 179 पर स्पष्ट करते हैं कि भारतीय संस्कृति एक मिली जुली संश्लिष्ट संस्कृति है। पाश्चात्यों ने उसे खण्ड-खण्ड करके समझने-समझाने का प्रयास किया। जबकि खण्डशः अध्ययन से संस्कृति की आत्मा ही मर जाती है। वे यह भी कहते हैं कि धर्म व संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, सबकी एक आधारभूमि होती है। एक अन्य जैन विद्वान् विद्यावाचस्पति **डॉ. भागचन्द जैन** बौद्धों एवं जैनियों में साम्य स्थापित करते हुये कहते हैं कि, ''भगवान बुद्ध एवं भगवान महावीर का उद्देश्य समान था। पदार्थ के स्वरूप विवेचन में... शायद यह समानता इसलिये भी हो सकती है कि दोनों महान व्यक्तित्व मूलतः एक ही परम्परा के व्यक्तित्व थे। दोनों प्रारम्भिक स्तर पर विभज्यवादी हैं किन्तु बुद्ध का विभज्यवाद **ऐकान्तिक शून्य** की ओर अग्रसर हुआ तो महावीर स्वामी का विभज्यवाद **स्यादवाद** या अनेकान्तवाद के रूप में विकसित हुआ''।[10]

धार्मिकता में ऐक्य भावों को खोजते हुये डॉ. एस. राधाकृष्णन् कहते हैं कि– ''आर्य और द्रविण, हिन्दू और बौद्ध जितनी भी प्रजातियाँ हमारे भारत देश में आई हैं वे सब सापेक्षिक दृष्टि से कहें तो एक सामूहिक ऐक्य में संगठित होती गयी हैं।''[11] वैसे भारत आरम्भ से ही एक बहुभाषी, बहुजातीय, बहुधर्मी समाज वाला राष्ट्र रहा है क्योंकि कहा गया है कि–

भारतेषु स्त्रियः पुंसो नानावर्ण प्रकीर्तिताः।
नाना देवार्चने युक्ताः नाना कर्माणि कुर्वते॥[12]

कुछ प्रबुद्ध पाश्चात्यों ने भी स्वीकृति दी कि– ''बिना किसी संशय के भारत में एक गहन अन्तर्निहित मौलिक एकता है। और वह उससे कहीं अगाध है जितनी भौगोलिक अलगाव अथवा राजनीतिक प्रभुसत्ता से आविर्भूत हो सकती है। वह एकता रक्त, वर्ण (रंग) भाषा, वस्त्र विन्यास, आचार एवं सम्प्रदाय की असंख्य विविधताओं को पार कर जाती है।''[13] **प्रोफेसर वाशम** भी कहते हैं कि– ''भारत की पुरातन सभ्यता, मिस्र मेसोपोटामियाँ एवं यूनान से इस विषय में भिन्न है कि इसकी परम्परायें बिना किसी विच्छेद के आज तक सुरक्षित हैं।...विश्व में भारत और चीन सबसे प्राचीन निरन्तर सांस्कृतिक प्रवाह रखने वाले देश हैं।[14]

महात्मा गाँधी कहते हैं कि– ''हिन्दू धर्म की अनेक देनों में से एक अनोखी देन है मूक प्राणियों के साथ तादात्म्य का विचार। गीता का सन्देश हिंसा का है या अहिंसा का, किन्तु इतना सत्य है कि अहिंसा एक पूर्ण स्थिति की चीज है। सारी मनुष्य जाति इसी लक्ष्य की ओर स्वभावतः परन्तु अनजाने में बढ़ रही है। संयम को ही वे मनुष्य जाति का धर्म निर्धारित करते हैं।''[15]

अर्थात् विशिष्टताओं के साथ विविधता तथा विविधताओं के बीच समन्वय यही भारतीय धर्मों का मूल रहा है। शांति, अहिंसा, बन्धुत्व, प्राणी मात्र के प्रति एकात्मकता, त्याग, दया, मैत्री मुदिता, करुणा, सत्य, श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान तथा राष्ट्र के प्रति अक्षुण्ण प्रेम प्रवाह ही भारतीय धर्मों का उद्देश्य रहा है। जब हम भारतीय धर्मों की दार्शनिक सोच में प्रविष्ट होते हैं तो वहाँ दर्शन एवं आध्यात्मिक साधना का समन्वित रूप ही सामने आता है। वैदिक दर्शन का मोक्ष, वेदान्त का ब्रह्मभाव, बुद्ध तथा जैन का निर्वाण क्षेत्र, न्याय का अपवर्ग, सांख्य योग का कैवल्य सबमें मूल तात्विक एकता यह है कि सभी जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा का मार्ग देना चाहते हैं। हाँ इस लक्ष्य के लिये वेदान्त दर्शन जहाँ ज्ञानमार्ग का समर्थक होकर कर्म तथा नैतिकता को बहुत अधिक महत्व नहीं देता वहीं जैन और बौद्ध धर्मों में संन्यस्त जीवन को विशेष महत्व प्राप्त होते देखा जा सकता है। मनु एवं मीमांसा दर्शन मोक्ष के पूर्व ऋषि ऋण, पितृऋण, मातृऋण, देवऋण आदि के साथ वंशवृद्धि करते हुये प्रवृत्ति से निवृत्ति का पथ निर्धारित करते हैं। जहाँ महाभारत में अर्जुन को दिया गया गीता उपदेश या शान्ति पर्व का युधिष्ठिर उपदेश कुछ प्रवृत्ति मूलक प्रयास का सूचक है वहीं बौद्ध एवं जैन दर्शन निवृत्ति मार्गी शाखा की ओर झुकते दिखाई देते हैं किन्तु नैतिक मूल्यों के संवर्धन में सभी एक साथ आगे बढ़ते हुये देखे जा सकते हैं। वैदिक हिंसा की बातें करके बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रादुर्भाव की बातें भी कुछ भ्रान्त लोग करते हैं किन्तु अहिंसा सनातन परम्परा का प्रथम लक्ष्य रहा है। **'देवी**

भागवत' आदि अनेक ग्रन्थों में हिंसा का तर्क मूलक विरोध होते देखा जा सकता है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अहिंसा मूलक समाज की स्थापना में जैन तीर्थकरों और भगवान तथागत बुद्ध ने सर्वोत्कृष्ट भूमिका निभाई जो आज वैश्विक परिपेक्ष्य में समग्र विश्व की सबसे महत्वपूर्ण पूँजी सिद्ध हुई है। **महात्मा गाँधी** भी अहिंसा एवं सत्य के बल पर विश्व के महान व्यक्तित्व बने। वे दृढ़ता से सत्य और अहिंसा को जीने में सफल भी रहे।

भारतीय धर्मों में पूर्ण समन्वय था। विभेदकारी दृष्टि होती तो उद्धारक स्थिति के लिये रामायण के गायक **वाल्मीकि** जैनियों के प्रथम तीर्थकर ऋषभ देव को क्यों उल्लिखित करते। वे रामायण के उत्तरकाण्ड में कहते हैं कि–

अयोध्यापि पुरी रम्या शून्यावर्षगणान् वहून्।
ऋषभं प्राप्य राजानं निवासमुपयास्यति॥[16]

अर्थात् अयोध्या पुरी भी बहुत वर्षों तक शून्य रहेगी फिर राजा ऋषभ के समय यह आबाद होगी।

महाभारत तथा सनातन (हिन्दू) धर्म के सर्वाधिक समादरित ग्रन्थ श्रीमद्भागवत्महापुराण में ऋषभ देव का विराट चरित्र वर्णित है अर्थात् देखा जा सकता है कि जैनियों के प्रति समादर भाव, बुद्ध को अवतार रूप में स्वीकृति, पाल कालीन (मध्य ऐतिहासिक काल) विष्णु मूर्तियों में विष्णु के मुकुट पर बुद्ध की मूर्ति का स्थापित होना, एलोरा एवं अजन्ता के चित्रों में बुद्ध की प्रवचन मुद्राओं में देवगणों का अंकन आदि कई ऐसे प्रमाण हैं जो सिद्ध करते हैं कि भारतीय धर्म सदैव मिल जुलकर आगे बढ़ते रहे। वैचारिक क्रान्तियों में मतभेद थे किन्तु वे मतभेद तलवार-लाठी तक कभी नहीं गये। विचारों से नव विचार की कड़ियाँ चलती रहीं और विशिष्टता में विविधता तथा विविधता में ऐक्य सफल होते हुये आगे बढ़ता रहा।

कोई भी नवीन चिन्तन प्राचीन चिन्तन की पृष्ठभूमि से ही निकलता है। वह प्राचीनता के प्रति श्रद्धाहीन नहीं होता और न तो उसके महत्व को बिल्कुल नकारना ही उस नये चिन्तन का उद्देश्य होता है। **महर्षि अरविन्द** भी कहते हैं कि ''मनुष्य एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान में पदार्पण करता रहता है। ज्ञान के किसी क्षेत्र में सहसा पूर्णता प्राप्त नहीं हो जाती।''[17]

डॉ. एस. राधाकृष्णन् धार्मिक सद्भाव में ह्रास के लिये कहते हैं कि– ''धार्मिक विश्वास के ह्रास के मुख्य कारण विज्ञान द्वारा बढ़ाई हुई संशय वृत्ति तथा सामाजिक समस्याओं को लेकर धार्मिक वृत्ति की होने वाली निन्दा तथा धर्म की अपवर्जक असहिष्णु प्रकृति है जो विश्व ऐक्य की भी विरोधी है।...विज्ञान के प्रभाव से प्रत्यक्षवाद का ऐसा सिद्धान्त चल निकला है जो दर्शन व धर्म को निरर्थक कहकर उन्हें हटाने में अपनी चतुराई समझता है।''[18] वे आगे भी कहते हैं कि ''मनुष्य दो दुनियाओं में रहने वाला जीव है अध्यात्मिक एवं प्राकृतिक। शान्ति की स्थापना केवल बौद्धिक या भौतिक उपलब्धि ईंट-गारे या हथौड़ी-छेनी से नहीं अपितु नैतिकता एवं आध्यात्मिकता से ही होगी।''[19] जबकि काशी के प्रसाद कविवर जयशंकर प्रसाद ने सम्पूर्ण मानवता को विजय बनाने हेतु समस्त संभव समन्वय की आवश्यकता जताई।

शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त,
विकल विखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उनका करें समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय॥[20]

भारत के बाहर के लोगों ने भी सभी धर्मों के समन्वित भौगोलिक स्थिति में निवास करने वाले लोगों को हिन्दू कहा। महामना मालवीय जी भी हिन्दू शब्द से सभी धर्मों के समन्वित रूप को ही विश्व क्षितिज पर स्थापित करने की धारणा रखते थे। माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपना निर्णय दे दिया है कि हिन्दू एक सम्प्रदाय नहीं अपितु भौगोलिक जीवन पद्धति है। हम यहाँ महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के कुलपति **प्रो. विभूतिनारायण राय** के विचारों को भी इठित करना चाहेंगे। 'अस्मिता का संघर्ष और साहित्य' विषयक दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में उन्होंने कहा कि- ''भारत की पहचान विविध धर्मों, संस्कृतियों व भाषाओं से है। देश की अस्मिता विविधता के संगम में ही है। ऐसे में हिन्दू चेतना पर आधारित हिन्दू राष्ट्र की परिकल्पना करना अनेक अस्मिताओं की उपेक्षा करना है।'' वहीं वरिष्ठ समालोचक **प्रो. प्रमोद कुमार सिंह** कहते हैं कि ''प्रतिरोध की अस्मिता सम्पूर्णता की तलाश है। साम्प्रदायिक सोच, सामन्ती मानसिकता सदैव खण्ड सत्य का ही साक्षात्कार करती है जिससे राष्ट्र की अस्मिता धूमिल होती है।''[21] शांति के नोवेल पुरस्कार विजेता तिब्बती **धर्म गुरु दलाईलामा** अपने प्रवचनों में भारत को सभी धर्मों के पोषक रूप में भेदभाव से रहित देश का उच्च दर्जा देते हैं। वास्तव में हिन्दू शब्द हमारे शब्द कोश की उपज नहीं है। हिन्दुकुश पर्वत तथा सिन्धु नद ही इसका मूलाधार है। सिन्धु दरिया के पश्चिम और हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर के लोगों द्वारा सिन्धु दरिया के पूरब और हिन्दुकुश पर्वत के दक्षिण के निवासियों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया। ऐसा करके वे अपने जनों में भारत भूमि पर आक्रमण करने हेतु ऊर्जा या शक्ति का संचार करते थे। यद्यपि यह शब्द सनातन की विविधता से बार-बार टकरा जाता था। पानीपत के द्वितीय युद्ध में हेमू (हेमचन्द) या तीसरे युद्ध में मराठों की पराजय में सनातन की विविधता एकता पर भारी पड़ी। किन्तु कबीर दास, कविवर भूषण, स्वामी विवेकानन्द, महामना पं मदन मोहन मालवीय जी ने हिन्दू शब्द की विशालता को विविध मञ्चों से बल प्रदान किया। यही नहीं पं. जवाहर लाल नेहरू, विश्व कवि रविन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष एवं एस. राधाकृष्णन् ने भी हिन्दू शब्द की व्यापकता का पुरजोर समर्थन किया। इस शब्द में सबको समेकित करने की क्षमता है और वह भी

इसलिए कि यह कदापि साम्प्रदायिक शब्द नहीं है। आज भी विदेशों में हमें इण्डियन ही कहा जाता है जो (सिन्धु स के स्थान पर ह उच्चारण के कारण हिन्दु या अंग्रेजी में इण्डस उच्चारण से) बोलने मात्र का भेद रखता है मौलिक रूप से यह शब्द हिन्दु ही है। यह सदियों से आमेलित होती गयी या पचती गयी हूण, शक, कुषाण या भारत में आये समस्त धर्मावलम्बियों के लिये प्रयुक्त भी होता रहा है।

सारांशतः हम कह सकते है कि मानव मस्तिष्क का क्रमशः विकास होता रहा। भारतीयों ने अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि की प्राप्ति हेतु अच्छे विचारों को सदाचार रूप में धर्म शब्द से प्रस्तुत किया। वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, बौद्ध वाणियों या जैन तीर्थंकरों से होता हुआ विचारों का प्रवाह परिमार्जित और परिष्कृत होते हुये आगे बढ़ता रहा। कभी-कभी वैचारिक विशिष्टतायें बहु आयामी बनकर विविधताओं के रूप में प्रकट भी हुईं किन्तु राष्ट्रीय समन्वय, सम्प्रीति, सदाशयता तथा सह अस्तित्व सदा सभी धर्मों का मूल रहा। अहिंसा और विश्व बन्धुत्व की स्थापना में भारतीय धर्मों का ऐक्य सदा निखर कर सामने आता रहा। पाश्चात्यों ने भारत को सदा एकीकृत रूप में ही संबोधित किया।

अर्थात् हम कह सकते हैं कि आध्यात्म, योग एवं आयुर्वेद की त्रिपदी पर आसीन भारतीय संस्कृति के उन्नयन में भारतीय धर्मों ने सह अस्तित्व तथा सामञ्जस्य से कार्य किया। पाप से भय और मोक्ष की भूख को ही सबने आधार बनाया। समवाय, समन्वय और सम्प्रीति ही भारत के सांस्कृतिक मन्थन की सबसे ऊँची उपलब्धि है।

सन्दर्भ सूची

1. शोध प्रविधि डॉ. विनय मोहन शर्मा, मयूर पेपर वैक्स नोयडा, 2010 पृष्ठ 14.
2. डॉ. शिव प्रसाद सिंह प्रज्ञा, अंक-18, भाग 1, वर्ष 1972 पृष्ठ 23 से 30 तक सारभूत।
3. रश्मिरथी, अभिनव मनुष्य, रामधारी सिंह दिनकर।
4. न्याय शास्त्र, महर्षि कणाद की धर्म परिभाषा।
5. विभज्यवाद, प्रो. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा; ई. 2004, नान्दी वाक् पृष्ठ 3.
6. महामना पं. मदन मोहन मालवीय के लेख व भाषण; भाग एक; धार्मिक।
7. ए ग्राम्सी; द माडर्न प्रिंस पृष्ठ 124.
8. आत्मा, कर्म पुनर्जन्म और मोक्ष; डॉ. मधुरिमा सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1996 पृ. 228-231.
9. विद्याभारती, भाग 3 प्रो. सागर मल जैन, पार्श्वनाथ ग्रंथ माला 88; 1997 ई0 पृष्ठ 40-41.
10. श्रमण; जुलाई 1981 वर्ष 32 अंक 9, पृष्ठ 16, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान।
11. भारतीय संस्कृति कुछ विचार डॉ. एस. राधाकृष्णन् पृष्ठ 102.
12. वहीं कूर्म पौराणिक उद्धरण।
13. विंसेट स्मिथ; द आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पर्सियन स्पीयर्स द्वारा सम्पादित, 1958 ई. पृष्ठ संख्या 7.
14. दि वण्डर दैट वाज इण्डिया (1954 ई0) पृष्ठ 4.
15. हिन्दू धर्म क्या है? महात्मा गाँधी; नेश. बुक ट्रस्ट इण्डिया (दूसरी आवृत्ति) सन् 1995 पृष्ठ 49 एवं 90-91 से सारभूत।
16. बाल्मीकि रामायण; उत्तरकाण्ड 111/10.
17. आन द वेद; महर्षि अरविन्द, अध्याय 1 से सारभूत अंश।
18. भारतीय संस्कृति कुछ विचार; डॉ. एस. राधाकृष्णन् 1996 संस्करण, पृष्ठ 14-15.
19. वहीं पृष्ठ 88-89.
20. कामायनी; जयशंकर प्रसाद; श्रद्धा मनु सर्ग।
21. दैनिक जागरण, वाराणसी दिनांक 8 फरवरी 2013, 'विविधता के संगम में ही देश की अस्मिता'।

मनरेगा : ग्रामीण सुधार की एक पहल

डॉ. कृष्ण किशोर श्रीवास्तव एवं डॉ. एस.आर. यादव***

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में लघु एवं सीमांत कृषकों, खेतिहर, मजदूरों तथा अन्य श्रमिकों, शिल्पियों, व विभिन्न सेवाएं देने वाले परिवारों का बाहुल्य है। इनमें से अधिकांश परिवार गरीबी रेखा के नीचे जीवन—यापन कर जैसे-तैसे अपना पेट पालने वाले हैं। बढ़ती हुई ग्रामीण जनसंख्या को रोजगार मुहैया कराने, गरीबी दूर करने, आर्थिक विषमता कम करने एवं बढ़ते शहरीकरण की समस्या का एकमात्र समाधान है गांवों में रोजगार बढ़ाना। परिवार को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रोजगार आवश्यक है। रोजगार से अर्जित धनराशि से ही व्यक्ति अपने एवं अपने परिवार के लिए जीवन की मूलभूत सुविधाएं-रोटी, कपड़ा व मकान का प्रबन्ध कर सकते हैं। किसी भी राष्ट्र की समृद्धि का प्रतीक वहाँ के व्यक्तियों को उपलब्ध रोजगार के अवसरों से होता है जिस राष्ट्र के नागरिक जितनी अधिक संख्या में बेरोजगार होंगे वह राष्ट्र उतना ही अधिक समस्या-ग्रस्त, बीमार व कमजोर होगा।

पूर्व में रोजगार अवसरों के सृजन के लिए केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर अनेक श्रम साध्य कार्यक्रमों की शुरूआत की गई परन्तु गांवों में बेरोजगारी दूर करने में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। भारत में योजनागत् विकास का यह अनुभव रहा है कि यद्यपि समाज के निम्न एवं पिछड़े वर्ग को विकास के मुख्यधारा से जोड़ने का अवसर सुलभ कराया गया था किन्तु अशिक्षा, गरीबी एवं पिछड़ेपन के कारण वह न तो विकास प्रक्रिया को समझ सके और न ही उसका लाभ ले सके। सम्पन्न वर्ग के द्वारा सदैव यह प्रयास किया गया कि पिछड़े को पिछड़ा बनाए रखा जाए, जिसमें नौकरशाहों ने भी इसी वर्ग का साथ दिया। परिणामतः विकास कार्यों में जनसहभागिता नहीं प्राप्त हो सकी। भारत के 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से ग्रामीण इलाकों में पंचायती राज व्यवस्था सुदृढ़ करने का प्रावधान किया गया, ताकि विकेन्द्रित नियोजन प्रणाली के माध्यम से ग्रामीण विकास किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 25 अगस्त 2005 में यूपीए सरकार ने ''राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम'' पारित किया। यह देश का पहला ऐसा अधिनियम है जो ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों को गाँव में ही रोजगार उपलब्ध कराता है। मनरेगा का प्रारम्भ आन्ध्र प्रदेश के अनंतपुर जिले से 2 फरवरी 2006 को किया गया। इस अधिनियम के तहत् ग्रामीण क्षेत्रों के प्रत्येक परिवार के कम से कम एक सदस्य को वर्ष में 100 दिन का शारीरिक श्रम युक्त रोजगार पाने का अधिकार है, जिसकी न्यूनतम मजदूरी रुपया 120 निर्धारित किया गया है।[1] प्रारम्भ में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना देश के चुने हुए 200 अति पिछड़े जनपदों में लागू की गई। इस योजना के द्वितीय चरण में देश के 130 जनपदों को और सम्मिलित किया गया तथा 1 अप्रैल, 2008 से इस योजना को पूरे देश में चलाया जा रहा है।[2] 2 अक्टूबर, 2009 से केन्द्र सरकार ने इसे संशोधित करके राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (नरेगा) से ''महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना'' (मनरेगा) कर दिया।[3] इस योजना के अन्तर्गत किसी स्कीम में ठेकेदार को लगाने की अनुमति नहीं है, मशीन का उपयोग वर्जित है, स्त्री-पुरूष समान मजदूरी व साथ ही साथ किसी स्कीम में कम से कम तैंतीस प्रतिशत महिला रोजगार की उपलब्धता तथा पन्द्रह दिन के अन्तर्गत रोजगार नहीं मिलने पर मजदूर को बेरोजगारी भत्ता देने का प्रावधान है।

वर्तमान समय में भारत में कुल 1.46 करोड़ से अधिक व्यक्तियों को रोजगार कार्ड जारी किया जा चुका है एवं 3.88 करोड़ परिवारों को रोजगार उपलब्ध कराया जा चुका है [4] परन्तु झारखण्ड राज्य के दो जिलों लटेहर एवं पलामू के क्षेत्रीय अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि व्यक्तियों को रोजगार कार्ड की सीमित जानकारी है।[5] अतः सरकार को इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाने की आवश्यकता है जिससे इस कार्यक्रम के मूल उद्देश्य की सही पूर्ति हो सके।

मनरेगा के अन्तर्गत कार्य

मनरेगा के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र में अकुशल श्रमिकों को सौ दिन के रोजगार उपलब्ध कराने के साथ-साथ गांवों में स्थायी परिसंपत्तियों के सृजन को महत्व दिया गया है योजना के अन्तर्गत प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं[6]—

- जल-संरक्षण और जल-संग्रहण के कार्य।
- सूखा नियंत्रण के कार्य, जिनमें वन विकास एवं वृक्षरोपण के कार्य सम्मिलित हैं।
- सिंचाई नहरें, जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म और लघु सिंचाई कार्यक्रम सम्मिलित हैं।
- अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के परिवारों के भूमि

*पी.डी.एफ., समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
**प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स्वामियों की भूमि के लिए सिंचाई सुविधाओं के कार्य करवाना।

- परम्परागत जल स्रोतों का जीर्णोद्धार, नवीनीकरण, तथा तालाब से मिट्टी निकालने का कार्य।
- भूमि विकास के कार्य, बाढ़ नियंत्रण एवं बचाव कार्य में जल अवरूद्ध क्षेत्र में जल निकासी के कार्य।
- योजना के अन्तर्गत कराए जाने वाले कार्यों में श्रम एवं सामग्री का क्रमशः 60 : 40 प्रतिशत का अनुपात रहता है लेकिन बड़ी परियोजनाओं में यह अनुपात जिला स्तर पर सुनिश्चित किया जाता है।
- अन्य कोई कार्य जिसे केन्द्र सरकार राज्य सरकार के परामर्श से अधिसूचित करे।

नवम्बर 2009 में ग्रामीण विकास मंत्रालय ने विभिन्न राज्यों द्वारा दिये गये सुझावों के आधार पर मनरेगा के अन्तर्गत निम्न कार्यों को भी अधिसूचित किया है, सामुदायिक कार्यों हेतु सामुदायिक केन्द्र, स्कूल भवन का निर्माण, पंचायत भवन, आंगनबाड़ी केन्द्र, मिड-डे-मील हेतु रसोई और स्टोर का कमरा, खेल का मैदान, महिलाओं के लिए शौचालय, पानी की उपलब्धता के साथ-साथ गाँवों में सफाई अभियान तथा गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करने वाले परिवारों हेतु गृह निर्माण आदि।

महिलाओं की स्थिति

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार अधिनियम 2005, महिला सशक्तिकरण पर बल देता है। भारत में 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं को अध्यक्षों एवं सदस्यों के रूप में 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित की गई है। निश्चित ही यह महिलाओं को राजनीतिक सशक्तिकरण प्रदान करता है, इससे धीरे-धीरे आर्थिक सशक्तिकरण भी होगा परन्तु इससे यह प्रतीत नहीं होता है कि 73वाँ संविधान संशोधन महिलाओं हेतु आर्थिक सशक्तिकरण की कोई दिशा तय करता है। इस संदर्भ में समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 की चर्चा की जा सकती है, जो पुरूष और महिला कर्मियों को समान कार्य के लिए समान मजदूरी या वेतन देने पर बल देता है, किन्तु इस अधिनियम में इस बात का कोई प्रावधान नहीं है कि कार्यों में कितना प्रतिशत स्थान महिलाओं को दिया जाय। इस दृष्टि से राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम 2005, पहला अधिनियम है जिसमें यह स्पष्ट रूप से उल्लेखित है कि मनरेगा के किसी स्कीम में 33 प्रतिशत रोजगार महिलाओं को मिलेगा। यह महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण की दिशा में एक ठोस कदम है। यदि कार्यस्थल पर महिलाएं अपने साथ छह वर्ष से कम उम्र के बच्चे लेकर आती हैं और उनकी संख्या पाँच या उससे अधिक है तो एक महिला बच्चों की देख-रेख में लगेगी और उसे पूरी मजदूरी मिलेगी। मनरेगा के तहत् अब तक 67.15 करोड़ महिलाओं को रोजगार उपलब्ध कराया जा चुका है।[7] मनरेगा महिलाओं हेतु आर्थिक सशक्तिकरण की एक स्पष्ट दिशा तय करती है।

मजदूरी भुगतान एवं बेरोजगारी भत्ता

योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के आधार पर पुरूष एवं महिला श्रमिकों को एक समान किये जाने का प्रावधान है। मजदूरी के भुगतान में पूरी पारदर्शिता बरतने के उद्देश्य से पारिश्रमिक का भुगतान बैंक खाता अथवा डाकघर खाता के माध्यम से किया जाता है। काम करने के इच्छुक व्यक्ति द्वारा काम की मांग किए जाने के 15 दिन के अंदर रोजगार नहीं उपलब्ध कराया जाता है तो उसे बेरोजगारी भत्ता प्रदान करने व साथ ही यदि श्रमिक को उसके आवास से 5 किमी0 की परिधि से बाहर रोजगार उपलब्ध कराया जाता है तो उस स्थिति में उसे परिवहन और निर्वाह व्यय के लिए 10 प्रतिशत अतिरिक्त मजदूरी देने का प्रावधान कार्यक्रम में किया गया है। बेरोजगार भत्ते की दरें सरकारों द्वारा राज्य रोजगार गारंटी परिषद् की सलाह से समय-समय पर अधिसूचित किए जाने की व्यवस्था है।[8]

केन्द्र सरकार ने महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना-'मनरेगा' के तहत् मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी की दरों को खेतिहर मजदूरों के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (Consumer Price Index for Agricultural Labourers) से सम्बद्ध करने की घोषणा 6 जनवरी, 2011 को की है इससे इन मजदूरों को पहले के 100 रूपये प्रतिदिन की तुलना में अधिक मजदूरी प्राप्त हो सकेगी। विभिन्न राज्यों में यह वृद्धि 17 प्रतिशत होगी। मजदूरी की बढ़ी दरें 1 जनवरी 2011 से लागू की गई हैं। वर्ष 2012-2013 में नरेगा के अन्तर्गत कुल 2958437.95 लाख धनराशि जारी किया गया परन्तु कुल 21155716.36 लाख धनराशि का ही उपयोग हो पाया है।[9] अतः इस प्रकार ग्रामीणों की स्थिति में सुधार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार द्वारा जारी किये गये धनराशि का समुचित उपयोग हो।

सामाजिक सुरक्षा

भारत सरकार के ग्याहरवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) में व्यक्ति के जीवन स्तर में सुधार पर बल दिया है। चन्द्रशेखर एवं जयंती घोष के अनुसार नरेगा व्यक्ति के जीवन स्तर के सुधार का एक उत्कृष्ट दृष्टिकोण बन सकता है।[10] मनरेगा में कार्यरत् मजदूर की कार्य के दौरान दुर्घटना या कोई शारीरिक क्षति हो जाती है तो वह निःशुल्क चिकित्सा उपचार के लिए अस्पताल में भर्ती, दवाएं, तथा दैनिक मजदूरी का आधी रकम पाने का भी हकदार है यदि मजदूर इस कार्य के क्रम में किसी गम्भीर दुर्घटना से अपंग अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है तो ऐसे व्यक्ति को 25 हजार रूपये या कोई रकम,

जो केन्द्र सरकार द्वारा तय की गई हो, ऐसे निःशक्त मजदूर के उत्तराधिकारियों को भी दी जाएगी।

प्रशासनिक ढाँचा

मनरेगा में केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के निर्देशन में कार्य सम्पादित होता है। इसके लिए केन्द्र और प्रत्येक राज्य में एक ''रोजगार गारंटी परिषद्'' गठित की गई है जो मनरेगा के तहत् चलने वाले कार्यक्रमों और इसकी व्यवस्था की देख-रेख करता है। जमीनी स्तर पर मनरेगा के कार्यक्रमों का कार्यान्वयन पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से होता है। जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न है:[11]

जिला पंचायत की भूमिका

- किसी स्कीम के कार्यक्रमों को कार्यान्वित की जाने वाली परियोजनाओं को विकासखण्ड स्तर पर उसका अन्तिम रूप देना व अनुमोदन करना।
- विकासखण्ड स्तर पर जिला स्तर के कार्यक्रमों का पर्यवेक्षण और अनुश्रवण करना।
- ऐसे कार्य जो ग्रामीण रोजगार गारंटी परिषद् द्वारा समय-समय पर जिला परिषद् को सौपा जाय।

क्षेत्र पंचायत की भूमिका

- अंतिम अनुमोदन के लिए किसी योजना को जिला पंचायत को भेजना।
- ग्राम पंचायत व ब्लाक स्तर पर कार्यान्वित होने वाली परियोजनाओं का पर्यवेक्षण और अनुश्रवण करना।
- ऐसे कार्य जो ग्रामीण रोजगार गारंटी परिषद् द्वारा समय-समय पर जिला परिषद् को सौपा जाय।

ग्राम पंचायत की भूमिका

योजना के तहत् कार्य का प्रस्ताव ग्रामसभा तैयार करती है। ग्राम पंचायत की यह जिम्मेदारी होती है कि वह यह सुनिश्चित करे कि जिस व्यक्ति को कार्य दिया जा रहा है वह वयस्क है या नही। जॉबकार्ड जारी करने की भी जिम्मेदारी ग्राम पंचायत की है। आवेदको के मध्य रोजगार बाटने, उन्हें मजदूरी भुगतान करने आदि की निगरानी की जिम्मेदारी ग्राम पंचायत की है।

मनरेगा के अन्तर्गत जिला कलक्टर ही एक जिला कार्यक्रम समन्वयक का कार्य करता है जो प्रत्येक स्तर के पंचायतों के नरेगा के कार्यक्रमों की देख-रेख करता है। इस कार्य में उसे अपर जिला समन्वयक सहायता करता है।

निष्कर्ष

काम पाने के अधिकार की दिशा में मनरेगा एक प्रगतिशील चरण है, संवैधानिक बाध्यता न होते हुए भी उपर्युक्त अधिनियम के प्रावधान कठोर हैं और इसका अनुपालन आवश्यक है। यह भारतीय लोकतंत्र और विकास की दिशा में एक प्रकाश-स्तम्भ है। इस अधिनियम के तहत् महिला सशक्तिकरण, कृषि उत्पादकता में वृद्धि, बाढ़ नियन्त्रण और आधारभूत संरचना के निर्माण के कार्यक्रमों का महत्व बढ़ गया है। सरकारी सूत्रों के अनुसार अब तक मनरेगा के तहत् 3.88 करोड़ आवेदकों को सौ दिन का रोजगार मिल चुका है और 12.46 करोड़ से अधिक को जॉब कार्ड जारी किया जा चुका है बैंको और डाकघरों में कार्ड प्राप्त किए व्यक्तियों के 7.33 करोड़ से अधिक खाते हैं। भारत जैसे विशाल देश में इतने कम समय में उपर्युक्त उपलब्धियों की अनदेखी नहीं की जा सकती। यह सही है कि समृद्धि की सही जानकारी के लिए समय-समय पर मनरेगा का मूल्यांकन होना चाहिए तभी एक विकसित राष्ट्र की स्थापना हो सकती है।

सन्दर्भिका

1. Circular, 1 Jan. 2011. pdf, www.nrega.nic.in
2. Chetan, Ghat (2012). The Oxford Hand Book of the Indian Economic, The Oxford University Press, p. 136.
3. Government gives NREGA, The Mahatma Gandhi hag 2Oct. 2009, www.webdunia.com.
4. NREGA : Employment Status Report for the Financial Year 2012-2013.
5. Bhatiya, Bela and Drez (2006), "Employment Guarantee in Jharkhand", Economic and Political Weekly, 41 : 3198-202.
6. कार्य और उनका निष्पादन (2012), मनरेगा प्रभाग, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, पृ. 1-10.
7. मनरेगा, राष्ट्रीय रिपोर्ट (2012-2013), ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार।
8. Draft MNREGA Operational Guide Line, Dated 29/9/2012, www.nrega.nic.in
9. NREGA, Ibid.
10. Chandrasekhar, C.P., (2004). "How faceable is a rural employment guarantee", Social Scientist, Vol. 32, 52-57.
11. मनरेगा प्रभाग, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, डब्लूडब्लूडब्लू. नरेगा.निक.इन

अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से जड़तत्त्व का स्वरूप

डॉ. मीनाक्षी राय एवं डॉ. करुणानन्द मुखोपाध्याय***

ब्रह्माण्ड में दो प्रकार की वस्तुएँ अनुभूत होती है, उनमें प्रथम वह है जो है तो सही लेकिन उन्हें होने का बोध नहीं है तथा दूसरी वस्तु है भी और उन्हें होने का अनुभव भी है। प्रथम प्रकार की वस्तुओं को जड़ कहा जाता है और द्वितीय को चेतन। ब्रह्माण्ड के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान के लिए चेतन के ज्ञान के साथ-साथ जड़ का भी ज्ञान आवश्यक है। आपातदृष्टि से जड़ व चेतन के अत्यन्त पृथक प्रतीत होने पर भी इनमें शान्तिपूर्ण सहावस्थान दृष्टिगोचर होता है। अतः हम कह सकते हैं कि ये परस्पर सम्बन्धित है। प्रस्तुत निबन्ध में अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से चेतनसम्बन्धि जड़ के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

साधारणतया जड़तत्व से भौतिक जगत् का बोध होता है, अर्थात् आकार, घनत्व, द्रव्यमान, विस्तार, गति, स्थिति आदि गुणों से युक्त पर्वत, नदियाँ, झरने इत्यादि इन्द्रियग्राह्य स्थूल भौतिक विषयों को जड़तत्त्व कहा जाता है। परन्तु भारतीय दार्शनिकों के अनुसार जड़ शब्द का प्रयोग इतने संकुचित अर्थ में नहीं है, अपितु जड़तत्त्व अभौतिक, अतीन्द्रिय एवं सूक्ष्म विषयों तक विस्तृत है। इनके अनुसार अतीन्द्रियविषय यथा इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा इनके हेतु तन्मात्राएँ, अहंकार, महत्तत्त्व आदि सूक्ष्मजगत् जड़तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। भौतिक, स्थूल तथा इन्द्रियग्राह्य जड़तत्त्व का हेतु अभौतिक सूक्ष्म अतीन्द्रिय जड़तत्त्व है। सूक्ष्म जड़तत्त्व की ही अभिव्यक्ति स्थूल और भौतिक जड़तत्त्व के रूप में होता है।

इस प्रकार भारतीय दर्शनों में व्यापक अर्थ में जड़ शब्द प्रयुक्त है। अतः जड़तत्त्व के स्वरूप सम्बन्धी जिज्ञासा होती है– जड़ का स्वरूप कैसा है? इसकी क्या विशेषताएँ हैं? इत्यादि। इन प्रश्नों के समाधान का प्रयास मनीषियों ने किया है। भारतीय दार्शनिकों ने जड़ के स्वरूप के गहन अनुसंधान से जो तथ्य प्राप्त किये हैं वे स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के जड़तत्त्व को समझने में उपयोगी हैं। वे निम्नलिखित हैं–

1. जड़तत्त्व परतन्त्र है– जड़तत्त्व किसी भी क्रिया का सम्पादन स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं कर सकता, उसे किसी भी क्रिया के सम्पादन हेतु किसी न किसी अन्य कारण की अपेक्षा होती है। दृष्टान्त के लिए कपाल, चक्र, दण्डादि जड़ हैं, ये सभी परतन्त्र हैं, क्योंकि ये अपने कार्य घट को उत्पन्न करने में स्वयं समर्थ नहीं होते। इन्हें घटादि की उत्पत्ति के लिए कुलालादि रूप अन्य कारण की अपेक्षा होती है, कुलालादि की सहायता से ये घटादि को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अद्वैतवेदान्तदर्शनानुसार सम्पूर्ण जड़ात्मक जगत् जड़ात्मिका माया या अविद्या का परिणाम है तथा अविद्या भी ईश्वर परतन्त्र है, कारण के परतन्त्र होने पर कार्य की परतन्त्रता सिद्ध होती है। आचार्य शंकर के शब्दों में– **''परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः॥''**[1] आधुनिक विज्ञान भी जड़ को परतन्त्र मानता है। तथाहि आधुनिकविज्ञान के अनुसार बिना किसी बाह्य बल की सहायता से जड़तत्त्व की स्थिति में परिवर्तन नहीं होता, यदि कोई जड़वस्तु स्थिर है तो वह उसी अवस्था में तब तक बनी रहेगी जब तक कि उस पर कोई बाह्य बल का प्रयोग न किया जाय; इसी प्रकार कोई भी जड़वस्तु जो कि गतिशील हो बिना बाह्यबल के प्रयोग से उसकी गति में कोई परिवर्तन नहीं होता है और न ही वह स्थिर होती है। विद्वान के शब्दों में– "One and the same body moving in a single medium has a fixed velocity which determined by nature and which cannot be increased except by same resistance which retards it."[2]

शंका होती है जड़तत्त्व परतन्त्र है, इस प्रकार का लक्षण करने पर सांख्यदर्शन की जड़ात्मिका प्रकृति में उस लक्षण की अव्याप्ति होगी क्योंकि सांख्यदर्शन में पञ्चमहाभूत से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त सभी जड़तत्त्व परतन्त्र है परन्तु प्रकृति स्वतन्त्र है। आचार्य ईश्वरकृष्ण के शब्दों में **'हेतुमद...। सावयवं परतन्त्र व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।''**[3] पञ्चमहाभूत से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों की परतन्त्रता का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ये सभी अपने अपने कार्यों को उत्पन्न करने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ महत् अपने कार्य अहंकार को उत्पन्न करने के लिए मूल प्रकृति पर निर्भरशील है, अन्यथा क्षीण होने के कारण वह अहंकार को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होगा, इसी प्रकार अहंकारादि भी अपने-अपने कार्यों को उत्पन्न करने के लिए अपनी प्रकृति महत्तत्त्वादि की अपेक्षा रखते हैं, अतः ये सभी परतन्त्र हैं। पक्षान्तर में मूलप्रकृति को स्वकार्यों के उत्पादन में किसी अन्य उपादान की अपेक्षा नहीं है। अतः इसे स्वतन्त्र कहा गया है।

---

*पूर्व शोधच्छात्रा, संस्कृतविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
**असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

परन्तु प्रकृति की स्वतंत्रता पर ध्यानपूर्वक विचार करने से हमें प्रतीत होता है कि यह पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि पुरुष के भोग और मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रकृति संसार की सृष्टि हेतु प्रवृत्त होती है। प्रकृति का सृष्टिरूप परिणाम प्रकृति व पुरुष के संयोग से होता है, बिना पुरुष के संयोग हुए प्रकृति का सृष्टिरूप परिणाम नहीं हो सकता। आचार्य ईश्वरकृष्ण के शब्दों में–

''पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥''[4]

अर्थात् पुरुष के द्वारा प्रधान का दर्शन (भोग) के लिए तथा प्रधान के द्वारा पुरुष के कैवल्य प्राप्ति के लिए दोनों का संयोग होता है, जिससे सृष्टि होती है। यह संयोग अन्धे और लंगड़े के समान है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र भी इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं– **''ननु भवत्वनयोः संयोगः, महदादि सर्गस्तु कुत इत्यत आह 'तत्कृतः सर्गः' इति।''**[5] अर्थात् मानते हैं पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है परन्तु महत्, अहंकारादि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है? ऐसी शंका होने पर इसका समाधान कारिका में **'तत्कृतः सर्गः'** से किया गया है। अर्थात् पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही महदादि सर्ग की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति को भी स्वकार्य के लिए पुरुषसंयोग की अपेक्षा है अतः यह भी परतन्त्र है।

द्वितीयतः सांख्य की प्रकृति एवं वेदान्तदर्शन की माया में कुछ समानतायें दृष्टिगोचर होती है, जैसे दोनों ही त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका) हैं एवं उभय ही जड़ हैं। लेकिन दोनों में थोड़ी सी भिन्नता भी है, वेदान्त की माया परतन्त्रा अर्थात् ईश्वराधीना है परन्तु सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्रा है। वेदान्तदर्शनानुसार जगत् की उत्पत्ति में माया परिणाम्युपादानकारण है। किसी भी उपादानकारण का कार्य रूप में परिणाम हेतु निमित्तकारण की आवश्यकता होती है, यह नियम है। निमित्तकारण दो प्रकार के होते हैं– साधारणनिमित्तकारण और असाधारणनिमित्तकारण। इनमें जो सभी कार्यों के लिए सामान्य रूप से हेतु है उसे साधारणनिमित्तकारण और कार्यविशेष के लिए जो विशेष रूप से निमित्त बनता है उसे असाधारण निमित्तकारण कहते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है किसी विस्तृत क्षेत्र में व्रीहि, यवादि बोया जाता है, तथा वह क्षेत्र मेघ द्वारा सर्वत्र समान रूप से सिंचित भी होता है, फिर भी उस क्षेत्र में एक समान रूप से पौधे उत्पन्न नहीं होते, कहीं पर यव के पौधे लगते हैं तो कहीं पर व्रीहि के पौधे उत्पन्न होते हैं। क्षेत्र में अनाज की उत्पत्ति में मेघजन्य वर्षा के एकसमान रूप से हेतु होने से मेघ साधारणनिमित्तकारण है, जबकि अनाज यव व्रीहि आदि की उत्पत्ति में वैषम्य का असाधारणनिमित्तकारण तत् तत् बीजगत सामर्थ्यविशेष है, प्रकृत में सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर साधारणनिमित्तकारण है, क्योंकि इसकी प्रेरणा या इच्छा के बिना जड़ात्मिका माया का सृष्टि के रूप में परिणाम नहीं हो सकता। परन्तु सृष्टि में देव, मनुष्य, तिर्यकादि विविध शरीर एवं स्वर्गादिलोकरूप विषमता दृष्टिगोचर होती है, इस विषमता के लिए जीवों द्वारा पूर्वाचरितकर्मजन्य अदृष्ट को ही असाधारणनिमित्तकारण माना जाता है, इन अदृष्टों के द्वारा नियन्त्रित होकर ही माया का विविधतापूर्ण जगत् के रूप में परिणाम होता है। आचार्यशंकर के शब्दों में– **''सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिः।''**[6] अर्थात् सृज्यमान प्राणियों के धर्माधर्म की अपेक्षा से सृष्टि में विषमता होती है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के लिए माया को ईश्वर के साथ ही अदृष्ट की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति और इसमें विषमता तो सांख्यवादियों को भी मान्य है, अतः प्रकृति के सृष्टिरूप परिणाम तथा इसमें प्रतीयमान विषमता हेतु किसी न किसी निमित्तकारण को तो सांख्यवादियों को भी स्वीकार करना होगा। सांख्यदर्शन का पुरुष वेदान्तदर्शन के ईश्वरस्थानीय है, अतः प्रकृति का पुरुष के साथ संयोग होना तो साधारणनिमित्तकारण है। सृष्टि के वैषम्य में असाधारणनिमित्तकारण के रूप में अदृष्ट को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार पुरुष तथा अदृष्ट के द्वारा नियंत्रित होने से प्रकृति भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। अतः प्रकृति में परतन्त्रता विद्यमान होने से जड़ लक्षण की अव्याप्ति नहीं है।

2. जड़तत्त्व परिणामशील है– परिणाम का अर्थ है अवस्थान्तरप्राप्ति एवं अवस्थान्तर प्राप्त करना जिसका स्वभाव है वह जड़ है। विश्व में चारों ओर दृष्टिपात करने पर भी हमें किसी ऐसी जड़वस्तु की प्राप्ति नहीं होती जो परिणामशील न हो। प्रत्येक जड़पदार्थ में परिवर्तन होता है। उदाहरण के रूप में– हम किसी एक बीज को लेते हैं, तो हम देखते हैं कि बीज अंकुरित हो रहा है, कुछ समय पश्चात् उसमें तना, पत्तियाँ आ जाती हैं, कुछ समयोपरान्त वह वृक्ष बनता है, उसमें फल-पुष्प लगते हैं। इस प्रकार उसका निरन्तर परिणाम होता रहता है। ऐसे ही जल का दृष्टान्त लिया जा सकता है, जल पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो उसका वाष्प के रूप में परिणाम होता है तथा वह ऊपर उठ जाता है, पुनः वायुमण्डल में ठंडा होने पर उसका परिणाम मेघ के रूप में होता है, तथा वर्षा के रूप में वह पृथ्वी पर वापस आता है, इस प्रकार जल भी निरन्तर परिणामशील है। मानवशरीर भी निरन्तर परिणामशील है, इसके अवयव निरन्तर विकसित होते हैं जिससे शरीर में बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि अवस्थाएं दिखाई देती हैं। सूक्ष्म जड़ पदार्थों में भी निरन्तर परिणाम होता है, यथा इन्द्रियों के माध्यम से विषयसन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण का पुष्पादि विषयों के आकार में परिणाम होता है। धर्मराजध्वरीन्द्र के शब्दों में– **''तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते।''**[7] इन्द्रियों में भी स्वस्व विषयों के आलोचन (अर्थात् विषयों से सम्बन्धित हुए बिना ज्ञानेन्द्रियाँ जिस प्रकार रहती हैं, विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर वे उस प्रकार नहीं रहती किन्तु उनकी विशेष स्थिति होती है जो अन्तःकरण के विषयाकार परिणाम में हेतु होता है, इन्द्रियों की

ये विशेष स्थिति ही आलोचन है।) रूप परिणाम होता है। आचार्य ईश्वरकृष्ण के शब्दों में– **''रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।''**[8] जड़ात्मक प्रकृति के स्वरूपाधायक सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण निरन्तर परिणामशील हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र के शब्दों में– **''परिणामस्वभावा हि गुणा नाऽपरिणमय्य क्षणमप्यव-तिष्ठन्ते।''**[9] अर्थात् स्वभावतः परिणामी तीनों गुण परिणत हुए बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते।

प्रलयावस्था में इन गुणों का स्वरूप परिणाम होता है अर्थात् सत्त्वगुण का परिणाम सत्त्वगुण के रूप में, रजोगुण का परिणाम रजोगुण के रूप में, तथा तमोगुण का परिणाम तमोगुण के रूप में होता है। सृष्टि की अवस्था में इनका विषमपरिणाम होता है अर्थात् सत्त्वगुण का परिणाम रजस् तथा तमोगुण के रूप में, रजोगुण का परिणाम सत्त्व और तमस् के रूप में तथा तमोगुण का परिणाम सत्त्व और रजस् के रूप में होता है। इस प्रकार अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि जड़ात्मक वस्तुएं निरन्तर परिणामशील हैं।

3. जड़तत्त्व क्रिया का आश्रय– प्रत्येक जड़वस्तु में क्रियाशीलता दृष्टिगोचर होती है। यथा– सूर्य का भ्रमण करना, पृथ्वी की अपनी धुरी पर घूमना, मेघ द्वारा वर्षा होना, नदियों का प्रवाहित होना इत्यादि। क्रिया के दो स्वरूप होते हैं जिनको अन्तःक्रिया और बाह्यक्रिया के रूप में वर्णन किया जा सकता है। किसी वस्तु में बाह्यक्रिया के दृष्टान्त है उसका चलना, घूमना आदि। इसके अतिरिक्त जड़पदार्थ में अन्तःक्रिया (परिणामरूप क्रिया) भी होती है, जिसके कारण जड़पदार्थों के स्वरूप में परिवर्तन परिलक्षित होता है, यथा– बीज का अंकुरित होना, कली का फूल के रूप में खिलना, शिशु का विकास आदि। वस्तुतः कली, बीज, आदि में एक अन्तःसलिला क्रिया निरन्तर चलती रहती है, जिसके फलस्वरूप एक समय कली फूल बन जाती है, बीज अंकुरित होता है।

प्रायः ऐसी शंका होती है कि– पर्वतादि जो जड़वस्तु है, उनमें क्रिया का अभाव देखा जाता है तथा साथ ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतन प्राणियों में क्रियाशीलता देखी जाती है, अतः क्रिया का आश्रय जड़ है ऐसा लक्षण बनाना उचित नहीं है। इस शंका का समाधान है– पर्वत में भी क्रिया है, तथाहि पर्वत में स्थूलरूप में बाह्यक्रिया गमनादि दृष्टिगोचर न होने पर भी सम्पूर्ण पृथ्वी के अंग के रूप में पर्वतादि प्रचण्ड गतिशील हैं क्योंकि पृथ्वी तीव्र गति से चलती हुई निरन्तर सूर्य की परिक्रमा कर रही है एवं पर्वतादि में अन्तःक्रिया भी है, तभी हिमालय आदि पर्वत वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं, तथा इनका किसी अंश में क्षय भी हो रहा है।

स्वामी विवेकानन्द ने भी जड़तत्त्व में अन्तःक्रिया के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार जड़तत्त्व स्पंदन युक्त है। स्पंदन एक आन्तरिक क्रिया है। मन और स्थूल वस्तु दोनों ही स्पंदन युक्त है, तथा एक ही तत्त्व से बने हुए हैं, इनमें स्पंदन की मात्रा की विभिन्नता के कारण से वाह्य जड़ वस्तु और मन भिन्न प्रतीत होते हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में– ".....that which we call matter and mind are one and the same substance. The only difference is in the degree of vibration. Mind at a very low rate of vibration is what is known as matter. Metter at a high rate of vibration is what is known as mind."[10]

चेतनप्राणियों में क्रियाश्रयत्व होने से जड़तत्त्व होने की जो आपत्ति दी गयी है, उसका समाधान इस प्रकार है– वस्तुतः चेतन आत्मा एवं जड़शरीर के सम्मिलित स्वरूप में ही चेतनप्राणी शब्द का व्यवहार होता है। इनमें प्राणियों का शरीर जड़ है तथा क्रियाएं इसी जड़ शरीर से सम्बन्धित होती हैं। जिस प्रकार लौह के स्वयं दाह का कारण न होने पर भी लौह और अग्नि के विशेष सम्बन्ध होने पर 'अयो दहति' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार शरीर के साथ चैतन्य के तादात्म्याध्यास के कारण ही यह जड़ात्मक शरीर चेतन की तरह अवभाषित होता है तथा चेतनप्राणी अपने में क्रियाशीलता की अनुभूति करता है। वस्तुतः यह शरीर जड़ है और क्रिया जड़ को ही अपना आश्रय बनाती है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि चेतनप्राणियों के शरीर में कुछ विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं होती हैं जैसे– हँसना, रोना आदि। ये क्रियाएं अन्य जड़ वस्तुओं में नहीं होती हैं, ऐसा क्यों? ऐसा प्रश्न उठने पर इसका समाधान है कि एक तो प्राणियों का शरीर जड़ होने पर भी सामान्य जड़वस्तु की भांति नहीं है किन्तु यह विशिष्ट प्रकार की संरचना से युक्त है अतः इसकी क्रियाएं भी विशिष्ट प्रकार की होती है।

दूसरी बात जिस प्रकार लौहखण्ड में सामान्यरूप में निश्चेष्टता रहने पर भी चुम्बक से सान्निध्य में वह चेष्टा करता है वैसे ही चेतन आत्मा के साथ सम्बन्धित होने के कारण शरीर में विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं हंसना, रोना आदि दृष्टिगोचर होती हैं।

3. (क) क्रिया अपने आश्रय को विकृत करती है– आचार्य शंकर ने भी क्रिया का आश्रय चेतन को नहीं माना है। इनके अनुसार क्रिया जिसको आश्रय करती है उसे विकृत भी करती है। क्रिया आश्रय को विकृत किये बिना अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं करती। आत्मा क्रिया का आश्रय नहीं हो सकती। तथाहि आत्मा के अपरिच्छिन्न तथा व्यापक होने से उसमें गमन रूप क्रिया (बाह्यक्रिया) संभव नहीं है तथा आत्मा के निरवयव होने से इसमें अन्तःक्रिया (परिणामस्वरूप क्रिया) भी संभव नहीं है। आत्मा में किसी प्रकार की क्रिया नहीं है न तो बाह्यक्रिया और न ही अन्तःक्रिया। अतः चेतन आत्मा में जड़ लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। आचार्य शंकर के शब्दों में- **''क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः। यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। यद्यात्मा क्रियया विक्रियेत;**

अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। 'अविकार्योऽयमुच्यते' इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्चानिष्टम् तस्मान्न स्वाश्रया क्रियाऽऽत्मनः संभवति।''[11]

4. जड़तत्त्व का ज्ञान इदं के रूप में– सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का ज्ञान चेतन को होता है। चेतन स्वयं को जानता है तथा साथ ही साथ उसे अपने से भिन्न पदार्थों (जड़ पदार्थों) का भी ज्ञान होता है। चेतन को अपनी अनुभूति अहंप्रत्यय के रूप में होती है तथा अपने से भिन्न पदार्थों की अनुभूति इदं के रूप में होती है। यथा– अयं घटः, अयं पटः, अयं वृक्षः इत्यादि। इन दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है कि जड़ात्मक पदार्थों की अनुभूति इदं के रूप में होती है। यहाँ पर शंका होती है कि शरीर, इन्द्रियाँ स्वरूपतः जड़ है परन्तु इनकी अनुभूति 'अहं' के रूप में होती है यथा अहं स्थूलः, अहं कृशः, अहं काणः, अहं खञ्जः इत्यादि। अतः ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि जड़ का ज्ञान इदं के रूप में होता है? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है– यथार्थ रूप में अहं के द्वारा चेतन आत्मा का ही बोध होता है। परन्तु चेतन आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य या अभेद का भ्रम होने के कारण चेतन अपने को शरीर से पृथक रूप से नहीं जानता, किन्तु वह उससे अभिन्न रूप से स्वयं को जानता है जिससे शरीरादि में भी अहं प्रत्यय का व्यवहार ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अत्यन्त तप्त लौहपिण्ड में 'अयो दहति' व्यवहार होता है। वस्तुतः दाहिका शक्ति अग्नि में होती है, लौहपिण्ड का अग्नि के साथ तादात्म्य या घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर अग्नि की दाहिका शक्ति के साथ लौहपिण्ड के एकता का भ्रम होने के कारण लौहपिण्ड जलाती है ऐसा अनुभव होता है। इसी प्रकार अहं के द्वारा यद्यपि चेतन का बोध होता है तथापि चेतन का शरीर के साथ तादात्म्य का अध्यास होने के कारण शरीरादि का भी बोध अहं के रूप में होता है। वस्तुतः शरीरादि की अनुभूति 'अहं' 'इदं' उभयाकार प्रत्ययों में होती है, यथा– इदं मम शरीरं, इदं मम चक्षुः, अहं स्थूलः इत्यादि। अतः यह कहना उचित है कि जिसकी प्रतीति इदं के रूप में होती है वह जड़ है जैसे शरीर में 'इदं मम् शरीरम्' यह प्रतीति होती है अतः शरीर जड़ है। पक्षान्तर में आत्मा की प्रतीति अहं के रूप में ही होती है कभी भी आत्मा की प्रतीति इदं के रूप में नहीं होती अतः आत्मा चेतन है।

5. जड़तत्त्व में स्वयं को तथा अन्य को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है– अद्वैतवेदान्तदर्शनानुसार अज्ञानत्व अर्थात् ज्ञानभिन्नत्व ही जड़त्व है। आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती के शब्दों में **''अज्ञानत्वं ज्ञानभिन्नत्वम्।''**[12] ज्ञानभिन्नत्व को जानने के लिए सर्वप्रथम ज्ञान का स्वरूप जानना आवश्यक है। वेदान्तदर्शन में ज्ञान शब्द का प्रयोग द्विविध अर्थों में होता है- उसमें प्रथम स्वयंप्रकाश चैतन्य या ब्रह्म के लिए ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्रह्म को स्वयंप्रकाश कहने से तात्पर्य है कि वह स्वयं ही प्रकाशित होता है या जानता है, अपने को जानने के लिए उसे अन्य साधन या प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। अद्वैतसिद्धिकार ने स्वयंप्रकाशत्व का लक्षण इस प्रकार किया है– **''अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषययोग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्।''**[13] जैसे दीपक स्वयं प्रकाशित होता हुआ अपने सामने आयी प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता है इसीलिए दीपक को स्वयंप्रकाश कहा गया है, वैसे ही आत्मा स्वयं को जानने के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता वह स्वयं प्रकाश है। यह स्वयंप्रकाश चैतन्य स्वरूप व नित्य है। घटादि विषयों की उत्पत्ति से पूर्व, घटादि के विद्यमान रहने पर एवं घटादि के विनष्ट होने के उपरान्त भी यह विद्यमान रहता है। ज्ञान शब्द का द्वितीय स्वरूप है– वृत्युपरक्त चैतन्य अर्थात् जब अन्तःकरण का चक्षुरादि से सम्बन्धित पुष्पादि विषयों के आकार में परिणाम होता है, उस समय स्वयंप्रकाश चैतन्य उस परिणाम में प्रतिबिम्बित होकर पुष्पादि विषयों को प्रकाशित करता है चित्प्रतिबिम्बयुक्त अन्तःकरण के परिणाम या वृत्ति को भी ज्ञान शब्द से कहा जाता है। धर्मराजध्वरीन्द्र के शब्दों में– **''ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचारः। तदुक्तं विवरणे 'अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्' इति।''**[14]

वस्तुतः स्वयंप्रकाश चैतन्य या आत्मा ही ज्ञान है स्वयंप्रकाश के रूप में वह आत्मा स्वयं भासित होता है। स्वोपाधिभूत अन्तःकरण के परिणामस्वरूप सुखादि वस्तुओं को साक्षी रूप से प्रकाशित करता है एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर वह घटादि विषयों को प्रकाशित करता है। जहाँ चित्प्रतिबिम्बयुक्त वृत्ति को ज्ञान कहा जाता है वहाँ भी घटादि का प्रकाशक चैतन्य ही है लेकिन शुद्धचैतन्य नहीं वृत्यारूढ़चैतन्य। प्रकाशक चैतन्य के साथ पुष्पादि विषयों के सम्बन्ध के लिए वृत्ति को स्वीकार किया गया है तथा संस्कारोत्पत्ति द्वारा स्मृति की उत्पत्ति के लिए भी वृत्ति को स्वीकार किया जाता है।

5. (क) ज्ञान क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ज्ञान का सामान्यलक्षण इस प्रकार होना चाहिए जो स्वयंप्रकाश चैतन्य एवं वृत्यारूढ़ चैतन्य उभय में समान रूप से अनुगत हो। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने ज्ञान का लक्षण 'अर्थोपलक्षितप्रकाश' कहा है। अद्वैतसिद्धिकार के शब्दों में– **''अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायामपितदनपायात्।''**[15] अर्थात् अर्थ या विषयाकार वृत्ति जिसका उपलक्षण हो ऐसा प्रकाश ज्ञान है (यहाँ प्रकाश शब्द का अर्थ ज्ञान है।)

5. (ख) उपलक्षण वह है जो न रहते हुए किसी वस्तु का भिन्न रूप से बोध कराये। इसे दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है– जैसे किसी बच्चे को किसी घर से कोई वस्तु लानी है, वह बच्चा बहुत से घरों के मध्य स्थित उस घर को नहीं जानता, उस घर के ज्ञान हेतु बच्चे को बताया जाता है कि देखो जिस घर की छत पर कौआ बैठा है, उसी घर से तुम्हें अमुक वस्तु लानी है, कुछ समय पश्चात् वहाँ से कौआ उड़ जाता है, परन्तु बच्चे को उस घर की

पहचान हो गयी रहती है अतः बच्चा उस घर से वस्तु लाने में समर्थ होता है। यहाँ पर कौआ उस घर का उपलक्षण है क्योंकि वह न रहते हुए भी उस घर को अन्य घरों से पृथक करता है; वह घर कौआ द्वारा उपलक्षित घर कहलाता है।

ज्ञान को अर्थोपलक्षित कहने से ज्ञात होता है कि विषयों की उपस्थिति में विषयाकारवृत्ति में आरूढ़ होकर चैतन्यरूप ज्ञान विषयों को प्रकाशित करता है उसे वृत्युपरक्त चैतन्य कहा जाता है और उसी ज्ञान का मोक्षावस्था (वृत्तिविरहावस्था) में वृत्ति उपलक्षित रूप से भान होता है। वस्तुतः वृत्ति की अवस्था में भी चैतन्य के द्वारा ही विषयों का प्रकाश होता है, पर वह चैतन्य वृत्युपरक्त होता है तथा जब मोक्षावस्था में विषयों के न रहने से तदाकारवृत्ति का भी अभाव होता है, उस समय ज्ञान का कौए से उपलक्षित गृह के समान वृत्युपलक्षित रूप से भान होता है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि अर्थोपलक्षित प्रकाश को ज्ञान कहा जाय तो विषयों की उपस्थिति में ज्ञान अर्थोपलक्षित कैसे होगा? क्योंकि वृत्ति (या अर्थ) की विरहावस्था में ही ज्ञान या प्रकाश अर्थोपलक्षित हो सकता है। अतः अर्थोपलक्षित प्रकाश को ज्ञान का लक्षण मानने पर वृत्यारूढ़चैतन्य में ज्ञान का लक्षण नहीं जाने से लक्षण में अव्याप्तिदोष का प्रसठ होगा। इसका समाधान इस प्रकार है– विशिष्ट के अन्दर शुद्ध अनुस्यूत रहता है यह सर्वमान्य नियम है। जैसे– विविध नाम रूप वाले स्वर्णालंकारों में शुद्ध स्वर्ण अनुस्यूत रहता है, जैसे– घट, मठ आदि उपाधि से युक्त घटाकाश, मठाकाश में शुद्ध महाकाश अनुस्यूत रहता है वैसे ही अर्थोपलक्षित प्रकाश जो कि शुद्ध ज्ञान ही है वृत्ति की उपस्थिति काल में वृत्त्यारूढ़चैतन्य में अनुस्यूत रहता है। वस्तुतः वृत्ति में आरूढ़ होकर जब चैतन्य पुष्पादि को प्रकाशित करता है उस समय भी वृत्त्यारूढ़चैतन्य के रूप में शुद्ध प्रकाश या अर्थोपलक्षित प्रकाश (चैतन्य) ही विषय को प्रकाशित करता है। प्रकाशकत्व वृत्त्यारूढ़चैतन्य इस सर्वांश में नहीं किन्तु चैतन्यमात्र में ही है। और चैतन्यमात्र को ही ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार से शुद्धचैतन्य या अर्थोपलक्षित प्रकाश ही ज्ञान है। ज्ञानभिन्नत्व ही अज्ञानत्व है तथा यही जड़त्व है। इससे स्पष्ट होता है कि जड़ वह है जिसे किसी का भी ज्ञान नहीं होता न तो स्वयं का और न ही दूसरी वस्तु का।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 1/4/3, आचार्यशङ्कर, सम्पादक– हनुमानदास-षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, 2003।
2. The World of Physics, Page No. 19, McGraw-Hill Book Company, inc New York, Tronto, London, 1960.
3. सांख्यकारिका, 10वीं कारिका, आचार्य ईश्वरकृष्ण, सम्पादक-ओमप्रकाशपाण्डेय, चौखम्बा सरस्वती भवन, वाराणसी, 1981।
4. सांख्यकारिका, 21वीं कारिका।
5. सांख्यतत्त्वकौमुदी, 21वीं कारिका, आचार्य वाचस्पतिमिश्र, सम्पादक-ओमप्रकाशपाण्डेय, चौखम्बा सरस्वती भवन, वाराणसी, 1981।
6. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2/1/34।
7. वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ सं. 39, धर्मराज ध्वरीन्द्र, सम्पादक- श्री श्रीरामशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2000।
8. सांख्यकारिका, 28वीं कारिका।
9. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृष्ठ सं. 93
10. Complete works of Swami Vivekanand- Vol. VI, Page No. 34, Advaita Ashrama, Mayawati, Himalayas, 2003.
11. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 1/1/4, पृष्ठ सं. 53
12. लघु चन्द्रिका, पृष्ठ सं. 768, आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती, सम्पादक-पं. एन.एस. अनन्तकृष्णशास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2005।
13. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ सं. 768, आचार्य मधुसूदनसरस्वती, सम्पादक-पं. एन.एस. अनन्तकृष्णशास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2005।
14. वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ सं. 25।
15. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ सं. 299।

महाकवि देव का शास्त्र-चिन्तन : मौलिकता की कसौटी पर

*डॉ. अनुकूलचन्द राय**

हिन्दी ब्रजभाषा काव्य में देव महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। रीतिकालीन कवियों में वही एक ऐसे कवि रहे जिनके साहित्यिक गौरव को सूर और तुलसी के समकक्ष रखने की चेष्टा की गयी। हिन्दी नवरत्न के लेखकों ने हिन्दी के नौ कवियों को चुनकर जिन तीन श्रेणियों का निर्धारण किया उनमें प्रथम श्रेणी में तुलसी और सूरदास के साथ देव भी हैं। अनुभूति की सचाई, आत्मद्रव, आत्मनिलय, भावगाम्भीर्य, रसार्द्रता, गीतितत्त्व एवं शैलीगत कान्ति उनकी ऐसी काव्यगत विशेषताएँ रही हैं जिनके कारण वे हिन्दी के समस्त कवियों से अलग दिखाई पड़ते हैं। कवित्व के साथ ही देव का आचार्यत्व भी अन्य रीतिबद्ध कवियों से अधिक मौलिक एवं स्वच्छन्द है।

आचार्य कवि देव द्वारा रचित कुल बहत्तर ग्रन्थ बताये जाते हैं, किन्तु अद्यावधि मात्र पन्द्रह उपलब्ध हैं। इन उपलब्ध पन्द्रह ग्रन्थों में भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, रसविलास, सुजान विनोद, काव्यरसायन (शब्दरसायन) तथा सुखसागरतरंग काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इनमें 'काव्यरसायन' (शब्दरसायन) सर्वाठ निरूपक ग्रन्थ है। शेष ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद एवं श्रृंगाररस का विवेचन है। यहाँ ध्यातव्य है कि देव के विभिन्न ग्रन्थों की काव्यशास्त्रीय सामग्री बहुत कुछ समान है। एक के लक्षण– उदाहरण थोड़े हेर-फेर के साथ अथवा ज्यों के त्यों दूसरे में सन्निविष्ट करके नवीन शीर्षक के साथ नवीन ग्रन्थ की रचना का प्रयत्न अधिक रहा है।

देव ने अपने 'भावविलास' (1689 ई.) ग्रन्थ के अन्तर्गत रस सामग्री और रस भेदों विशेषतः श्रृंगाररस और नायक-नायिका-भेद तथा उनतालीस अलंकारों के विवेचन में भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' और 'रसतरंगिणी', भामह के 'काव्यालंकार', दण्डी के 'काव्यादर्श' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' का आश्रय लिया है । 'शब्दरसायन' में क्रमशः काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, नवरस, नायक-नायिका-भेद, रीति, गुण, वृत्ति और अलंकार का विवेचन 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसमञ्जरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर किया गया है। शेष ग्रन्थों में विवेचित रस एवं नायक-नायिका-भेद विषयक सामग्री भानुदत्त की 'रसमञ्जरी', केशव की 'रसिकप्रिया', रहीम के 'बरवै नायिका-भेद' आदि ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत की गयी है।

देव के समस्त काव्यशास्त्रीय चिन्तन में जो कुछ नवीनताएँ एवं मौलिकताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

देव ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना प्रधान काव्य को क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं अधम कहा है–

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लच्छनालीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल उलटी कहत नवीन।।[1]

मिश्र बन्धुओं ने प्रथम बार इसे देव का नूतन अनुसन्धान समझा। आचार्य शुक्ल को भी कुछ यही लगा।[2] प्रथम बार पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस पर गम्भीरता से विचार करते हुए बताया कि यह पूरा कथन नायक-नायिका के सन्दर्भ में किया गया है, न कि शब्दशक्ति के प्रसंग में।[3] देव ने स्वयं शब्दरसायन के षष्ठ प्रकाश के प्रारम्भ में इसे अधिक स्पष्ट कर दिया है। आचार्य देव ने नायक-नायिका को 'शब्द' और उनके सहायकों को 'अर्थ' माना है। प्राचीन आचार्यों ने व्यञ्जना को उत्तम काव्य, लक्षणा को मध्यम काव्य और अभिधा को अधम काव्य माना है। यहाँ नायिका-भेद के प्रसंग में 'उलटी' कही गयी है। यह देव का 'विशेष प्रकार' से नायकादि का काव्य मर्यादा के विचार से सूक्ष्म निरूपण है–

हैं नायक अरु नायका पात्र सुरस सिंगार।
ताहू सूछम रीति सों कहत बिसेष प्रकार।।[4]

वस्तुतः देव की अभिधा (उत्तम काव्य) के अन्तर्गत शुद्धस्वभावा स्वकीया नायिका और अनुकूल पति वाचक है। सखी, गुरु आदि उपदेशी वाच्यार्थ हैं। लक्षणा (मध्यम काव्य) के अन्तर्गत गर्वस्वभावा स्वकीया और दक्षिण पति लक्षक हैं। धृष्टा सखी आदि उपदेशी लक्ष्यार्थ हैं व्यञ्जना (अधम काव्य) के अन्तर्गत शुद्ध परकीया और धृष्ट नायक व्यञ्जक हैं तथा नीच नर्मसचिव आदि उपदेशी व्यंग्यार्थ हैं।[5] यहाँ स्पष्ट है कि परकीया वर्णन को रीतिकालीन कवि भी भारतीय मर्यादा से अधम ही मानते थे।

देव ने 'शब्दरसायन' के प्रथम दो प्रकाशों में शब्दशक्ति पर विस्तार से विचार किया है। उनके इस प्रकरण में कहीं-कहीं इनकी मौलिकता के दर्शन हो जाते हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य एवं तात्पर्यार्थ की ओर संकेत किया है।[6] तात्पर्य शक्ति के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला गया है। लगता है, 'तात्पर्य' से उनका अभिप्राय या तो व्यंग्यार्थ से है, या वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इन तीनों अर्थों से। व्यञ्जना का विवेचन मात्र दो-तीन छन्दों में ही समाप्त हुआ है। देव ने लक्षणा के तेरह भेद गिनाये हैं– बारह

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ वाराणसी

प्रयोजनवती लक्षणा और एक रूढ़िगत लक्षणा। उन्होंने तीनों वृत्तियों के शुद्ध और संकीर्ण भेदों पर विचार किया है। उन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के चार-चार प्रकार गिनाकर बारह भेद उपस्थित किये हैं।[7] यद्यपि देव का यह विभाजन उनकी मौलिक उद्‌भावना प्रकट करता-सा जान पड़ता है, पर डॉ. भोलाशंकर व्यास ने इसका आधार संस्कृत काव्यशास्त्र का वह वर्गीकरण बतलाया है जहाँ आर्थी व्यञ्जना में व्यंग्यार्थ का विवेचन करते समय वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ, लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ का विचार किया गया है।[8]

देव रसवादी आचार्य हैं। उनका रस प्रकरण अन्य काव्यांगों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उन्होंने सर्वाधिक नवीन उद्‌भावनाएँ भी इसी क्षेत्र में की हैं। उनके अनुसार शृंगार रस मूल रस है। उत्साह और निर्वेद इसी से उत्पन्न होकर क्रमशः वीर और शान्त रस का रूप धारण करते हैं–

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै बीर सान्त संचार।।[9]

इस प्रकार मुख्य रस तीन हैं– शृंगार, वीर और शान्त। इन तीनों के भी अधीन दो-दो रस हैं– शृंगार के अधीन हास्य और भयानक वीर के अधीन रौद्र और करुण तथा शान्त के अधीन अद्‌भुत और बीभत्स।[10] यह विभाजन मौलिक तो है, पर इसकी स्थापना के आधार का देव ने विशेष विवेचन नहीं किया। वास्तव में ये विभाजन किसी विशेष मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं हैं। वीर के साथ रौद्र तो ठीक है, पर करुण को सभी परिस्थितियों में वीर के आश्रित कैसे माना जा सकता है? उनकी दृष्टि में रस दो प्रकार के होते हैं– लौकिक और अलौकिक। शृंगारादि नवरस लौकिक हैं तथा स्वाप्निक, मानोरथिक एवं औपनायिक अलौकिक।[11] यह विभाजन देव ने 'रसतरंगिणी' से लिया है– स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेति। अलौकिको रसस्त्रिधा स्वाप्निको मानोरथिक औपनायिकश्चेति।[12] इन तीनों के लक्षण प्राप्त नहीं हैं, मात्र उदाहरण ही प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि स्वाप्निक में स्वप्न द्वारा, मानोरथिक में मनोरथ द्वारा और औपनायिक में लीला आदि के व्याज से भगवान् के मिलन का अलौकिक रस प्राप्त होता है।

देव ने परम्परा से हटकर संचारी भावों के दो भेद किये हैं– शारीर और आन्तर। अष्ट सात्त्विक भाव ही शारीर संचारी हैं एवं निर्वेदादि तैंतीस भाव आन्तर संचारी हैं।[13] ये भेद 'रसतरंगिणी' से ज्यों के त्यों लिये गये हैं।[14] अष्ट सात्त्विक भाव परम्परा से अनुभाव के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। ये भाव संचारियों के अन्तर्गत क्यों होने चाहिए, इसका विवेचन देव ने नहीं किया। देव ने निर्वेदादि के अन्तर्गत 'छल' नामक चौंतीसवें संचारी की भी कल्पना की–

अपमानादिक करन को, कीजै क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अंतर कपट, सो बरनै छल भाव।। –भावविलास

बहुत दिनों तक 'रसतरंगिणी' के सामने न होने से 'छल' संचारी को लोग देव की उद्‌भावना मानते थे। वैसे आचार्य शुक्ल ने इसके मूल को पकड़ लिया था और इस नवीनता को निरर्थक माना है। उन्होंने स्वीकार किया है कि साहित्य-सिद्धान्त ग्रन्थों में परिगणित तैंतीस संचारी उपलक्षणमात्र हैं, उनके और भी कितने भेद हो सकते हैं।[15]

जहाँ तक रसों के भेदोपभेद की बात है, देव ने शृंगार के दोनों पक्षों– संयोग एवं वियोग– के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद किये हैं। प्रच्छन्न शृंगार गुप्त रहता है, प्रकाश सर्वविदित होता है, उसमें दुराव की आवश्यकता नहीं होती–

देव कहै प्रच्छन्न सो जाको दुरो विलास।
जानहिं जाको सकल जन बरनै ताहि प्रकास।। –भावविलास

ये दोनों भेद देव के नवीन नहीं हैं। ये केशव की 'रसिकप्रिया' से गृहीत हैं–

शुभ संयोग वियोग पुनि, दोउ शृंगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि, दोऊ द्वै द्वै भाँति।। –रसिकप्रिया

केशव ने इसे भोज के 'शृंगार प्रकाश' से ग्रहण किया है। देव ने करुण के पाँच भेद माने हैं– करुणा, अतिकरुणा, महाकरुणा, लघुकरुणा और सुखकरुणा।[16] इन्हें शान्त रस के दो भेद मान्य हैं– भक्तिमूलक शान्त और शुद्ध शान्त।[17] इनमें भक्तिमूलक शान्त के तीन उपभेद हैं– प्रेमभक्ति, शुद्धभक्ति और शुद्धप्रेम। शुद्ध शान्त से तात्पर्य वैराग्यमूलक शान्त से है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि देव के भक्तिमूलक शान्त के मौलिक भेद दमदार नहीं हैं, क्योंकि तीनों भेदों में प्रेम भक्ति और शुद्ध प्रेम शम भाव के अन्तर्गत किसी भी प्रकार नहीं आ सकते। ये तो शृंगार के ही रूप हैं। जहाँ तक करुण के अन्य भेदों की बात है, उनकी मौलिकता निःसन्दिग्ध है। इन भेदों को भारतीय काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा में उनके प्रदेय के रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

देव ने 'शब्दरसायन' में काव्य-दोषों की अलग से चर्चा न कर रस-प्रकरण में ही 'रस-दोष' संकेत देकर सरस, निरस, सन्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, मीत, अमीत, उदास चित्त और सुचित्त नाम गिनाये हैं–

सरस निरस, सन्मुख विमुख स्वपरिनिष्ठ पहिचानि।
मीत अमीत उदासचित उचित सुचित्त बखानि।।[18]

देव ने इन दोषों के लक्षण नहीं किये हैं, मात्र उदाहरण दिये हैं, इसलिए इनके स्वरूप को समझने में कठिनाई होती है। देव ने

इन दोषों की कल्पना कैसे की, यह समझ के परे है। वैसे इनके दो-चार उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने इन्हीं के माध्यम से रस-दोष के कुछ दूसरे में भेदों की कल्पना की है।[19]

देव ने 'शब्दरसायन' के सप्तम तथा अष्टम प्रकाशों में गुणों की चर्चा की है। उन्होंने इसके निरूपण में पूर्व ध्वनि-परम्परा का अनुसरण किया है। देव के इस प्रकरण की सबसे बड़ी विशिष्टता एवं विचित्रता है– गुण एवं रीति का एकीकरण। उन्होंने पूरे प्रकरण में श्लेषादि दस गुणों को गुण न कहकर रीति कहा है। गुण को रीति कहने की प्रवृत्ति न तो किसी संस्कृत आचार्य में देखने को मिलती है और न किसी हिन्दी आचार्य में। यह देव की स्वयं की सूझ-बूझ है। देव ने भ्रान्ति से नहीं, जान-बूझकर गुण को रीति की संज्ञा दी है जो किसी भी प्रकार संगत नहीं है। रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है। एक-एक रीति के अन्तर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता है। देव ने श्लेषादि दस गुणों के साथ ही अनुप्रास और यमक को भी रीति (गुण) के ही अन्तर्गत सन्निविष्ट किया है। वस्तुतः काव्य के बाह्यतत्त्व अनुप्रास और यमक को रीति (गुण) मानना पूर्णतः असंगत है। गुण काव्य का स्थायी धर्म होता है, अनुप्रास और यमक के समान अस्थायी नहीं । इसी प्रसंग में देव की एक और नवीन उद्‌भावना उल्लेखनीय है। उन्होंने श्लेषादि में से प्रत्येक रीति (गुण) का नागर एवं ग्राम्य भेदों में विभाजन किया है। उन्होंने नागर में सुरुचि का प्राधान्य एवं ग्राम्य में रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव बताया–

नागर गुन आगर, दुतिय रस-सागर रुचि हीन।[20]

देव की यह उद्‌भावना महत्त्वहीन एवं असंगत है, क्योंकि पहले तो मानव-स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्तिसंगत नहीं है, फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाये तो कान्ति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है।

जहाँ तक अलंकार-विवेचन में इनके अवदान का प्रश्न है, इन्होंने अपने दो ग्रन्थों– भावविलास एवं काव्यरसायन (शब्दरसायन)– में इस प्रकरण को स्थान दिया है। 'भावविलास' में कुल उनतालीस अलंकार हैं। इसमें शब्दालंकार की अलग से चर्चा नहीं है। 'चढ़त सोरही वर्ष' की रचना होने के कारण इसमें अव्यवस्था है। इस ग्रन्थ में केशव का प्रभाव अधिक है। अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण दोनों सदोष हैं। 'काव्यरसायन' भावविलास की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। 'भावविलास' में उपेक्षित शब्दालंकारों का वर्णन इस ग्रन्थ में सविस्तर है। केशव के ही समान देव ने भी इस प्रकरण में दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया है। अर्थालंकारों में गुणवत्, लेख, संकीर्ण और प्रत्युक्ति तथा शब्दालंकारों में सिंहावलोकन (यमक-भेद) की परिकल्पना है। सिंहावलोकन का लक्षण नहीं दिया गया है जिससे वह स्पष्ट नहीं हो पाता। इन्होंने उपमा को सभी अलंकारों का मूल स्वीकार करते हुए उसके साथ ही स्वभावोक्ति को भी अलंकारों में मुख्य माना है–

1. **अलंकार में मुख्य हैं उपमा और सुभाव।**
   सकल अलंकारनि विषै परसत प्रगट प्रभाव।। –शब्दरसायन

2. **सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग उपंग।** –शब्दरसायन

देव ने शब्दालंकारों को महत्त्व नहीं दिया है। उन्होंने चित्रकाव्य से सम्बद्ध होने के कारण इन अलंकारों को हेय माना है। शब्दालंकारों से युक्त काव्य को 'मृतक काव्य' अथवा 'प्रेतकाव्य' माना है।[21] उन्होंने शब्द चित्र को आदर देने वालों पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है–

सरस वाक्यपद, अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तज, बायसु चाम चबात।। –शब्दरसायन

देव रसवादी आचार्य थे, अतः उनकी यह स्थापना संगत ही है। ध्वनिवादी आचार्य भी शब्दचित्र को अधम काव्य की कोटि में ही परिगणित करते रहे हैं। हाँ, यहाँ एक बात का संकेत करना आवश्यक है कि जिस स्वभावोक्ति को मम्मट एवं विश्वनाथ जैसे आचार्य भी एक साधारण अलंकार मानते हैं, उसे उन्होंने अर्थालंकारों में प्रमुखता देकर जहाँ एक ओर अपनी रुचि-विशिष्टता का परिचय दिया वहीं दूसरी ओर एक नवीन परिकल्पना को जन्म दिया।

देव के सम्पूर्ण आचार्यत्व पर यदि निष्पक्ष होकर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलता है कि इनमें गुण एवं अवगुण दोनों ही विद्यमान हैं। लक्षणों की सुबोधता, स्पष्टता और संक्षिप्तता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता के गुण तो इनमें विद्यमान हैं ही, साथ ही ये अपने मत को प्रबल आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करते हैं। जहाँ तक अवगुणों का सम्बन्ध है, उनके लक्षण एवं उदाहरण कहीं-कहीं अस्पष्ट एवं भ्रान्तियुक्त हैं। इसके साथ ही अव्यवस्था, अशास्त्रीयता एवं असामञ्जस्य भी कम नहीं है। किसी भी आचार्य को 'आचार्य' कहलाने के लिए तीन गुणों से मण्डित होना आवश्यक है– प्रतिपादन की स्वच्छता, विवेचन की गम्भीरता एवं मौलिकता। कहना न होगा, आचार्य देव में प्रतिपादन की स्वच्छता का प्रायः अभाव है। मौलिकता के नाम पर जो चीजें उन्होंने प्रस्तुत की उनमें से अधिकांश तर्कसंगत नहीं हैं। उनकी मौलिकता वास्तव में विषय-विस्तार बढ़ाने तथा वर्ग बाँधने तक ही सीमित रही है। उन्हें इस क्षेत्र में ऐसी कोई विशेष सफलता नहीं मिली कि भारतीय साहित्यशास्त्र पर किसी भी प्रकार उनका ऋण स्वीकार किया जाय। वस्तुतः हिन्दी रीतिकारों के सामने यह कठिनाई थी कि उनके समय तक संस्कृत में साहित्यशास्त्र का इतना मन्थन हो चुका था कि मौलिकता के लिए कोई विशेष गुंजाइश बची ही नहीं थी। स्वयं संस्कृत में भी अभिनवगुप्त, कुन्तक और महिमभट्ट के उपरान्त

प्रायः मौलिक प्रतिपादन समाप्त हो चुका था। जहाँ तक विषय-विवेचन की गम्भीरता की बात है, वह इनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। वस्तुतः पूरे रीतिकाल में शायद ही कोई ऐसा आचार्य हो जिसमें ये तीनों गुण उचित मात्रा में मौजूद हों। अन्त में हिन्दी अलंकारसाहित्य के लेखक डॉ. ओमप्रकाश के शब्दों में– ''यदि आचार्य के रूप में देव को देखा जाय तो निराशा ही होती है, न उनके लक्षण स्पष्ट हैं और न उदाहरण उपयुक्त। लक्षणों में जितनी आशा रीतिकाल के दूसरे आचार्यों से थी, उतनी देव से नहीं की जा सकती।... सामान्य दृष्टिपात से देव प्रतिभाशाली मालूम पड़ते हैं, पर गम्भीरता की कसौटी पर चमककर वे आचार्य के पद को प्रत्याशित सफलता से प्राप्त नहीं कर पाते।''[22]

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि केशव से लेकर भिखारीदास तक लगभग एक दर्जन से अधिक सर्वांग निरूपक आचार्यों का भारतीय साहित्यशास्त्र के विकास में क्या योगदान है? मेरी विनम्र सम्मति में यदि उनके योगदान को आकलित किया जाय तो उनका एकमात्र योगदान है– हिन्दी भाषा में संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा की सरस रूप में अवतारणा। उनका महत्त्व इसी तथ्य में निहित है कि उन्होंने रीतिकालीन हिन्दी काव्यशास्त्र को प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र से जोड़ दिया है। भारतीय भाषाओं में केवल हिन्दी और मराठी ही ऐसी सौभाग्यवती भाषाएँ हैं जिनका सम्बन्ध सूत्र संस्कृत आलोचना से टूट नहीं सका है।

सन्दर्भ

1. शब्दरसायन, षष्ठ प्रकाश का अन्त।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास (अठारहवां संस्करण), पृ. 184.
3. हिन्दी साहित्यय का अतीत (भाग-2), पृ. 538-39.
4. शब्दरसायन, षष्ठ प्रकाश।
5. वही, षष्ठ प्रकाश का आरम्भिक अंश।
6. वही, प्रथम प्रकाश।
7. वही, द्वितीय प्रकाश।
8. द्रष्टव्य- ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ. 389.
9. भवानीविलास, 1/10.
10. वही, 8/23,24.
11. वही, तृतीय विलास, पृ. 65.
12. रसतरंगिणी, तरंग 6 द्वितीय।
13. भवानीविलास, पृ. 21.
14. रसतरंगिणी, प्रथम तरंग
15. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 184.
16. शब्दरसायन, चतुर्थ प्रकाश, पृ. 38.
17. भवानीविलास।
18. शब्दरसायन, पञ्चम प्रकाश, पृ. 50.
19. देव और उनकी कविता, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 147.
20. शब्दरसायन, सप्तम प्रकाश, पृ. 73.
21. शब्दरसायन।
22. हिन्दी अलंकार साहित्य, डॉ. ओमप्रकाश, पृ. 138.

साहित्य का कलात्मक सौन्दर्यबोध

*डॉ. स्कन्ध जी पाठक**

सर्वप्रथम यह प्रश्न विचारणीय है कि सौन्दर्य क्या है और उसके तत्व कौन-कौन से हैं? यहाँ प्रारम्भ में ही यह बता देना आवश्यक है कि सौन्दर्य दो प्रकार का होता है– नैसर्गिक सौन्दर्य और अनुकृत अथवा कलात्मक सौन्दर्य। प्रकृति द्वारा निर्मित वस्तुओं, जैसे– फूल, चाँदनी, तारक-मण्डल, इन्द्रधनुष, मेघमाला आदि में तथा जीवधारी मानव, पशु आदि के शारीरिक रूपाकार में जो सौन्दर्य होता है, यह प्रकृति-प्रदत्त है, किन्तु मानव अथवा पशु-पक्षियों द्वारा निर्मित वस्तुओं में जो सौन्दर्य होता है, वह बहुत कुछ प्राकृतिक वस्तुओं के सौन्दर्य का अनुकरण अथवा उन्हीं के आधार पर कल्पना द्वारा नव-निर्मित सौन्दर्य होता है। इसी को कलात्मक सौन्दर्य कहा जाता है। जिस कलाकृति में प्राकृतिक वस्तुओं का सीधा अनुकरण मात्र होता है, उसे अनुकरण सौन्दर्य और जिसमें कलाकार की कल्पना का योग होता है उसे कलात्मक सौन्दर्य कहा जाता है। कलाकार का व्यक्तित्व दोहरा होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन करके वह सौन्दर्यानंद की अनुभूति करता है। यह उसका भोक्ता रूप होता है, किन्तु वह अपनी कलाकृति में सौन्दर्य की सृष्टि भी करता है, यह उसका स्रष्टा या रचयिता रूप होता है किन्तु सामान्य व्यक्ति जिनमें कलासृजन की प्रतिभा नहीं होती, प्राकृतिक सौन्दर्य और कलात्मक सौन्दर्य दोनों का समान रूप से आस्वादन करते हैं। प्राकृतिक वस्तुओं में भी द्रव्यगत, रूपगत और प्रभावगत सौन्दर्य होता है और सहृदय एवं भावुक व्यक्ति बहुधा कलात्मक सौन्दर्य से भी अधिक प्राकृतिक सौन्दर्य से आनन्द की प्राप्ति करते हैं। सौन्दर्य चाहे वह प्राकृतिक हो या कलात्मक सर्वप्रथम भोक्ता या ग्रहीता की इन्द्रियों को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट करता है फिर उसके हृदय को प्रभावित करके उसमें रसोद्रेक करता है। यही रस आनन्द का जनक है। इस तरह सौन्दर्य किसी नैसर्गिक अथवा कृत्रिम या कलात्मक वस्तु का वह गुण है जो बिना किसी उपयोगिता के भी मनुष्य की इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करके उसके हृदय को प्रभावित करता और एक सूक्ष्म आनन्द की सृष्टि करता है।

कला का स्वरूप

विभिन्न विधाओं और कला के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि अन्य विधाएँ बौद्धिक चेतना का परिणाम होती हैं। जबकि कला सौन्दर्य बोधीय चेतना का परिणाम है। मानव की सर्जनात्मक अथवा रचनात्मक क्रियाएँ मूल प्रवृत्तियों से उद्भूत होती हैं, किन्तु अन्य विधाएँ मनुष्य की विवेचनात्मक क्रियाओं के अन्तर्गत आती हैं, जो विवेक, शक्ति और बुद्धि का परिणाम होती हैं, क्योंकि कलात्मक अभिव्यक्ति भी जगत् के बीच मानव के जीवनानुभवों के आधार पर ही होती है। फिर भी कलात्मक अभिव्यक्ति और कलात्मक अनुभव की प्रक्रिया व्यावहारिक जीवन की अभिव्यक्तियों और अनुभवों की प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती है। कलात्मक सर्जना और कलाकृति द्वारा उत्पन्न अनुभूति में जीवन की बाह्य सक्रियता समाप्त हो जाती है। अर्थात् कलाकार जिस समय रचना करता अथवा कला-प्रेमी जितने समय तक कलात्मक सौन्दर्य का आस्वादन करता है, उस समय अथवा उतने समय तक उसके शारीरिक अवयवों में सक्रियता नहीं होती है अर्थात् एकाग्रता और तल्लीनता के कारण उसके व्यावहारिक जीवन का प्रवाह रूक गया रहता है। वह अपने अन्तः चक्षु अथवा कल्पना-दृष्टि से वस्तुओं को देखता और उसका प्रत्यक्षीकरण करके उनकी अनुभूति करता है। फलतः वह बाह्य जगत् के प्रति निःसंग या अनासक्त रहता है। इसी कारण उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति अथवा सौंदर्य बोधात्मक अनुभूति भी व्यावहारिक जीवन की क्रियाओं एवं अभिव्यक्तियों की तरह आसक्तियुक्त नहीं होती है। दूसरे शब्दों में कलाकार की दृष्टि वैयक्तिक कामनाओं और वासनाओं से धूमिल नहीं होने पाती, जिससे वह अपनी अंतर्दृष्टि द्वारा वस्तुओं को अधिक पूर्णता, सूक्ष्मता, और स्पष्टता से देखता तथा उन्हीं के आधार पर उनकी ओर से सुसंस्कृत, परिष्कृत और परिवर्तित करके कलाकृति के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया द्वारा उसे सर्जनात्मक आनन्द की प्राप्ति होती है। ठीक इसी तरह कलाकृति का रसज्ञ भी अपनी अन्तर्दृष्टि से ही सूक्ष्म भावात्मक स्तर पर कलात्मक आनन्द की उपलब्धि करता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कला और सौन्दर्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कला वह तत्व है, जो किसी मानवीय रचना में सौन्दर्य की सृष्टि करके मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करता और उसके हृदय को प्रभावित करके उसमें आनन्द उत्पन्न करता है। इस तरह कला सौन्दर्य से अविच्छिन्न है। किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य और कलात्मक सौन्दर्य में एक विशेष प्रकार का अन्तर है। प्राकृतिक सौन्दर्य के गुणों को परिभाषित, विश्लेषित और वर्गीकृत करना असम्भव है किन्तु कलात्मक सौन्दर्य के अवयवों, गुणों और साधनों को विश्लेषित और परिभाषित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ– सभी ललित कलाओं में अलग-अलग शास्त्र हैं, जिनमें उनके स्वरूप और अवयवों का विश्लेषण तथा रचना सम्बन्धी नियमों का निर्धारण किया गया है। इस तरह कलात्मक सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से विशिष्ट होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य कलात्मक सौन्दर्य का

*पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्रोत भी बन सकता है किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य को किसी मानवीय कलाकृति के अनुकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

काव्य भी अन्य ललित कलाओं की तरह सौन्दर्योपजीवी और सौन्दर्य की सृष्टि करने वाली कला है, जिसकी प्रभावात्मक परिणति आनन्द के रूप में होती है। कवि रचना के क्षणों में वस्तु-जगत् से सौन्दर्य के उपकरणों का चयन करता है और उनका समुचित संयोजन करके अवयवगत औचित्य का ध्यान रखते हुए काव्य की रचना करता है। इस सौन्दर्य के दो रूप होते हैं– (1) कवि द्वारा वर्णित सौन्दर्य (2) कवि की कृतियों का शिल्पगत या कलात्मक सौन्दर्य। इन दोनों को ही सौन्दर्याभिव्यक्ति कहा जाता है।

कवि द्वारा वर्णित सौन्दर्य

काव्य में कवि सौन्दर्य का जो स्वरूप शब्दों के माध्यम से चित्रित करता है, वह तीन प्रकार का होता है। (1) रूपगत सौन्दर्य, (2) भावगत सौन्दर्य (3) क्रियागत सौन्दर्य। ये सौन्दर्य के तीन स्तर हैं, जिनका सम्बन्ध मानव की तीन शक्तियों-ज्ञान, इच्छा और क्रिया से संबंधित है। किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है। वस्तु का बाह्य रूप मुख्यतः चाक्षुष इन्द्रिय का विषय है, किन्तु अन्य इन्द्रियों के विषयों का भी योग रूप के साथ होता है, इन सबको दृश्य ही कहा जाता है। बाह्य जगत के ये दृश्य संश्लिष्ट होते हैं। किसी दृश्य चित्रण में पूर्णता तभी आती है, जब वर्ण्य वस्तु के बाह्य रूपाकार उससे सम्बन्धित शब्द या ध्वनि, स्पर्श, स्वाद आदि का भी यथोचित चित्रण किया जाता है। कवि जिस वस्तु के रूप का चित्रण करता है, उसके वातावरण को भी प्रस्तुत करता है। तभी वह चित्र पूर्ण होता है। इस सम्बध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है– 'यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि वस्तुओं की गिनती गिनाना ही वस्तु विन्यास नहीं है। आस-पास की और वस्तुओं के बीच उनकी प्रकृत स्थापना से दृश्य के एक पूर्ण सुसंगत रूप की योजना होती है। 'बौर लगे हैं, और समीर चलती है, कोयल बोलती है' इस प्रकार कहना केवल वस्तुओं और व्यापारों की गिनती गिनाना है, रीति ग्रन्थों में प्रत्येक ऋतु में वर्ण्य वस्तुओं की सूची देखकर वह तो हर एक कह सकता है। यह चित्रण नहीं है। इन्हीं वस्तुओं और व्यापारों को लेकर यदि हम इस प्रकार योजना करें– वह देखो, बौरों से गुत्थी, मंद मंद झूमती हुई आम की डाली पर, हरी-हरी पत्तियों के बीच अपने कृष्ण कलेवर को पूर्ण रूप से न छिपा सकती हुई कोयल बता रही है 'तो यह दृश्य अंकित करने का प्रयत्न कहा जायेगा। किसी वस्तु का वर्णन जितनी ही अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध को लिये हुए होगा उतना ही वह पेचीला होगा और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा।'[1]

इसी दृश्य-चित्रण या रूप-वर्णन को काव्य में बिम्ब-विधान भी कहा जाता है। वस्तु के रूप को यथावत् चित्रित कर देना अनुकरण मात्र है जैसा फोटोग्राफी में होता है। इसे अनुकृत बिम्ब कहा जाता है। कवि की कल्पना तीन प्रकार की होती है– स्थूल कल्पना, सूक्ष्म कल्पना और प्रातिभ कल्पना अथवा अन्तर्दृष्टि। कल्पना का कार्य रूप निर्माण करना है। जिस कवि की कल्पना स्थूल अथवा सतही होती है, वह वस्तु के बाह्य रूप को यथावत् चित्रित करता है, किन्तु जिसकी कल्पना सूक्ष्म होती है। वह वस्तु में अन्तर्निहित सौन्दर्य को भी व्यक्त करता तथा अपनी ओर से देखे हुए वस्तु के दिखाई पड़ने वाले बाह्य रूप में संशोधन और परिवर्तन करके उसे अभिनव और परिष्कृत अथवा विकृत रूप में प्रस्तुत करता है। चित्रकार और कवि फोटोग्राफर की तरह वस्तु के रूप को यथावत नहीं प्रस्तुत करते, बल्कि अपनी अवधारणा के अनुरूप सूक्ष्म कल्पना की सहायता से अपने उद्देश्य के अनुरूप बना लेते हैं। अन्तर्दृष्टि-मूलक अथवा प्रातिभ कल्पना वह होती है जो बाह्य जगत की वस्तु अथवा द्रव्य का केवल सहारा लेती है। वह सर्वथा नवीन और वैचित्र्यपूर्ण रूपों का चित्रण करती है, जो सामान्य अनुभव के क्षेत्र के बाहर के होते हैं।

रूप-सौन्दर्य केवल मानवीय रूप तक ही सीमित नहीं है। समस्त व्यक्त सृष्टि ही नाम रूपात्मक है। अतः रूप-चित्रण के अन्तर्गत सृष्टि के किसी भी अंश अथवा इकाई के रूप को ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार मुख्यतः रूप के दो भेद हो जाते हैं– (1) मानव रूप और (2) प्रकृति रूप। काव्य में इन दोनों रूपों का चित्रण यथास्थान हुआ करता है। कवि जब नायक-नायिका अथवा प्रतिनायक का वर्णन करता है तो वह उसके मानवीय रूप सौन्दर्य को अपनी कल्पना द्वारा प्रस्तुत करता है, किन्तु मानव शून्य में नहीं रहता, वह इस जगत के ही किसी विशेष भूखण्ड और वातावरण का अंग होता है। अतः मानव के साथ प्रकृति का चित्र भी काव्य में आवश्यक होता है। यह प्रकृति या तो मानव का उद्दीपन करती है अथवा उसकी पृष्ठभूमि के रूप में होती है। प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण कवियों द्वारा उपमानों तथा प्रतीकों के रूप में हुआ करता है। इतना ही नहीं कवि स्वयं प्रकृति के रूप-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है। ऐसे स्थलों पर कवि स्वयं आश्रय होता है और प्रकृति आलम्बन होती है। प्रकृति के रूप-चित्रण के चार मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं[2]– (1) आलम्बन के रूप में, (2) उद्दीपन तथा पृष्ठभूमि के रूप में, (3) अलंकार के रूप में (4) प्रतीक और संकेत के रूप में।

प्राचीन भारतीय कवियों ने प्रकृति का रूप-चित्र विशेष रूप से उद्दीपन और अलंकार के रूप में ही प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि और कालिदास ने अवश्य आलम्बन-रूप में भी यत्र-तत्र प्रकृति का दृश्य-चित्र प्रस्तुत किया है। काव्य में रूप-चित्रण के सम्बन्ध में उतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विभिन्न युगों की सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। कभी यह दृष्टि मानव के रूप पर टिकती है तो कभी प्रकृति के रूप पर। कभी मानव के स्थूल रूप का चित्रण

प्रधान रूप से होता है तो कभी उसके आन्तरिक सौन्दर्य का। कभी प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति प्रधान होता है तो कभी आलम्बन और पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करने की और कवियों का झुकाव अधिक होता है।

भाव-सौन्दर्य का चित्रण– जैसा पहले कहा जा चुका है सूक्ष्म कल्पना के कवि केवल वर्ण्य वस्तु के बाह्य रूपाकार को ही सौन्दर्य का अन्तिम रूप नहीं मानते। वे उसके आन्तरिक सौन्दर्य की खोज करते और उसे कल्पना द्वारा विवृत करके वर्णित करते हैं। आन्तरिक सौन्दर्य वस्तुतः भाव और गुण-सौन्दर्य है। किसी व्यक्ति के बाह्य रूप से आकृष्ट होकर उसके प्रति अनुरक्त होना परिणाम की दृष्टि से प्रायः सुखद नहीं होता। व्यक्ति का बाहरी रूप उसके आन्तरिक भावों को नहीं प्रदर्शित करता और केवल उसी पर रीझने वाले धोखा खाया करते हैं। इसलिए बाह्य रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व आन्तरिक भावनाओं का है। इन भावनाओं के स्वरूप के अनुसार ही चरित्र का निर्माण होता है। भारतीय संस्कृति में चरित्र के जिन गुणों की मान्यता दी गयी है, उनका अनुसरण करने वाले व्यक्तियों का चरित्र अथवा शील सुन्दर और अनुकरणीय माना जाता है। ऐसे सच्चरित्र (सुशील) और विनम्र स्वभाव वाले व्यक्ति को भाव अथवा गुण-सौन्दर्य से युक्त माना जाता है। जिस व्यक्ति में केवल रूप-सौन्दर्य हो और गुण-सौन्दर्य न हो, उसे वास्तविक रूप से सुन्दर नहीं कहा जा सकता। मानव ही नहीं, प्रकृति में भी ऐसे जीव तथा पदार्थ होते हैं जो ऊपर से देखने में सुन्दर, किन्तु आन्तरिक रूप से हानिकारक अथवा हिंसक हुआ करते हैं। दीपशिखा सुन्दर होते हुए भी जलाने वाली होती है और बगुला सुन्दर होते हुए भी हिंसक होता है। अतः केवल रूप सौन्दर्यजन्य आकर्षण तभी तक रहता है जबतक आन्तरिक गुण-दोषों का पता नहीं चल जाता। आकर्षण का स्थायित्व भाव-सौन्दर्य के कारण ही आता है।

भाव-सौन्दर्य के दो पक्ष होते हैं– (1) भावना से सम्बन्धित, (2) विचार एवं शील से सम्बन्धित। जिस व्यक्ति में प्रेम, करुणा, उत्साह आदि सुन्दर भावों का आधिक्य होता है, वे भाव-प्रवण अथवा भावुक व्यक्ति कहलाते हैं। जिन व्यक्तियों में विनम्रता औदात्य के साथ अहिंसा, शुचिता, इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह आदि के गुण होते हैं, उन्हें शीलवान अथवा चरित्रवान व्यक्ति कहा जाता है। सामान्य रूप से इन दोनों प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति के चरित्र को प्रशंसनीय और अनुकरणीय माना जाता है। किसी व्यक्ति के मानवीय सौन्दर्य को तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता, जब तक उसमें इन आन्तरिक भावों और गुणों का समावेश न हो। इस तरह रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य में भाव-सौन्दर्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

कर्म-सौन्दर्य का चित्रण– रूप और गुण का जब तक क्रियान्वयन नहीं होता तब तक वे विचार मात्र होते हैं। उनकी सार्थकता कार्य रूप में परिणत होने में ही है। किसी व्यक्ति का शील और चरित्र केवल उसके विचारों से ही नहीं, मुख्यतः उसके कार्यों से ही प्रकट होता है। इसीलिए सौन्दर्य की अन्तिम परिणति कर्म में ही होती है। रूप की रमणीयता और विचारों तथा भावों की उत्कृष्टता का निकष ऋषि-कर्म है। अतः मानवीय सौन्दर्य को कर्म के आधार पर ही परखना उचित है। यदि कोई व्यक्ति बाह्य रूपाकार में अत्यन्त सुन्दर है, किन्तु उसके कर्म गर्हित और निन्द्य हैं तो उसे सुन्दर नहीं कहा जा सकता। इस तरह परोपकार, दीन-दुखियों की सेवा, परिवार और समाज के प्रति कर्तव्यपालन, इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध, अहिंसा, सत्यभाषण आदि कार्य चरित्र को उदात्त बनाते हैं। इन्हीं को कर्म-सौन्दर्य कहा जाता है। कर्म-सौन्दर्य के अनेक स्तर होते हैं, जैसे– स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का सौन्दर्य पारिवारिक सम्बन्धों में, औचित्यपूर्ण और भावात्मक क्रियाओं का सौन्दर्य, सामाजिक कार्यों से सम्बन्धित क्रिया सौन्दर्य, देश सेवा और राष्ट्र रक्षा से संबंधित कर्म सौन्दर्य, धर्म और साधना से सम्बन्धित क्रिया सौन्दर्य, अद्‌भुत और अलौकिक कार्यों से सम्बन्धित सौन्दर्य, वाणी एवं कला से सम्बन्धित क्रिया-सौन्दर्य आदि। इन सभी स्तरों पर व्यक्ति अपने कार्यों के कारण आकर्षण का केन्द्र बन जाता है और लोग उसे प्रेम अथवा श्रद्धा करने लगते हैं। काव्य में सौन्दर्य के इन तीनों का समानुपातिक चित्रण होने से ही काव्यगत उत्कर्ष उत्पन्न होता है।

काव्य में कलात्मकता के विविध आयाम

अन्य ललित कलाओं के समान काव्य भी एक नवीन सर्जना है। जहाँ भी नयी सर्जना होती है वहाँ कला की आवश्यकता पड़ती है। यह समस्त सृष्टि विधाता की कला का परिणाम है। उसी तरह काव्य भी कवि की कल्पना का परिणाम है। काव्य का क्षेत्र संसार के समान ही असीम है। इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने लिखा है कि 'इस अपार काव्य संसार में कवि ही एक मात्र प्रजापति है। वह इस भौतिक जगत को यथावत चित्रित न करके उसमें अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन करके उसका चित्रण करता है। उदाहरण के लिये शृंगार रस का कवि अपने काव्य में इस जगत को रसमय में चित्रित करता है, किन्तु शान्त रस का कवि समस्त जगत को नीरस बताता है, कवि चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन रूप में चित्रित कर सकता है। उसे पूर्ण स्वतंत्रता है कि अपने काव्य की सर्जना चाहे जिस रूप में करे।'[3] कवि का यह समस्त रचना कार्य कवि-कर्म कहलाता है। इसी का ही दूसरा नाम काव्य कला है, इसी काव्य कला द्वारा काव्य में आन्तरिक और बाह्य (आत्मगत और शरीरगत) सौन्दर्य की सृष्टि होती है। जिस तरह जीवित व्यक्ति आत्मा और शरीर का संयुक्त रूप है उसी तरह काव्य में भी आत्मा और शरीर का संश्लेषण (संयोग) होता है। जिस तरह मृत व्यक्ति के अत्यन्त सुन्दर और अलंकृत शरीर का कोई महत्व नहीं होता, उसी तरह काव्य के बाह्य रूप-शिल्प के होते हुए भी, यदि उसमें काव्य की आत्मा नहीं

है तो उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। काव्य-पुरुष में आत्मा और शरीर दोनों की प्रतिष्ठा अथवा सर्जना करना कवि का ही कार्य है। वह अपनी विशिष्ट प्रतिभा द्वारा ऐसे काव्यकृति की रचना करता है, जिसमें ये दोनों पक्ष युगपत वर्तमान रहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य की आत्मा क्या है और उसका शरीर क्या है? भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अत्यधिक विचार-मंथन किया है। भारतीय काव्यशास्त्र के छः सम्प्रदाय हैं– अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय, रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय।

अलंकारवादी अलंकार को, रीतिवादी रीति को, वक्रोक्तिवादी वक्रोक्ति को, रसवादी रस को, ध्वनिवादी ध्वनि को और औचित्यवादी औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करते हैं। वे काव्य या काव्यत्व के मुख्य साधन को ही काव्य की आत्मा कहते हैं। उदाहरण के लिए भामह का कथन है कि काव्य का मुख्य कारण अलंकार है, क्योंकि अलंकार ही सौंदर्य है।[4] वामन की मान्यता है कि रीति ही काव्य की आत्मा है अर्थात् रीति के कारण काव्यत्व की सृष्टि होती है।[5] कुन्तक स्पष्ट शब्दों में वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हैं।[6] इसी तरह रसवादी विश्वनाथ कविराज का कथन है कि जिस कथन या वाक्य की आत्मा रस हो वही काव्य है।[7] ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं[8] और औचित्यवादी क्षेमेन्द्र का कथन है–

'अलंकारास्तवलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्।।'[9]

ये सभी सम्प्रदाय कम से कम एक बात में सहमत हैं, वह यह कि काव्य की भी कोई आत्मा होती है। उनका पारस्परिक मतभेद केवल इस बात में है कि काव्य की आत्मा क्या है, इस बात में नहीं कि काव्य की आत्मा है या नहीं। इस विवाद का निर्णय इस तरह भी हो सकता है कि पहले यह पता लगा लिया जाय कि काव्य का शरीर क्या है। सामान्य बुद्धि से भी यह उत्तर दिया जा सकता है कि जो दिखाई पड़ता है वह शरीर है और जो नहीं दिखाई पड़ता, केवल अनुभूति अथवा अनुभव की वस्तु है, वह आत्मा है। काव्य में जो आँख, कान तथा बुद्धि से बोधगम्य है, वह उसकी भाषागत अभिव्यंजना अलंकार-योजना और छन्दयोजना है। इन्हीं तत्वों को काव्य का शरीर कहा जा सकता है। काव्य का जो तत्व केवल अनुभवगम्य है, वह उसकी रसात्मकता और अर्थगत सौन्दर्य है। इसी को काव्य की आत्मा कहा जा सकता है। अतः काव्य के कलात्मक सौन्दर्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है– (1) काव्यात्मा सम्बन्धी सौन्दर्य और (2) काव्यशरीर संबंधी सौन्दर्य। काव्यात्मा सम्बन्धी सौन्दर्य के अन्तर्गत रस और ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को और काव्य-शरीर सम्बन्धी सौन्दर्य के अन्तर्गत अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को ग्रहण किया जा सकता है। काव्यात्मा सम्बन्धी सौन्दर्य में भाव, रस एवं ध्वन्यार्थ को और काव्य-शरीर के अन्तर्गत अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, शब्द-शक्ति, छन्द-योजना, चरित्रगत प्रबन्ध-कौशल और वस्तु-वर्णनगत औचित्य आदि को कला सम्बन्धी साधन माना जा सकता है। प्रथम वर्ग के साधनों को सूक्ष्म कला और द्वितीय वर्ग के साधनों को स्थूल कला की संज्ञा दी जाती है। सूक्ष्म कला आन्तरिक सौन्दर्य की सृष्टि करती है और स्थूल कला बाह्य की। स्थूल कला को ही काव्य का शिल्प कहा जाता है। काव्य-संसार का प्रजापति कवि इन दोनों कलाओं का अधिष्ठाता होता है और इन दोनों से ही काव्य में सौन्दर्य-जन्य रस-संचार होता है, जिससे आनन्द की उपलब्धि होती है।

आन्तरिक सौन्दर्य सम्बन्धी कलात्मकता

इसके अन्तर्गत रस और ध्वनि को लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में रस के अवयवों की योजना तथा ध्वन्यार्थ की प्रकृति, अभिव्यंजना के सम्बन्ध में विचार कर लेना समीचीन होगा।

भावरस योजना– काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य उसमें निहित भाव-सम्पदा पर निर्भर करता है। काव्य की आत्मा के उपजीव्य भाव ही हैं, जो मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। मनुष्य की इच्छा-शक्ति का समस्त व्यापार ही भावगत व्यापार है। इन्हीं भावों में से प्रमुख भावों की परिणति नौ रसों के रूप में मानी गयी है। ये नौ भाव और तज्जन्य रस निम्नलिखित हैं–

भाव	रस
रति	शृंगार
उत्साह	वीर
हास	हास्य
आश्चर्य	अद्‌भुत
शोक	करुण
भय	भयानक
जुगुप्सा	वीभत्स
क्रोध	रौद्र
निर्वेद	शान्त

इनमें से सभी नौ भाव स्थायीभाव कहलाते हैं। अस्थायी अथवा अल्पकालिक भावों को संचारी भाव कहा गया है। जिनकी संख्या 33 मानी गयी है। ये सभी भाव मनुष्य के मन में सहज रूप से वर्तमान

रहते हैं और समय-समय पर परिस्थितियों के अनुरूप इनकी अभिव्यक्ति होती रहती हैं, जिन कारणों से यह भाव जागृत होते हैं, उन्हें विभाव कहा जाता है। जिस प्रधान कारण से प्रसुप्त भाव जागृत होता है, उसे आलम्बन विभाव और जिन प्रासंगिक कारणों से स्थायी भावों को उत्तेजना मिलती है, उन्हें उद्दीपन विभाव कहा जाता है। भावों के जागृत होने पर शरीर के विभिन्न अंगों पर जो प्रतिक्रियाजन्य विचार उत्पन्न होता है उसे अनुभव कहा जाता है इन चारों के योग से जिस नवीन तत्व की उत्पत्ति होती है उसी का नाम रस है– 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पतिः।'[10] रस सिद्धान्त के अनुसार लौकिक व्यापारों में भाव सृष्टि तो होती है, किन्तु भावों के आश्रय अथवा भावयिता के भीतर रसोद्रेक नहीं होता। भले ही इसके भीतर अनुभाव और संचार भावों का संयोग घटित हो जाय। रसोद्रेक केवल काव्य और कला के क्षेत्र में होता है। व्यावहारिक जगत में व्यक्ति भावोद्रेक होने पर अपनी वैयक्तिक सत्ता से लिप्त रहता है। इस कारण अनुकूल वेदना वाले भावों-रति, हास, आश्चर्य और उत्साह में उसे आनन्द की और प्रतिकूल वेदना वाले-शोक, भय, जुगुप्सा और क्रोध भावों में उसको दुख की अनुभूति होती है। इन्हीं दोनों प्रकार के भावों की अनुभूति की दशा में भावयिता अपने 'स्व' से युक्त नहीं हो पाता अर्थात् उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं हो पाता। साधारणीकरण की स्थिति में ही रसोद्रेक होता है, अन्य किसी भी स्थिति में नहीं। काव्य में स्थायी भाव, विभाव, संचारी भाव और अनुभाव के संयोग की स्थिति में श्रोता, पाठक और रंगदर्शक का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जिससे आश्रय के स्थायी भाव रसग्रहीता के स्थायी भाव बन जाते हैं और उसके आलम्बन का साधारणीकरण हो जाता है। इस स्थिति में वह अपने स्व से मुक्त हो जाता है, जिससे लौकिक जीवन के समस्त द्वन्द्वात्मक अथवा सुख-दुखात्मक अन्तर्विरोध कुछ समय के लिये उसके भीतर से पूर्णतः तिरोहित हो जाते हैं। इसी का नाम रसदशा है, जिसे सद्यः परिनिवृत्ति अथवा तत्काल मुक्ति कहा गया है। इसी मुक्त दशा को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है।

काव्य में रसात्मकता उत्पन्न करना कवि की मौलिक प्रतिभा का काम है। स्थूल काव्य-कौशल से छन्द-रचना, अलंकार-योजना आदि तो सम्भव है, किन्तु रसयोजना शरीर में आत्मा की प्रतिष्ठा करने के समान है। जो कवि सचमुच प्रजापति जैसा सर्जक होता है, वही अनजाने में ही अपने भावलोक की रसधारा को अपने काव्य में उड़ेल देता है। सामान्यतया श्रृंगार, वीर आदि रसों के अवयवों की जानकारी करके कोई भी कवि इस फार्मूले को अपनाकर विभावादि का संयोजन कर सकता है और फिर यह दावा कर सकता है कि उसने रसात्मक काव्य की रचना कर दी है, किन्तु रस-सिद्ध काव्य की रचना इतना आसान नहीं है और न चेष्टा तथा प्रयास से रस की सृष्टि हो सकती है। मर्मी कवि ही सहज रूप से भाव विभावादि की ऐसी योजना करते हैं, जिससे रस निष्पत्ति हो सकती है। निष्कर्ष यह कि रसात्मक काव्य की रचना कवि की स्थूल कला द्वारा नहीं होती है, वह उसकी सूक्ष्म और आन्तरिक कलात्मक प्रतिभा के कारण ही सम्भव होता है।

ध्वन्यार्थ योजना– ध्वन्यार्थ योजना भी कवि के आन्तरिक काव्य शिल्प का परिणाम है। इसके समान ही ध्वन्यार्थ भी सूक्ष्म तत्व है। स्थूल काव्य-कौशल से अलंकार, छन्द और वक्रता की योजना तो सम्भव है, किन्तु ध्वन्यार्थ की अभिव्यक्ति बाह्यकलात्मक साधनों से सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि काव्य की आत्मा सौन्दर्य को किसी भी सीधी पद्धति द्वारा नहीं प्रकाशित किया जा सकता। काव्य का वह सूक्ष्मातत्व जिसे सौन्दर्य कहा जाता है, ध्वनिवादियों की दृष्टि में इन्द्रियातीत और अनिर्वचनीय है, जिसकी अनुभूति तो हो सकती है, किन्तु सीधे ढंग से अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए उसकी अभिव्यंजना लक्षणा और व्यंजना-पद्धति द्वारा होती है। इस पद्धति से सौन्दर्यानुभूति का रसज्ञ के हृदय में स्वतः स्फोट होता है। वह बाहर से सम्प्रेषित नहीं होती, बल्कि ग्रहीता के हृदय के भीतर से अकस्मात् स्पन्दित होकर उद्भुत होती है। इसलिये ध्वनि सिद्धान्त को 'स्पन्दशास्त्र' तथा 'स्फोटशास्त्र' कहा जाता है। ध्वनि की इस सूक्ष्म और आन्तरिक कला द्वारा जिस अर्थ की प्रतिष्ठा होती है वही काव्य का सौन्दर्य या लावण्य है। यह सौन्दर्य रमणी के रूप-लावण्य जैसा होता है, जो उसके आँख, नाक, मुख आदि प्रसिद्ध अवयवों में रहते हुए भी उससे भिन्न और अतिक्रान्त होता है। इस काव्य-सौन्दर्य के विषय में ध्वन्यालोककार ने लिखा है–

'प्रतीयमानं पुनरन्यच्चैव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभातिलावण्यमिवांग नासु।।'[11]

अर्थात् महाकवियों की वाणी का अर्थगत सौन्दर्य कुछ अन्य ही वस्तु है, जो वाच्यार्थ नहीं बल्कि प्रतीयमान अर्थ होता है अर्थात् केवल उसकी झलक मिलती है। उसका स्पष्ट रूप प्रकट नहीं होता। जिस तरह सुन्दर स्त्री का सौन्दर्य उसके अधर, कपोल, आँख, नाक आदि अवयवों में रहता हुआ भी उनसे भिन्न कुछ और ही वस्तु है, उसी तरह काव्य का सौन्दर्य उसके बाह्य शरीर के शब्द, अलंकार, छंद, रीति आदि अवयवों के भीतर होते हुए भी कुछ और ही तत्व होता है। 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने काव्य के इस सूक्ष्म अर्थगत सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली शक्ति को ही ध्वनि कहा है, जिसमें शब्द और उसके अर्थ को गौण करके उस अतिक्रमित अथवा प्रतीतिजन्य अर्थ को व्यक्त करते हैं।[12] आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अनेक भेद बताये हैं, जो कवियों के लिये नहीं, बल्कि काव्य के समीक्षकों के लिए

माननीय और ध्यातव्य है। प्रातिभ कवि अनजाने ही काव्य की आत्मा को ध्वनि के माध्यम से व्यक्त करता है, वह ध्वनि के भेदों के जाल में नहीं उलझता। इस तरह ध्वन्यार्थ भी रस की तरह काव्य की आत्मा है और उसको अभिव्यक्त करने वाली शक्ति अथवा कला का नाम ध्वनि है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. रामचन्द्र शुक्ल- रसमीमांसा, पृ. 107-108.
2. डॉ. शम्भुनाथ सिंह- छायावाद युग, पृ. 93.
3. ध्वन्यालोक 3, कारिका 43.
4. सौन्दर्यमलंकारः, काव्यालंकार सूत्राणि, 1.1.2.
5. रीतिरात्मा काव्यस्य, वही, 1.2.6.
6. मार्गस्थ वक्रशब्दार्थ गुणालंकार सम्पदः।
   अन्यद् वाक्यस्य वक्रत्वं तथानिहित जीवितम्।।
   -वक्रोक्तिजीवित,3.2.
7. वाक्यं रसात्मकम् काव्यं, साहित्यदर्पण, 1.3.
8. काव्यस्यात्मा ध्वनिरीति बुधैयः समाम्नातपूर्व, -ध्वन्यालोक 1.1.
9. औचित्यविचारचर्चा, 1.5.
10. नाट्यशास्त्र, 6.34.
11. ध्वन्यालोक, 1.4.
12. यत्रार्थः शब्दो वातमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
    व्यंकतः काव्यविशेषः सः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।
    -ध्वन्यालोक, 1.13.

भूमण्डलीकरण के दौर की समस्याओं के संदर्भ में 'रामचरितमानस' की प्रासंगिकता

शिव कुमार मिश्र एवं प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय***

भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण ये दोनों शब्द वर्तमान सदी की एक महत्त्वपूर्ण पहचान बन चुके हैं। भूमण्डलीकरण एक ऐसा रोमांटिक शब्द है, जिसके विभिन्न अर्थ हैं। सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् विश्व भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित है। आज तक भूमण्डलीकरण की सर्वमान्य एवं सर्वग्राह्य परिभाषा नहीं दी जा सकी है। कुछ लोगों ने भूमण्डलीकरण एवं वैश्वीकरण को समान अर्थ में ग्रहण किया है तो कुछ विद्वान दोनों के अभिप्राय में सूक्ष्म अन्तर भी देखते हैं।

हमें वैश्वीकरण को केवल दुनिया को जोड़ने वाले एक नेटवर्क की तरह ही नहीं देखना चाहिए या केवल यही नहीं समझना चाहिए कि यह हमें एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक सूत्र में बाँधने वाली अवधारणा है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया यह सब तो करती ही है, पर इससे आगे वैश्वीकरण हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन को भी प्रभावित करती है। स्थानीय संस्कृति और बाजार को वैश्वीय संस्कृति और बाजार के प्रभाव का भय बराबर बना रहता है। ऐसा लगता है कि वैश्वीय संगीत कही हमारे स्थानीय संगीत भोजपुरी नाच, चैती, ठुमरी, कजरी आदि गाने, गुजराती गरबे और महाराष्ट्र के तमाशों को न गटक जाए। श्री अमित कुमार सिंह ने भूमण्डलीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया है– ''भूमण्डलीकरण के सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों की अभिव्यक्ति समूचे विश्व में हम दो रूपों में देख सकते हैं। विकसित व विकासशील दोनों ही देशों का एक बड़ा वर्ग उपभोक्तावाद के आकर्षण में भ्रमित है। भौतिकवाद की अंधी दौड़ में मनुष्य मात्र एक आर्थिक मनुष्य और अतृप्त उपभोक्ता मात्र बनकर रह गया है, जीवन में सार्थकता के प्रश्न पर सफलता की चकाचौंध हावी है। परिवार और समाज से धीरे-धीरे दूर जाते जड़ विहीन व्यक्ति की मानसिक बैचेनी का चिंताग्रस्त वैश्विक आलम यह है कि आज तनाव विश्व की तीसरी सबसे बड़ी बिमारी बनकर उभरी है।[1]

भारतीय राजनीति में नब्बे का दशक अत्यन्त महत्वपूर्ण था। भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में मंडल और मंदिर ने भारतीय राजनीति के समाजशास्त्र को प्रभावित किया। वैश्विक मार्केट ने समूचे भारतीय राजनीति को बौना बना दिया। अल्पमत कांग्रेस द्वारा वर्ष 1991 में आर्थिक सुधारों का नया दौर प्रारंभ हुआ, उस समय भारत के प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंह राव और वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह थे। श्री राजेश कुमार 'राकेश' भूमण्डलीकरण के स्वरूप को निम्न प्रकार से स्पष्ट करते हैं– ''दरअसल भूमंडलीकरण इस दुनिया में विश्ववाद का नारा ही इन लक्ष्यों से प्रेरित है, जो शेष विश्व को पूँजी अनुदान और ऋणों के बोझ तले आकंठ डुबोकर दिवालिया बनाने पर तुला है, और फिर समृद्धि को सामने दिखाकर अपने हितार्थ आर्थिक नीतियाँ भी स्वयं तय कराता है, उसी के लिए उदारीकरण और मुक्तिकरण जैसे शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं, ताकि यह निश्चित भ्रम बना रहे। इन पूँजी स्वामिओं के लिए यह स्टेटजी (व्यूह रचना) नई नहीं है, यह तो यूरोपीय आधुनिकतावाद के बीच अंतर्निहित व शक्तिशाली धारा के रूप में हमेशा से मौजूद रही है, जो समाज के पूँजी से मुक्त अभिजन वर्गों को शासक के रूप में स्थापित करती है।''[2]

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप दिन-ब-दिन दुनिया सिमटती जा रही है। आधुनिक विज्ञान, तकनीकी प्रगति, प्रौद्योगिकीय विकास, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्देशीय सम्बन्धों के फलस्वरूप अब एक देश दूसरे देश पर आश्रित होने की प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहा है। विश्व की सभी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ, सुख-दुःख, अशान्ति एवं उपद्रव एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। विश्व की समस्याओं के समाधान के लिए आज तक जो प्रयास हुए हैं वे प्रायः अपूर्ण रहे है। इस संदर्भ में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस से हमें पर्याप्त संकेत एवं प्रेरणा मिलती है, जिनका वर्तमान परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करके और सार्थक सूत्र प्राप्त किये जा सकते हैं। वर्तमान सदी की समस्याओं को यदि वैश्विक एवं राष्ट्रीय संदर्भों में देखे तो आज की ज्वलन्त समस्याओं में प्रदूषण, जनसंख्या वृद्धि, गरीबी, भ्रष्टाचार, अशांति, धन-लोलुपता, सत्ता की आकांक्षा, धर्म के नाम पर बढ़ता उन्माद एवं आतंकवाद प्रमुख रूप से है।

अद्यतन संदर्भों में आतंकवाद की समस्या से सम्पूर्ण विश्व जूझ रहा है। आज विश्व को शान्ति चाहिए। विश्व के राष्ट्रों ने दो विश्वयुद्धों को छेड़कर मानवता को दाँव पर लगाया था। दासता को अपनाकर बर्बरता का परिचय दिया गया है। सभ्यता के नाम पर लोगों को जबरन ईसाई बनाया गया है, जिसके परिणामस्वरूप आने वाली समस्याओं को सम्पूर्ण विश्व ने भोगा है, चाहे 11 सितम्बर 2001 को 'वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर' का नेस्तनाबूत होना हो चाहे 2008 का मुम्बई काण्ड हो, या 2002 में घटित गोधराकाण्ड हो।

जिस राष्ट्र में 40 करोड़ लोग जीवन की मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित है और 30-35 करोड़ लोग बेरोजगारी एवं अर्ध बेरोजगारी

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

की मार झेलने के लिए, दर-दर भटक रहे हों, जिनकी धरती पर निर्धनता, भूख और वंचना की आग चारों ओर सुलग रही हो, वहाँ व्यक्तिवादी मुनाफे कमाने की खुली छूट की वकालत करना, इस देश को चन्द पूँजीपतियों और मुट्ठीभर विदेशी निवेशकों के पास गिरवी रखना है।

विदेशी ताकतें पूँजीपति निवेश में सस्ते श्रम की बिछी हुयी बिसात के कारण इस धरती पर आँख गड़ाए है, विदेशी पूँजीपतियों के माल का उपभोक्ता इस देश की 1 अरब आबादी में मध्यवर्ग का सिर्फ 10 करोड़ आदमी है, शेष नब्बे करोड़ उन विदेशी पूँजीपतियों के किसी काम का नहीं। इस संदर्भ में वरिष्ठ पत्रकार और समाजशास्त्री रामशरण जोशी वैश्वीकरण के प्रभाव से व्याप्त विसंगतियों को इंगित करते हुए कहते हैं कि– ''आखिर क्या वजह है कि वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के मारों के बावजूद भारतीय राष्ट्र, राज्य, भूख, मौतों और बदहाली प्रेरित आत्महत्याओं को रोकने में बेबस व पराजित दिखायी दे रहा है।''[3]

22 से 32 रुपये के अनुपात में गरीबी रेखा को परिभाषित करने वाले इस राष्ट्र में राष्ट्रमंडल घोटाला, टूजी स्पेक्ट्रम घोटाला, आदर्श सोसाइटी घोटाला, आई.पी.एल. घोटाला जैसी घटनाएँ राजनीतिक सत्ता प्राप्त किये हुए लोगों का पर्दाफाश करती हैं।

रामचरितमानस के रचनाकार गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में यदि राजव्यवस्था नैतिक मूल्यों (धर्म) पर आधारित नहीं है तो समाज में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सम्पन्नता की योजनाएँ या तो होगी ही नहीं या निष्प्राण होगी। कवि का जोर इस बात पर है कि राजव्यवस्था एवं उसकी नीतियाँ ऐसी होनी चाहिए कि सबके लिए अन्न, शिक्षा और स्वास्थ्य केवल मुहावरे या नारे तक सीमित न रहे, बल्कि व्यवहार में भी दिखायी पड़े।

गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरित मानस का यह कथन द्रष्टव्य है–

''जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥''[4]

आधुनिक संदर्भों में सम्पूर्ण देश पर्यावरण और प्रदूषण की समस्या से जूझ रहा है। प्रदूषण और पर्यावरण का सीधा सम्बन्ध, भौतिकतावादी संस्कृति से है, जिसका महत्वपूर्ण निदान ''आश्रम संस्कृति'' में नीहित है। आज का मानव आधुनिकता की चकाचौंध में न केवल जल, पृथ्वी और वायु को प्रदूषित कर रहा है, अपितु अपरिमित विस्तार वाले अन्तरिक्ष को वैज्ञानिक उपलब्धियों से अभिसप्त कर रहा है। यही स्थिति जनसंख्या विस्फोट की भी है, जिसके कारण आर्थिक वैषम्य निरन्तर बढ़ रहा है और सभी विकास योजनाएँ निष्फल हो रही हैं। आज स्थिति यह है कि उपभोक्तावाद की तृष्णा के चलते मछली, चिड़िया और हिरन को कौन कहे, शेर तक नहीं बच रहे हैं। लाख प्रयत्न करके उनके लिए अभयारण्य बनाना पड़ रहा है। नदियाँ प्रदूषित होती जा रही है, शुद्ध वायु, शुद्ध जल का नितान्त अभाव होता जा रहा है, तो उस स्थिति में गोस्वामी तुलसीदास की यह सोच कितनी व्यावहारिक एवं प्रासंगिक लगाती है द्रष्टव्य है–

''फूलहिं फलहिं सदा तरू कानन
रहहिं एक संग गज पंचानन।
लता विटप माँगे मधु चवहिं
मन भावतो धेनुपय स्त्रवहीं॥''[5]

वर्तमान संदर्भ में पर्यावरण के सन्तुलन के लिए 33 प्रतिशत भाग पर वन क्षेत्र होने चाहिए, जो कि घटकर 20-21 प्रतिशत रह गया है, जिसके कारण कहीं अत्यधिक वर्षा तो कहीं सूखा और ग्लोबल वार्मिंग, सुनामी एवं कैटरीना जैसे पर्यावरण संकट के दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। यही नहीं, अब प्राकृतिक संसाधनों की समाप्ति का संकट भी मंडराने लगा है। W.W.F. का आकलन है कि अगर लोग उपभोग के इसी स्तर को बनाए रखेंगे तो वर्ष 2050 इस पृथ्वी का प्राकृतिक संसाधन मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं हो सकेगा। इन सबके निदान हेतु अनेक सूत्र रामचरितमानस में मौजूद है जिनके द्वारा इन समस्याओं का निदान हो सकता है।

अद्यतन संदर्भों में हमारे जीवन मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी पतन होता जा रहा है। आधुनिकता और वैज्ञानिकता के अन्धानुकरण के फलस्वरूप हम पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण करते जा रहे हैं। भारत की पहचान एक आध्यात्मिक भूमि के रूप में है। भारत एक ऐसा देश है, जहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं कृत्य में धर्म रचा बसा है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने लिखा है कि– ''यदि कोई मुझसे पूछे कि इस आकाश के नीचे वह स्थान कौन सा है, जहाँ मानव-मानस का अपूर्व अलौकिक और पूर्ण विकास हुआ है, प्लेटो और कांट के भक्त भी जिसकी सराहना किए बिना नहीं रहेंगे तो मैं असंदिग्ध रूप से कहूँगा कि वह स्थान भारत है।''[6]

आज के संदर्भ में अधिकतर परिवारों में धन लोलुपता सत्ता की आकांक्षा या सम्पत्ति गृहकलह का कारण बन रही है। सम्पत्ति के लिए भाई-भाई का गला काट रहा है। चाहे प्रमोद महाजन एवं प्रवीण महाजन की घटना हो या पोंटी चड्ढा या उनके भाई हरदीप सिंह की हो। जिस प्रकार धन की आंकाक्षा और लोलुपता के चलते ये दोनों भाई एक दूसरे की मौत के सौदागर हुए, इसे देखकर राम और भरत का त्यागमय चरित्र हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है। एक ओर राम हैं कि बड़ी सहजता से पूरी सत्ता को भरत को हस्तान्तरित करना चाहते हैं और दूसरी ओर भरत हैं कि अनीति से अनायास प्राप्त सत्ता सुख उन्हें स्वीकार्य नहीं है। इस प्रेम के पीछे एक और कारक तथ्य है, वह है परस्पर अगाध विश्वास। राम का भरत के प्रति अनन्य

विश्वास है कि भरत विष्णु और शिव का पद प्राप्त करके भी राजमद से प्रभावित नहीं हो सकते, द्रष्टव्य है–

''भरतहिं होई न राजमदु।
विधि हरिहर पद पाई।''
''कबहुँ की कांजी सीकरनि
क्षीर सिन्धु विनिसाइ॥''[7]

राम के प्रति अनन्य भक्ति और विश्वास प्रकट करते हुए भरत जी कहते हैं कि यद्यपि मैं बुरा हूँ अपराधी हूँ और मेरे ही कारण यह सब उपद्रव हुआ, इसके बावजूद श्री राम जी मेरे अपराध को क्षमाकर मुझ पर विशेष कृपा करेंगे, द्रष्टव्य है–

''जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी।
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा विसेषी।''[8]

जिस समाज में या राष्ट्र में राम और भरत जैसा त्याग और आपसी विश्वास होगा वहाँ पर सब मंगल ही होगा। इस प्रकार जब तक समाज या राष्ट्र में भोग की प्रधानता, ऐश्वर्य और धन लोलुपता की चाह बनी रहेगी, तब तक भाई के द्वारा भाई के कत्ल की घटनाएँ आये दिन घटित होती रहेंगी। आज के स्वार्थी, धन-लोलुप और मोह जलधि में डूबे हुए लोगों के लिए राम और भरत का त्याग तथा लक्ष्मण का सेवाभाव आज भी प्रकाश स्तम्भ बनकर खड़ा है। यह राम का उज्ज्वल चरित्र है जो परंपरा से प्राप्त राज्य की कामना नहीं करते, बल्कि उस दूषित परंपरा पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए कहते हैं कि–

''विमल वंश यह अनुचित एकू।
बंधु विहाई बड़ेहि अभिषेकू॥''[9]

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संयुक्त परिवार के विघटन की समस्या एवं दाम्पत्य जीवन में अविश्वास की समस्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। नैतिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अवसान के कारण बुजुर्गों के प्रति हेय दृष्टि और परस्पर प्रेम का अभाव चारों ओर दृष्टिगत हो रहा है। आज वैमनस्य का भाव सर्वत्र फैला हुआ है। आतंक एवं हिंसा से सम्पूर्ण देश त्रस्त है– धन लोलुपता और अति ऊँची महत्वाकांक्षा के चलते लोगों का पतन होता जा रहा है। आज के परिवेश में भी जिस परिवार में परस्पर प्रेम और विश्वास बना हुआ है, उस परिवार में कभी भी विघटन नहीं होता है। अधिकतर संयुक्त परिवारों में बिखराव का कारण संदेह, अविश्वास, असहिष्णुता, स्वार्थ एवं द्वेष की भावना है। आज भी जहाँ राम जैसा त्याग और भरत जैसा विश्वास बचा है, वहाँ परिवार टूटने से बच गया है। भरत के अप्रतिम त्याग को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते है कि भरत, राम को वापस लाने के लिए और उन्हें राज्यसिंहासन पर बैठाने के लिए कहते हैं कि यदि बड़े भाई राम वापस लौट चले तो मैं चौदह ही नहीं बल्कि जन्म भर वन में वास करुँगा मेरे लिए इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। द्रष्टव्य है–

''कानन करउँ जनम भरि बासू।
एहिं ते अधिक न मोर सुपासु॥''[10]

दाम्पत्य जीवन की बात करें तो हमारे समाज में पति-पत्नी के बीच समर्पण और निष्ठा का भाव ही स्पृहणीय है। भारतीय संस्कृति में विवाह केवल ऐन्द्रिय तृप्ति के लिए किया गया एक समझौता ही नहीं बल्कि एक पवित्र धार्मिक संस्कार भी है, जहाँ पर अग्नि को साक्षी मानकर पति-पत्नी जीवन भर एक साथ रहकर सांसारिक दायित्वों को पूर्ण करने के लिए संकल्पबद्ध होते हैं। यहाँ पर केवल सुख ही सुख-भोगने की चाह और स्वार्थपरता नहीं बल्कि जीवन संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर एक दूसरे का साथ देने का संकल्प भी है। रामचरितमानस में पति-पत्नी के बीच समर्पण, विश्वास एवं एकनिष्ठ प्रेम का बहुत ही सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है। भगवान राम द्वारा हनुमान को दिये गये संदेश में श्रीराम का सीता माँ के प्रति अनन्य और एकनिष्ठ प्रेम व्यक्त हुआ है अर्थात् पति-पत्नी के मध्य प्रेम एवं समर्पण व निष्ठा का भाव ही स्पृहणीय है। भगवान राम कहते हैं कि, हे प्रिये! मेरे और तेरे प्रेम का तत्व (रहस्य) एक मेरा ही मन जानता है, और वह सदा तेरे पास रहता है, बस मेरे प्रेम का सार इतने से ही समझ लो, इस संदर्भ में निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

''तत्त्व प्रेम कर मम अरू तोरा।
जानत प्रिया एकु मन मोरा''
सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं,
जानु प्रीति रसु एतनेहि माही।''[11]

पहले शादी को जन्म-जन्मान्तर का बन्धन एवं सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने वाले एक कवच के रूप में देखा जाता था। अब लोग नौकरियों को ज्यादा महत्व एवं समय दे रहे हैं, क्योंकि उन्हें रिश्ते टूटने के स्थान पर नौकरियों के खोने का भय कहीं ज्यादा है। इन सब बिन्दुओं पर आकर रामचरित मानस और प्रासंगिक हो जाता है।

आज जब पूँजीवादी व्यवस्था के दौर में सब सम्बन्ध अर्थ पर टिक चुके हैं। मानवीय मूल्यों का अवसान और सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन होता जा रहा है। बुजुर्गों को उनके बहू और बेटे अब बोझ समझने लगे हैं। अद्यतन संदर्भों में 20 प्रतिशत बुजुर्ग अपना जीवन अकेले या अपने जीवनसाथी के साथ गुमनाम भरी जिन्दगी जी रहे हैं और न्यायालय की शरण में जा रहे हैं। ऐसे बहू और बेटों को कभी भी ख्याल नहीं आता कि जो बीज वो अपने सास-ससुर और माता-पिता के लिए बो रहे हैं, उनकी फसल का भुगतान उनके अपने जीवन में भी होना अनिवार्य है। ऐसे दिशाविहीन युवा पीढ़ी के समक्ष

राम का चरित्र रखते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि उसी पुत्र का जीवन सार्थक है जो अपने गुण और कर्म से पिता को प्रसन्न कर दे। ''यह सच है कि जिस परिवार में जनक-जननी के प्रति, निष्कपट, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास के ऐसे संस्कार होंगे, वहाँ न तो किशोरावस्था में संतान के उदण्ड या उच्छृंखल होने की सम्भावना रहेगी और न माता-पिता के वृद्ध होते ही उन्हें असहाय रूग्ण व भारस्वरूप मानते हुए उनकी अवहेलना करने या 'वृद्धाश्रम का रास्ता दिखाने की भावना।'[12]

आज के परिवेश में जब बुजुर्गों की स्थिति यह है कि उन्हें अपना जीवन चलाने के लिए दर-ब-दर भटकना पड़ रहा है, जो माँ-बाप जीवनभर अपने को कष्ट में रखकर अपने बच्चों की सुख-सुविधाओं का ख्याल करते रहे आज जब उन्हें एक सहारे की जरूरत हुई तो उन्हें कोई सहारा देने वाला नहीं है, शायद ऐसे ही लोगों के समक्ष गोस्वामी तुलसीदास राम के रूप में एक बड़ा चरित्र खड़ा करते हैं जिससे आज की युवा पीढ़ी प्रेरणा ले सके। पंक्तियाँ द्रष्टव्य है–

''धन्य जनमु जगतीतल तासू।
पितहिं प्रमोदु चरित सुनि जासू।।
चारिपदारथ कर तल ताकें।
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके।।''[13]

गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मनुष्य को सर्वोपरि मानते है। आज विश्वभर में ज्ञान-विज्ञान के चिन्तन के केन्द्र में मनुष्य ही है। हमारे यहाँ महाभारत में ठीक ही कहा गया है कि सृष्टि में मनुष्य से श्रेष्ठ तथा पवित्र कुछ भी नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास के राम भी कहते हैं कि–

''सब मय प्रिय सब भय उपजाये।
सबसे अधिक मनुज मोहि भाये।।''[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय अस्तित्व की आकांक्षा, उसका बुनियादी हितों की सुरक्षा, निर्विघ्न जीवन-यापन की चिन्ता सम्पूर्ण विश्व की चिन्ता है, जिसके सूत्र और उन विडम्बनाओं और समस्याओं का निदान रामचरितमानस में मिलता है।

आज के परिवेश में आधुनिकता और वैज्ञानिकता के प्रवाह में हमारे जीवनमूल्य, मानवीय संवेदनाएँ और संस्कृति बहती चली जा रही है, बहने वाले को कदाचित पता नहीं है कि वह कहाँ टिकेगा और कहाँ रुकेगा इन सब बिन्दुओं पर आकर रामचरितमानस की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। प्रो. श्यामचरण दूबे, आधुनिकता और वैज्ञानिकता के प्रवाह और उससे उत्पन्न विसंगतियों को इंगित करते हुए कहते है कि– ''विकास और आधुनिकता आवश्यक है पर वे विसंगतिया और विकृतियाँ भी उत्पन्न करते हैं, इन प्रक्रियाओं से तीन प्रवृत्तियाँ बल पाती है। व्यक्ति केन्द्रिकता, लोकतन्त्रीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण।[15] तीनों प्रवृत्तियों के लक्ष्य सही है पर अनियन्त्रित रूप से उनका आना अनेक जटिल समस्याओं को जन्म देता है। पश्चिमी समाज भी इन प्रवृत्तियों से त्रस्त है और बुनियादी ढाँचे की ओर लौटने पर गम्भीर रूप से विचार कर रहा है।

भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के वर्तमान दौर में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस की प्रासंगिकता उसमें व्याप्त सामाजिक चेतना और मानवतावादी दृष्टि के कारण सिद्ध होती है। आज हम इस देश से गरीबी और भूखमरी मिटाकर ऐसे नये कल्याणकारी राज्य और समाज की कोशिश कर रहे हैं जिसका उद्देश्य है बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, गोस्वामी तुलसीदास ने 'नहि दरिद्रसम दुःख जग माही',[16] कहकर गरीबी को सबसे बड़ा दुःख बतलाया है। गरीबी को मिटाकर एक सुखी और सम्पन्न समाज के निर्माण के काल में तुलसीदास की मानवतावादी जीवनदृष्टि का स्मरण आवश्यक है। कोई भी समाज अपने अतीत को भूलकर न तो अपने वर्तमान का निर्माण कर सकता है, और न ही सुनहले भविष्य की दिशा निश्चित कर सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में सभी जगह अधिकारों से पहले दायित्व का पालन है। सभी जगह परस्पर त्याग, सौहार्द और समर्पण की अनुगूँज है। अपने सुख से पहले दूसरे के हित की चिन्ता है। तुलसीदास के ये मूल्य और स्थापनाएँ शाश्वत होने के कारण ही आज के युग से उसे जोड़ती है, और अपनी उपादेयता सिद्ध करती है। आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में केवल भौतिक उन्नति के लिए संघर्षरत, येन-केन प्रकार अर्थोपार्जन की वृत्ति ये पगलाए, निरन्तर असंतोष एवं तनाव में जी रहे अधीर समाज की व्याकुलता का स्थायी समाधान रामचरितमानस में मिल सकता है।

निष्कर्ष

रामचरितमानस के रचनाकार कवि तुलसीदास अपने युग के महान कवि थे, जिनकी कविता में मानवता की आत्मा की आवाज सुनायी देती है। रामचरितमानस अपने समय के यथार्थ से रू-ब-रू कराता ही है, इसके बाद काल का अतिक्रमण कर इक्कीसवीं सदी में व्याप्त वर्तमान विसंगतियों एवं समस्याओं के निदान का भी संदेश देता है। आज जब सम्पूर्ण भारत की आबादी 1 अरब 21 करोड़ के लगभग हो चुकी है। सरकारी स्वाकारोक्ति के अनुसार 30-35 करोड़ रोजगार के लिए दर-ब-दर भटक रहे हैं, व्यक्ति अपने आप में मस्त है। परिवार टूट रहे हैं, मानवीय मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों का अवसान होता जा रहा है, भ्रष्टाचार, गरीबी, प्रदूषण और आतंकवाद की समस्या से सम्पूर्ण विश्व जूझ रहा है, संयुक्त परिवार और दाम्पत्य जीवन का विघटन आम बात हो गयी है, मां-बाप को हेय दृष्टि और बोझ के रूप में देखा जा रहा है, राजनीति का विकृत स्वरूप हो चुका है, धन-लोलुपता और भोग की अतिसय प्रधानता के कारण लोगों का पतन होता जा रहा है। ऐसे समय में हमारे जीवन की मूलभूत समस्याओं का निदान गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों में ढूँढ़ा जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अमित कुमार सिंह, भूमण्डलीकरण और भारत-परिदृश्य और विकल्प, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2010, पृ.सं. 33
2. राजकुमार राकेश, महास्वप्न का अवसान, आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा संस्करण-2012, पृ.सं. 50
3. रामशरण जोशी, इक्कीसवीं सदी के संकट, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2008
4. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत 2069 उत्तरकांड, दोहा 70/6
5. वही, उत्तरकांड, दोहा 22/1,5
6. अमित कुमार सिंह, भूमण्डलीकरण और भारत-परिदृश्य और विकल्प, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण-2010, पृ.सं. 50
7. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2069, अयोध्याकांड 23
8. वही, अयोध्याकांड 182/4
9. वही, रामचरितमानस अयोध्याकांड 9/7
10. वही, रामचरितमानस अयोध्याकांड 255/8
11. वही, सुन्दरकांड अयोध्याकांड 14/3-4
12. मृदुल जोशी, बाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस तुलनात्मक संदर्भ में, प्रकाशन प्रगतिशील नई दिल्ली, संस्करण-2012, पृ.सं. 23
13. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2069, अयोध्याकांड 45/1
14. वही, उत्तरकांड 85/4
15. श्यामचरण दूबे, परम्परा और परिवर्तन, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2008, पृ.सं. 10
16. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2069, उत्तरकांड 120/13

अज्ञेय के कथा साहित्य में भाषिक सर्जनात्मकता

प्रतीक्षा दूबे एवं प्रो. बलिराज पाण्डेय***

स्वातन्त्र्योत्तर कथा साहित्य न केवल वस्तु के स्तर पर पारम्परिक कथा साहित्य से इतर व भिन्न है, बल्कि संरचना के स्तर पर भी यह उससे अलग, विशिष्ट व भिन्न है। स्वातन्त्र्योत्तर कहानियों और उपन्यासों में स्वीकृत संसार औद्योगिक एवं पूँजीवादी प्रभावों से उत्पन्न जटिलता से युक्त समाज है। तीसरे दशक के कथाकारों ने जिस समाज से अपनी कथाओं का चुनाव किया, वह समाज प्रायः मध्यवर्गीय समाज था। आत्मनिष्ठता जिसका गुण था, मध्यमवर्गीय जीवन की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देना चुनौतीपूर्ण कार्य था, इसीलिए इस दशक के कथा-साहित्य में संरचना के स्तर पर रचनाकारों की भाषिक एवं शिल्प दृष्टि काफी सजग रही।

अब कहानी कुछ विशिष्ट संवेगों की कहानी बन गई। वह अब किसी रूमानी, विशद, कौतूहलवर्धक, विशिष्ट और चरम सीमा युक्त घटनाक्रम वाली कहानी नहीं है।[1] वास्तव में आज की कहानी जिन्दगी का साक्षात्कार है।

डॉ. नामवर सिंह इस विषय में कहते हैं– ''नया कथाकार एक जीते-जागते आदमी, एक नये जीवित अनुभव को तराश कर कहानी का आकार दे रहा है।''[2]

भाषा एवं शिल्प की सार्थकता भी यथार्थ जीवन के यथातथ्य अंकन में ही स्वीकार की गई है। स्वातन्त्र्योत्तर कथा भाषा के संदर्भ में राजेन्द्र यादव लिखते हैं– ''अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच भाषा निश्चय ही एक तीसरी जीवित और स्वतन्त्र सत्ता है। वह हमें औरों से मिली है, हमें औरों से जोड़ती है।''[3] भोगे हुए जीवन-यथार्थ की प्रामाणिकता इस दशक के कथा-साहित्य की निजी पहचान है। यह लेखकीय तटस्थता और ईमानदारी कथा-कथ्य में संप्रेषणीयता लाती है, उसे देशकाल और परिस्थितियों के सीमित यथार्थ से परे एक बृहत्तर आयाम देती है। यही कारण है कि इस युग के रचनाकारों ने समकालीन जीवन के अनुभवों के वर्णन में जब उपलब्ध भाषिक साधनों को अपर्याप्त पाया तो अनेकानेक नवीन शिल्पगत परिवर्तन उपस्थित हुए।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा साहित्य में भाषा एवं शिल्प सम्बन्धी नवीन प्रयोग सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने किये, किन्तु भाषा एवं शिल्प को वर्णन के प्राथमिक स्तर से ऊपर उठाकर उच्च स्तर पर व्यवस्थित करने का श्रेय अज्ञेय को ही प्राप्त है। अज्ञेय की भाषिक सर्जनात्मकता के सम्बन्ध में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं– ''अज्ञेय के भाषिक और भाषेतर प्रयोग सर्वथा अभिव्यंजना से परिपूर्ण हैं। वे स्वच्छन्द तथा आग्रहमुक्त यानी आजाद लेखक हैं। वे उन्हीं शब्दों को सार्थक मानते हैं, जो उस कथन की पुष्टि हेतु सहायक सिद्ध हों। अज्ञेय चूँकि आजाद लेखक हैं, इसीलिए वह न तो किसी शास्त्र से डरते हैं और न तो किसी व्यवस्था के प्रति अकारण सम्मान ही प्रकट करते हैं। वह उपयुक्त तथा सशक्त एवं प्रभावी प्रयोगों के माध्यम से अपने भावों को स्वर देने में असंदिग्ध विश्वास का परिचय देते हैं। शब्दमर्मी होने की वजह से वह अर्थ की खोज करते हैं और यही उनकी सर्जनात्मकता की सबसे विशाल कसौटी है।''[4]

अज्ञेय हिन्दी साहित्य एवं गद्य-शैली के आधुनिक निर्माताओं में आते हैं। ये हिन्दी गद्य की नई शैली के सूत्रधार कहे जा सकते हैं। अज्ञेय की भाषा में ताजगी एवं शिल्पगत वैभव है। डॉ. देवराज उपाध्याय इस विषय में लिखते हैं– ''अज्ञेय के कथा साहित्य में हमारी भाषा अनोखी सादगी, स्वाभाविकता, स्वच्छता, कांति और परिपूर्णता लिये हुए दिखाई पड़ती है। उसका प्रत्येक शब्द मानों हाल ही में टकसाल से ढलकर नई चमक तथा व्यंजकता लेकर आया है।''[5]

हिन्दी के मनोविश्लेषणवादी कथाकारों में अज्ञेय महत्वपूर्ण हैं। मनोविश्लेषणवादी कथाकार के रूप में अज्ञेय ने चिन्तन और रचना का समन्वय करते समय नितान्त स्वच्छन्द और ललित भाषा-विन्यास का सहारा लिया है। इनकी शैली प्रांजल, प्रवाहपूर्ण और स्वतः स्फूर्त है, जिसमें विषय के निर्वाह की क्षमता, अभिव्यक्ति की मौलिकता और भाषा की सहजता के दर्शन होते हैं। परिस्थिति सापेक्ष अन्तर्द्वन्द्व और बौद्धिक उत्तेजना प्रसूत चिन्तन-अनुचिंतन की प्रक्रिया के साथ भावनाओं एवं संवेगों के उतार-चढ़ाव का जैसा क्रमिक विस्तार अज्ञेय की भाषा में दिखाई देता है, वैसा कहीं और नहीं मिलता।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार– ''अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या में भाषा को अनिवार्य तत्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। उन्होंने भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करने का प्रयास किया।''[6]

अज्ञेय भाषा के सहज रूप को महत्व देते हैं। इस कारण कुछ विद्वान् इनकी भाषा को दो रूपों में विभाजित करते हैं– संस्कृतनिष्ठ भाषा और सामान्य बोलचाल की भाषा। संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और

*शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

देशज शब्दों के मिले-जुले योग से इनकी भाषा अत्यन्त स्वाभाविक हो गई है, क्योंकि इन्होंने इन भाषाओं के उन्हीं शब्दों को चुना है, जो लोक-व्यवहार में घुल-मिल गये हैं– ''मैं इतनी आसानी से युग-युगान्तर के मसले पर फतवा दे गया।''[7] मसला, फतवा आदि शब्द नये नहीं हैं, लेकिन 'युग-युगान्तर' के साथ 'मसला' और 'फतवा' का प्रयोग हिन्दी गद्यभाषा के लिए सर्वथा नवीन है। उर्दू, देशज, संस्कृत आदि भाषाओं की अपेक्षा अज्ञेय की कथा भाषा पर सर्वाधिक प्रभाव अंग्रेजी भाषा का है। इनकी भाषा पर अंग्रेजी का इतना प्रभाव है कि शब्द ही नहीं, बीच-बीच में वाक्य तक अंग्रेजी के प्रयुक्त किये गये हैं। अज्ञेय का शायद ही कोई ऐसा पात्र होगा, जो अंग्रेजी का प्रयोग न करता हो। कहीं-कहीं अज्ञेय ने अंग्रेजी कविताओं तक का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप– 'नदी के द्वीप' उपन्यास में भुवन रेखा के सामने अपना प्रेम-प्रदर्शन एक अंग्रेजी कविता के द्वारा करता है–

"Something in me remembers and will not forget,
The Stream of my life in the darkness death ward set
And something in me has forgotten, has ceased to care,
Desire comes up and contentment is debanayar."[8]

इस प्रकार की भाषा के प्रयोग का मुख्य कारण भाषा को जनसाधारण के समीप लाना है। यह बोलचाल की भाषा का वह स्वरूप है, जो आज के बौद्धिक वर्ग के सुशिक्षित व्यक्तियों की भाषा का होता है।

अज्ञेय सदैव नवीनता के पक्षधर रहे हैं, अतः उन्होंने भाषा के पारम्परिक रूप में कई नए परिवर्तन किये। भाषा पर नया मुलम्मा चढ़ाने के लिए उन्होंने जहाँ नवीन शब्दों, जैसे– विद्रोहेच्छा, एतादृश, मनस्तत्वविद्, अशांतचित्तता आदि का सृजन किया, वहीं भाषा को अर्थ-सम्प्रेषणीय तथा सहज बनाने के लिए नई सूक्तियों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का भी निर्माण किया। इनकी कुछ सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– ''भूखा मानव भूखे कुत्ते से भी कमज़ोर होता है''[9] ''मनुष्य जब पतन की ओर अग्रसर होता है तो कितनी जल्दी कितनी दूर पहुँच जाता है।''[10] ''प्रेम की शक्ति नागिन के उस सिर की तरह है, जो उसे एक बार देख लेता है, वह फिर जड़ हो जाता है।''[11]

इस प्रकार सूक्तिपरक वाक्यों का प्रयोग कर अज्ञेय थोड़े शब्दों में ही बहुत कुछ कह देते हैं। अज्ञेय की मान्यता है कि– ''कोई भाषा अपने से पुरानी होने की दुहाई नहीं देती। नई हो सकने का सामर्थ्य ही अधिक महत्व पाएगा। न बदलना गुण नहीं माना जाएगा, बदल सकना गुण होगा।''[12] इसीलिए अज्ञेय ने अपनी भाषा का नया संस्कार किया है और उसे अभिव्यक्ति के अनुरूप बनाया है।

अज्ञेय मूलतः कवि हैं, शायद इसीलिए इनके कथा साहित्य में कविता का कथात्मक विस्तार सहज ही मिलता है। इनका गद्य भावात्मक और लयात्मकता से युक्त है तथा उसमें कविता की तरह लोच, माधुर्य और मर्मस्पर्शी पैनापन है। कविता की तरह इनके गद्य में बिम्बों, प्रतीकों का भी सफल प्रयोग हुआ है। प्रायः बिम्बों के द्वारा ही अज्ञेय सूक्ष्म मनोभावों व आनुभूतिक तीव्रता का सफल सम्मूर्तन करते हैं। अज्ञेय की काव्यात्मक गद्य भाषा का प्रमाण इस बात से मिलता है कि इनकी कहानियों व उपन्यासों में परिस्थिति और परिवेश की व्यंजना के लिए बंगला, अंग्रेजी और हिन्दी काव्यपंक्तियों का सहारा लिया गया है। 'कोठरी की बात' कहानी में बंगला कविता का प्रयोग द्रष्टव्य है–

''मिथ्या कथा के बोले ये भोलो नाइ,
के बोले ये खोलो नाइ, स्मृतिर पिंजर द्वार।''[13]

इसी प्रकार 'बसन्त' कहानी में प्रयुक्त हिन्दी कविता देखी जा सकती है–

''फूल कचनार के, प्रतीक मेरे प्यार के।
प्रार्थना सी उर्द्ध स्फुट काँपती रही कली,
पत्तियों का सम्पुट निवेदिता ज्यों अंजलि,
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के.....।''[14]

अज्ञेय की कथा भाषा इस तरह की काव्यपंक्तियों से भरी है। जब वह किसी सघन मनोदशा की व्यंजना करना चाहते हैं तो क्रियापदों वाली गद्य भाषा की जगह काव्य-पंक्तियों का प्रयोग करते हैं, क्योंकि गद्याभिव्यक्ति में फैलाव या विस्तार होता है, उसमें घनीभूत मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति शीघ्र नहीं हो पाती। प्रायः देखा गया है कि उल्लास या पीड़ा के चरम क्षण में आदमी निःशब्द हो जाता है। ऐसे समय में उसके मुँह से क्रियापदों वाले लम्बे वाक्य नहीं निकलते। कुछ शब्दों द्वारा वह आवेगों को व्यक्त करता है। अज्ञेय की कहानियों व उपन्यासों की गद्य भाषा में काव्य-पंक्तियों का यही औचित्य है। इस विषय में अज्ञेय स्वयं कहते हैं– ''वास्तव में नई प्रवृत्तियों में ऐसी कहानियों का अपना अलग स्थान है, बल्कि अच्छी काव्यगत कहानी कदाचित् नई माँग को अधिक सघन रूप से पूरा कर सकती है। कहानी अगर यथार्थ की दुनिया को विस्तार देती और उसका आविष्कार करती है, जैसा कि एक फ्रांसीसी आलोचक ने कहा है कि तो कवि की दृष्टि निश्चय ही इसमें योग दे सकती है।''[15]

अज्ञेय के कथा साहित्य– चाहे उपन्यास हों या कहानी– सर्वत्र भाषा का सहज विकास दिखाई देता है। नवीन प्रयोगों से सजी इनकी भाषा पात्रानुकूल तथा परिस्थिति एवं वातावरण के अनुकूल है। उपन्यास की तरह ही इनकी कहानियों में भी वैयक्तिक धरातल पर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारने का प्रयास है। वे वैयक्तिक सत्य के स्तर पर जीवन की विषमताओं और मूल्यों को अभिव्यक्त करने का यत्न करते हैं। अज्ञेय ने आधुनिकता की चुनौती को समष्टिगत तथा व्यष्टिगत सत्य के धरातल पर स्वीकारा और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से इसे

संश्लिष्ट अभिव्यक्ति भी दी है। अज्ञेय के कथा साहित्य में भारतीय जीवन के विविध रूपों का कलात्मक वर्णन मिलता है। कथ्य की विविधता के साथ ही इनकी गद्य-शैली में भी पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। अज्ञेय की कहानियों व उपन्यासों में घटनाओं का कम, मनःस्थितियों का चित्रण अधिक होता है। मनोवैज्ञानिक अन्तर्दशाओं के चित्रण में इन्होंने पत्र-शैली, डायरी शैली, प्रत्यावलोकन-शैली, वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, निबन्ध, प्रतीक आदि विभिन्न गद्य-शैलियों का प्रयोग किया है।

अज्ञेय की वैविध्यपूर्ण गद्य-शैली के विषय में डॉ. नामवर सिंह मानते हैं– 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) की गद्य-शैली दूसरे भाग की गद्य-शैली से बिल्कुल भिन्न है। पहले भाग में जहाँ बचपन की घटनाओं तथा विभिन्न स्थानों का वर्णन है, वह अधिक काव्यात्मक है। वाक्य-रचना में भी विशेषण बहुलता मिलती है। पर 'शेखर : एक जीवनी' के दूसरे भाग में जेल-जीवन की वर्णन शैली बिल्कुल भिन्न है। वह अधिक यथार्थवादी है, इसीलिए छोटे-छोटे विशेषण-विहीन वाक्य हैं। इसी प्रकार इनकी कहानियों में भी अलग-अलग गद्य-शैलियों का प्रयोग हुआ है। 'कोठरी की बात' और 'पगोडा वृक्ष' की शैली दूसरी है और 'शरणार्थी' की शैली दूसरी है।''[16]

जटिल जीवन-यथार्थ की आत्यंतिक अभिव्यक्ति के पीछे यदि भाषा एक माध्यम है तो उसके प्रस्तुतीकरण की पृष्ठभूमि में शैली एक विधि या प्रणाली। पात्रों के गहन व सूक्ष्म व्यक्तित्व के उद्‌घाटन तथा पात्रों की अनुभूति, मनोभाव और विचार-प्रवाह के सजीव चित्रण के प्रयास में अज्ञेय की भाषा में कुछ अद्‌भुत गुणों का समावेश हो गया है। मानव मन के प्रच्छन्न वृत्तों और छायामयी कल्पनाओं के शब्द-चित्र प्रस्तुत करने हेतु अज्ञेय ने अनेक मनोविश्लेषणात्मक शैलियों का प्रयोग किया है। प्रत्यावलोकन, चेतना प्रवाहांकन, स्वप्न-विश्लेषण, विश्लेषणात्मक आदि शैलियों का प्रयोग अन्तर्लोकों के उरेहण के लिए किया गया।

'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय ने पात्रों के अचेतन मन की दमित इच्छाओं के अध्ययन हेतु स्वप्न-विश्लेषण पद्धति का पर्याप्त उपयोग हुआ है। यह एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है, जिसका उपयोग कथाकार ने अन्तस्थ मनोवृत्तियों के सहज अंकन हेतु किया है।

'अलिखित कहानी' में स्वप्न-पद्धति द्वारा सृजन-प्रक्रिया का अवचेतन मानस से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। तुलसीदास और तुलसू एक ही कवि मानस के दो रूप हैं, जिनमें से एक स्वप्न की अवस्था में प्रकट होता है तो दूसरा साहित्य में। यह पूरी कहानी नींद में स्वप्न की तरह घटित होती है। इसी प्रकार 'पठार का धीरज' कहानी में किशोर और प्रमिला वातावरण में व्याप्त राजकुमारी हेमा और कुमार के प्रेम की कहानी का घटित रूप स्वप्न के द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं। 'जयदोल' में भी थके हुए लेफ्टिनेंट सागर की चेतना सुप्तावस्था में तिरोहित-सी हो जाती है और उसके अवचेतन से अहोम राजा चूलिकफा और जयमती की कहानी छनकर प्रत्यक्ष हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक कथा-साहित्य में अज्ञेय की व्यक्तिवादी और मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति प्रत्यावलोकन शैली द्वारा उभर कर सामने आती है। प्रत्यावलोकन शैली का प्रयोग अज्ञेय ने अपने तीनों उपन्यासों और कहानियों में प्रचुरता से किया है। 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर जीवन-यात्रा के अन्तिम क्षणों में अपने अतीत जीवन का प्रत्यावलोकन करता है। असंख्य स्मृतियों के दर्पण में शेखर अपने विगत जीवन को प्रतिबिम्बित करता है।

'नदी के द्वीप' का प्रारम्भ ही भुवन के प्रत्यावलोकन से होता है, जहाँ भुवन पिछले कुछ घण्टों की दृश्यावली के पन्ने उलटते-उलटते, चन्द्रमाधव और रेखा के साथ बिताये गत सप्ताह के जीवन का स्मरण करता है। रेखा जहाँ अपने पति हेमेन्द्र के सम्बन्ध-विच्छेद के क्षणों से मानसिक साक्षात्कार करती है, वहाँ इस पूर्वदीप्ति या प्रत्यावलोकन प्रणाली का उपयोग हुआ है। 'अपने-अपने अजनबी' में भी सेल्मा और योके जहाँ अपने अतीत जीवन का स्मरण करती हैं, वहाँ हमें इस शैली के दर्शन होते हैं। उपन्यासों की तरह कहानियों में भी अज्ञेय ने इस शैली का प्रयोग किया है। 'विवेक से बढ़कर' कहानी में पूर्व जीवन के कुछ दृश्य भी प्रत्यावलोकन में लिखे गये हैं, क्योंकि वह स्मृति गोविन्द के जीवन में एकमात्र मूल्यवान है और कुछ भी नहीं। 'मनसो' कहानी में पूरी घटना नायक महेश की स्मृति का आलेखन है, क्योंकि यह स्मृति ही उसके लिए जीने का एक महत्वपूर्ण सम्बल है। अनेक बार सामने घटित हो रही घटनाओं के भोक्ता भी कुछ समय के लिए पूर्वदीप्ति या प्रत्यावलोकन की मुद्रा में चले जाते हैं। जैसे– गैंग्रीन का लेखक मालती के विवाह पूर्व जीवन को संक्षेप में प्रस्तुत करता है, ताकि वर्तमान त्रासदी का बोध गहरा हो जाये। 'पगोडा वृक्ष' की सुजाता पति के स्मरण में पूर्व जीवन का खाका सामने रखती है, जिससे उसकी सार्थकता की अनुभूति के उन्मेष को एक उभार मिले।

'गृहत्याग' का गंगाधर बचपन की घोर यातनामय जिन्दगी के अनुभव को प्रत्यावलोकन प्रणाली के सहारे जी लेता है और उसके एकाकी जीवन का वेदना-बोध अधिक प्रभावपूर्ण बनता है। 'विपथगा' के प्राध्यापक के जीवन को, जीवन-विषयक दृष्टिकोण को भिन्न मोड़ देने वाली महत्वपूर्ण घटना और महत्वपूर्ण चरित्र को वह अपनी स्मृतियों में पुनः-पुनः जीता है, जिससे प्राध्यापक के वर्तमान जीवन की सार्थकता स्पष्ट होती है।

अज्ञेय के पात्र प्रायः सुशिक्षित होते हैं। उनका बौद्धिक स्तर भी विकसित होता है। फलस्वरूप उनमें तर्क-वितर्क और बौद्धिक विश्लेषण चलता रहता है। अज्ञेय जब भी अपने पात्रों के दार्शनिक चिन्तन,

तर्क-वितर्क तथा मनःस्थितियों का चित्रण करते हैं तो उनकी भाषा विश्लेषणात्मक हो जाती है। अज्ञेय ने अपने कथा-साहित्य में इस शैली का सुन्दर प्रयोग किया है।

'नदी के द्वीप' में भुवन सत्य तथा तथ्य की भिन्नता पर विचार करते हुए कहता है– ''मैं कहूँगा कि यह तथ्य है, और इस तरह के सब सत्य केवल तथ्य हैं। सत्य को संज्ञा तब मिल सकती है, जब उनके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध हो। यानी जो तथ्य हमारे भाव जगत की यथार्थता है, वह सत्य है, जो निरे वस्तु-जगत है, वह तथ्य है, वास्तविकता है, यथार्थता है, जो कह लीजिए।[17] इसी प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' में जब शेखर अपने अन्तर्मन में उठ रहे ज्वार का विश्लेषण करता है तो वहाँ विश्लेषणात्मक शैली झलकती है। शशि के प्रति शेखर के आकर्षण का विश्लेषण करते हुए लेखक लिखता है– ''...शशि की ओर उसकी यह समस्या केवल आन्तरिक नहीं है, बाह्य भी है, आध्यात्मिक प्यार की ही नहीं, बल्कि उस सारे जीवन की भी है।''[18]

विश्लेषणात्मक कहानियों में कथाकार पात्रों के परस्पर संबंधों और परिस्थितियों का विश्लेषण करता है। इस शैली में भावाकुलता से भिन्न बौद्धिक चिन्तन की विवृत्ति पाई जाती है। 'अमरवल्लरी', 'रमन्ते तत्र देवता', 'मेजर चौधरी की वापसी' आदि कहानियों में भी इस शैली का प्रयोग मिलता है।

मनोवैज्ञानिक तथ्यों के समावेश से अज्ञेय के कथा-साहित्य में संवेदनात्मक गहराई और विचार गाम्भीर्य आ गया है। डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र लिखते हैं कि– ''मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की वस्तु अचेतन मन की पृष्ठभूमि पर आधारित होती है। अचेतन में कोई वस्तु व्यवस्थित, सम्बन्धित, सुस्पष्ट नहीं होती। वहाँ तो सब गड़बड़ होता है, अव्यवस्था और बिखराव ही बिखराव होता है। उसे ज्यों का त्यों प्रकट करना है तो पुरानी वाक्य परम्परा से काम न चलेगा। अतः अचेतन की भावना का निर्वाह करने हेतु कथाकार अधूरे, अपूर्ण, सन्दर्भहीन, अव्यवस्थित और केवल संकेतों से भरे वाक्यों का प्रयोग करता है।''[19] मिश्र जी के कथन से मनोविश्लेषणात्मक शैली की विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अज्ञेय की यह प्रिय शैली है। सूक्ष्म मानसिक भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए कथाकार डॉट्स (बिन्दुओं), विस्मयबोधक चिह्नों, प्रश्नचिह्नों और पड़ी रेखाओं से युक्त इस शैली का प्रयोग करता है। 'नदी के द्वीप' से एक उदाहरण देखा जा सकता है– ''आज से छः महीने पहले तुम्हारे साथ आग के पास बैठा था, आग के डर से मुक्त होकर.....और आज– वह बड़ा दिन।''[20] 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के मानसिक उद्वेलनों तथा उसके अचेतन संघर्षों को मूर्त रूप देने के लिए अज्ञेय ने इस शैली का उपयोग किया है। 'अपने-अपने अजनबी' में योके और सेल्मा– दो स्त्री पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व तथा एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्यत् व्यवहार के अंकन में मनोविश्लेषणात्मक शैली प्रयुक्त हुई है।

'हीलीबोन की बत्तखें' मनोवैज्ञानिक आशय से समृद्ध कहानी है, जिसमें मनुष्य जीवन में गृहस्थ जीवन की और उसके अभाव में पैदा होने वाली निरर्थक रिक्तता का संकेत है। विलक्षण भाषाविषयक दक्षता के परिणामस्वरूप यह कहानी आरम्भ से ही जानदार बन गई है। इसमें कहानी सिर्फ इतनी है कि एक लोमड़ी बत्तख को खा जाती है, इसीलिए उसे गोली मार दी जाती है और मरणासन्न लोमड़ी को देखकर हीलीबोन उसकी करुणा से इतनी प्रभावित होती है कि वह अपनी बत्तखों को भी मार डालती है। विस्मयबोधक चिह्नों, प्रश्नचिह्नों और पड़ी रेखाओं से युक्त मनोविश्लेषणात्मक शैली में 34 वर्षीय अविवाहित हीलीबोन के जीवन का दस्तावेज़ संवेदनात्मक संस्पर्श के साथ प्रस्तुत किया गया है– ''आपका मकान बहुत साफ और सुन्दर है'', हीली ने एक रूखी-सी मुस्कान के साथ कहा– ''हाँ कोई कचरा फैलाने वाला जो नहीं है, मैं यहाँ अकेली रहती हूँ।''[21] यह वाक्य हीली के आन्तरिक खोखलेपन को प्रकट करता है।

इसी प्रकार 'रोज़', 'शान्ति हँसी थी', 'अकलंक' और 'वे दूसरे' आदि कहानियों में विलक्षण बिम्बों तथा शैली द्वारा मानव मन की उलझी गुत्थियों को खोलने और सुलझाने का प्रयास किया गया है।

कथाकार अज्ञेय ने पात्रों की विषम मनःस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। फलस्वरूप उनकी भाषा कहीं-कहीं दुरूह हो गयी है। प्रतीक कथाओं की गद्य-शैली सुष्ठु और मनोरागव्यंजक है। शब्दों का सटीक प्रयोग और उनके द्वारा गूढ़ार्थ व्यंजना अज्ञेय की अपनी विशेषता है। इस शैली में मन की अतल गहराइयों तक पहुँचने वाला पैनापन है। अज्ञेय जैसे व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक कथाकार को प्रतीक शैली की कथाओं में सर्वाधिक सफलता मिली है। 'शत्रु', 'आदम की डायरी', 'साँप' आदि कहानियाँ इसी शैली में लिखी गई हैं। 'शत्रु' कहानी का नायक ऐसा महसूस करता है कि समाज में कई स्तरों पर उसके खिलाफ साजिश हो रही है। वह एक के बाद एक मोर्चे पर लड़ता है और अन्त में थककर निराशा में आत्महत्या करने पर उतारू हो जाता है, तब उसे पता चलता है कि अपना सबसे बड़ा शत्रु वह स्वयं है। इस तरह से पूरी कहानी में प्रतीकात्मक रूप में इसी तथ्य की व्यंजना हुई है कि मनुष्य अपना शत्रु स्वयं होता है। सबसे पहले उसे अपने ही भीतर के दुश्मन (कुप्रवृत्तियों) से लड़ना पड़ता है। इसी प्रकार 'साँप' कहानी में भी कोई घटना नहीं है। यह मनःस्थितियों की कहानी है। कहानी में 'साँप' को कामचेतना का प्रतीक माना गया है। अज्ञेय ने इस प्रतीक द्वारा प्रेमी-प्रेमिका की मनःस्थितियों की व्यंजना की है। 'अछूते फूल' भी इसी कोटि की कहानी है, जिसमें छब्बीस वर्षीय अविवाहित मीरा की मानसिक कुंठा का प्रतीक है– 'मुरझाया हुआ, कुचला हुआ, गर्मी और पसीने और दबाव से अपनी सफेदी खोकर काला पड़ा हुआ फूल।''[22] 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास में योके की द्विधात्मक मनःस्थिति

का प्रतीक उसका आक्रामक व अस्थिर व्यवहार है। ज्वाला प्रसाद खेतान लिखते हैं कि– ''मनोविज्ञान के अनुसार विफलता से जनित अधिकांश व्यवहार स्वभावतः आक्रमणशील होता है।''[23] अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' में चारों पात्र चार भिन्न संवेदनाओं के प्रतीक हैं। इसमें मानव-मन की संवेदनाओं एवं भावनाओं के साथ बौद्धिक प्रतिक्रियाओं का प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण किया गया है।

इसके अतिरिक्त अज्ञेय ने मानव मन के सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए निबन्ध, आत्मकथात्मक, संवाद, यात्रा और संस्मरण आदि शैलियों का भी प्रयोग किया।

इस प्रकार अज्ञेय की शैली एक सोचते हुए व्यक्ति का आलाप है। अज्ञेय की गद्य शैली में अलंकरण भी है, रोमानीपन भी है और प्रकृति तथा ऋतुओं के विलास को मानवीय सुख-दुःख के साथ जोड़ने का प्रयास भी है। अज्ञेय की भाषा निरन्तर विकासवान और परिनिष्ठित गद्यभाषा है। उन्होंने विशेष रूप से तत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग नहीं किया और न ही किसी अन्य भाषा के शब्दों को प्रमुखता दी। सभी भाषाओं के शब्द मिलकर अज्ञेय की अभिव्यक्ति को सप्राण बनाते हैं। वैविध्यपूर्ण शब्द चयन इनकी भाषा को सुगढ़ता प्रदान करता है। अज्ञेय ने अंग्रेजी भाषा के प्रति अधिक मोह प्रदर्शित किया है। इनके अनुसार अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भाषा को और समृद्ध बनाता है। चूँकि अज्ञेय कवि भी हैं, इसीलिए इनकी शैली में काव्यात्मकता स्पष्ट झलकती है। संक्षेप में अज्ञेय की गद्य-शैली को सूत्रबद्ध करके कहा जा सकता है कि अज्ञेय का काव्य गद्यात्मक है और गद्य काव्यात्मक। यह अन्तर्विरोध इनकी भाषा एवं शैली को विशिष्टता, विलक्षणता और अद्वितीयता प्रदान करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बटरोही, कहानी संवाद का तीसरा आयाम, पृ. 178
2. कमलेश्वर, नयी कहानी की भूमिका, पृ. 18
3. राजेन्द्र यादव, कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ. 112
4. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी नवलेखन, पृ. 50
5. डॉ. देवराज उपाध्याय, आधुनिक समीक्षा, पृ. 138
6. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ. 56
7. अज्ञेय, त्रिशंकु, पृ. 23
8. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ. 269
9. अज्ञेय, कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ, पृ. 10
10. वही, (द्रोही), पृ. 101
11. वही, (कोठरी की बात), पृ. 143
12. अज्ञेय, लिखि कागद कोरे, पृ. 57
13. अज्ञेय, कड़ियाँ और अन्य कहानियाँ (कोठरी की बात), पृ. 124
14. अज्ञेय, लौटती पगडंडियाँ, (बसंत), पृ. 313
15. अज्ञेय, हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ. 111
16. डॉ. नामवर सिंह के व्याख्यान के आधार पर
17. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ. 14
18. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी, पृ. 230
19. डॉ. दुर्गाशंकर मिश्र, अज्ञेय का उपन्यास साहित्य, पृ. 232
20. अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ. 390
21. अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, (हीलीबोन की बत्तखें), पृ. 537
22. अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ (अछूते फूल), पृ. 353
23. डॉ. ज्वाला प्रसाद खेतान, अज्ञेय : एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ. 8

भट्टिकाव्यस्यासाधारणत्वम्

प्रो. मनुलता शर्मा एवं बृहस्पतिभट्टाचार्यः***

व्याकरणकेसरिमहाकविभट्टेः ''भट्टिकाव्यम्'', व्याकरणार्णवपीयूषं द्वाविंशतिसर्गात्मकं वीररसप्रधानं महाकाव्यम्। इदमेव महाकाव्यस्यास्य प्रसिद्धतमं नाम, अपि च, ''रावणवधम्, ''रामविजयम्'', रामचरितम्'', इत्यादिन्यपि नामान्तराधि श्रूयन्ते महाकाव्यस्यास्य।

अस्य नायको धीरोदात्तो रघुकुलविभूषकः श्रीरामचन्द्रः, नायिका च मुग्धा स्वकीया सतीरत्नं सीता, प्रतिनायकस्तु धीरोद्धतो लङ्काधिपती रावणः।[1]

महाकाव्येऽस्मिन् व्याकरणस्य विचित्राः प्रयोगाः सन्ति। व्याकरणसाहित्योभयभयं विनाशयति महाकाव्यमिदम्। काव्यस्यास्योद्भटभट्टत्वं साहित्यशास्त्रे प्रसिद्धतमं दुर्लभतमञ्च एवञ्च साहित्यसंसारे साहित्यरत्नाकरस्य रत्नरूपमिदं काव्यम्, न केवला साहित्यदिशा अपितु विशेषतया व्याकरणदिशा अस्योपजीव्यता भट्टभीमहेमचन्द्रवासुदेवहलायुधकविप्रभृतिभिः स्वीकृताः। अपि च, दुर्घटवृत्तिकारः शरणदेवः, सिद्धान्तकौमुदीकारः भट्टोजीदीक्षितः शब्दकौस्तुभकारश्च स्थाने स्थाने काव्यस्यास्योदाहरणानि उद्धृतवन्तः।

भट्टिकाव्यस्य वैयाकरणोद्भटभट्टत्वं काव्यस्यास्यासाधारणो धर्मः। अत एव, कानिचिदुदाहरणानि प्रस्तूय महाकविभट्टेः वैयाकरणचमत्कृतिमारोपयामि पुरुतः–

अभून्नृपोविबुधसखः परन्तपः श्रुताऽन्वितो दशरथः इत्युदाहृतः।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमतः स्वयम्।[2]

अभून्नृपो विबुधसखः, अत्र ''परोक्षे लिट्'' इति स्थाने लुडिति प्रयुक्तः। कथमिति विश्रोदये?

शरणदेवभट्टोजिदीक्षितौ विवृतौ यत् सामान्यभूतत्वेन लुङलकारस्य प्रयोगोऽपि साधुः। अपि चोक्तं बृहद्वैयाकरणभूषणे–

ह्यो भूते प्रेरेणादौ च भूतमात्रो लङादयः।
सत्यां क्रियातिपत्तौ च भूते भाविनि लृङ्स्मृतः।।[3]

''लुङर्थमाह- **भूतमात्रे** इति। **भूते** इत्यधिकारे लुङ इति सूत्रात्, यथा– **अभूत्** इत्यादि। तत्र विद्यमानध्वंसप्रतियोगित्वं भूतत्वम्, तञ्च - क्रियायां निर्बाधमिति विद्यमाने घटेऽपि घटोऽभूत्, इति प्रयोगः।''[4]

कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः प्राक्केकयीतो भरतस्ततोऽभूत्।
प्रासोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्टोका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन।।[5]

सामान्यतः, ''कैकय'', इति शब्दात् कैकेयीति प्रसिद्धः, परन्तु भर्गादिगणे ''केकय'' शब्दोऽपि वर्तते येन केकयी शब्दोऽपि कैकयीति अर्थे साधुः जन्यजनकभावत्वेन, श्रीमद्भट्टोजीदीक्षितेन स्वशब्दकौस्तुभे स्पष्टकृतमिदम्।

प्रौढमनोरमायां पुंग्योलक्षणया केकय-कैकय, उभौ शब्दौ साधू यतः पुंग्योगलक्षणा न केवलं दाम्पत्यसम्बन्धे अपितु जन्यजनकभावत्वेऽपि सम्भवति–

''योगेश्रेऽह दम्पत्तिभाव एवत्येके/
वस्तुतस्तु संकोचे मानाभावोऽपि गृह्यते।''
तं यायजूकाः सह भिक्षुमुखैस्तपःकृशा शान्त्युदकुम्भहस्ताः।
यायावराः पुष्पफलेन चाऽन्ये प्रानेर्चुरर्च्या जगदर्चनीयम्।।[6]

अत्र केचित् कथयन्ति यत् यायावर, इति शब्दोऽशुद्धः यतः ''यङ'' उपसर्गः गत्यर्थकानां धातूनां सहकारी भवति, कौटिल्ये अर्थे (नित्यं कौटिल्ये गतौ)।[7]

अत्र, शरणदेवः समादधति यत् सर्वे गत्यर्थकाः धातवः ''ज्ञानम्'', इत्यर्थमपि अवगहनन्ति, अत एव, अत्र यङुपसृष्टयार्थः प्रबुद्धः ज्ञानवान् इत्यर्थे प्रस्फुटयति।

अनेकशो निर्जितराजकस्त्वं पितृनताप्सीर्नृपरक्ततोयैः।
संक्षिप्य संरम्भसद्विपक्षं काऽऽस्थाऽर्भकेऽस्मिंस्तव राम! रामे।।[8]

अत्र क्षिप्, इति धातुविशेषस्य को गण इति वेदितव्यं यतः भट्टिकाव्ये दिवादिगणीये अन्तर्भूतीकृत्य प्रयोगः दृश्यते। ''दैवम्'', इत्याख्यातः कश्चिद्

---

*विभागाध्यक्षा, संस्कृतविभागः कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः।
**शोधाच्छात्रः, संस्कृतविभागः कलासङ्कायः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः।

1. भट्टिकाव्यम्, व्या. रेग्मी शेषराजशर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज।
2. बृहद्वैयाकरणभूषणस्य लकारार्थनिर्णयस्य त्रयोविंशति कारिका।
3. अधिरुपालिम्, बृहद्वैयाकरणभूषणस्य टीकाया, पृ. 14 ।
4. भट्टिकाव्यम् (1/14)
5. भट्टिकाव्यम् (2/20)
6. अष्टाधायी 3/1/23
7. भट्टिकाव्यम् (2/52)
8. भट्टिकाव्यम् (3/22)

ग्रन्थकारेण देवेनोक्तं यत् प्रेरणार्थे क्षिप्धातोः दिवादिगणीयः प्रयोगः कृतः महाकविभट्टिना। अपि च, कश्चिद् जयादित्याचार्यः दिवादौ तुदादौ च गणौ ''क्षिप् प्रेरणे'' इति स्वीकृतः। सायणाचार्योऽपि ''क्षिप्'' प्रत्ययः दिवादौ एव स्वीकृतवान्। परन्तु, जयमङ्गलाचार्येण ''संक्षिप्य'' इत्यस्यार्थः ''उपसंहारः'' इति कृतः (संरम्भं क्रोधं संक्षिप्य उपसंहारः)।

विचुकृशुर्भूमिपतेर्महिष्यः केशॉल्लुलुञ्चुः स्ववंपूषि जघ्नुः।
विभूषणान्युन्मुमुचुः क्षमायां पेतुर्बभञ्जुर्वलयानि चैव॥[9]

''महिषी'' इत्योपरि शरणदेवाचार्यः आपत्तिराविष्कृतः सप्रमाणम्। कथयति आचार्यः यत् ''महिषी'' राज्ञः प्रधाना रानी (पट्टरानी) भवति, स तु एका एव तर्हि कथं बहुत्वप्रयोगः यतः बहुवचनन्तु ''बहुषु बहुवचनम्, इत्यनेनैव संभवति।

विश्नस्यास्य उत्तरम्- ''जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्'' इत्यनेन महिषीत्व इत्यभिप्राये ''महिष्यः'' प्रयोगः साधुः। अपि च, जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्यामिति सूत्राश्रयेण क्लेशो नापेक्षते यतो हि महिषीत्वं गुणः न तु जातिः। जातिः जन्मना व्यावर्तिका भवति, यथा-महिषस्त्री महिषी, तत्र महिषीत्वं जातिः।

जातिपदार्थवादीमीमांसकानां मते जातिशब्दः व्यावर्तकमात्रपरः, तेन कवितापाठकादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तकानामपि जातित्वे व्यवहारः, तदुक्तं महाभाष्यस्य द्वितीयाह्निके ''ऋत्वक्'' सूत्रे ''त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाश्च। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।''

एवञ्च, सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिजातिरेव वा, इति आचार्यमम्मटकृतकाव्यप्रकाशद्वितीयोल्लासोक्तकारिकाविवरणे चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः, कथमिदं कथं संगच्छते? इति विद्वद्भिर्विचार्यते।

सहैव, कृताभिषेका एव भवति चेत्यपि शिष्टाचारपरम्परानुसारमादरार्थे बहुवचने सति ''महिष्यः'' प्रयोगोऽयं साधुः।

यद्यहं नाथ! नायास्यं विनसा हतबान्धवा।
नाऽज्ञास्यस्त्वमिदं सर्वं प्रमाद्यंश्चारदुर्बलः॥[10]

शरणदेवाचार्यैः ''विनसा'' इति पदे विश्न उत्थापितः यतः ''वेर्ग्रो वक्तव्यः'' ''ख्यश्च'', इति वार्तिकद्वयेन व्युपसृष्टानासिकया शब्देन सह विग्रः विख्यो वा एव सिद्धयति।

तर्हि कथं विनसा?

प्रसङ्गेऽस्मिन्, दीक्षितभट्टोजिः स्वसिद्धान्तकौमुद्यां समादधति यत् ''पद्दन्नोमासह्नन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस् प्रभृतिषु (6/1/63)'', इत्यनेन नासिका स्थाने नसादेशो भवति, अत एव व्युपसृष्टेन नस् ''विनसा'' इति सिद्धे ''विनसा'' तृतीयैकवचनान्तं रूपम्, न तु प्रथमान्तम्, अत एव नास्त्यत्र कोऽपि दोषः।

रामाधीतसन्देशो वायोर्जातश्च्युतस्मिताम्।
प्रभवन्तीमिवादित्यादपश्यत् कपिकुञ्जरः॥[11]

अत्र सायणाचार्यः स्वमाधवीययधातुवृत्तौ प्रतिपादयति यत् ''अधीत्, पदस्यास्य ''रामस्य'' इत्यनेन संयोजनं नोचितं यतः गुरुनुच्चारणानुकूलव्यापरे अर्थे ''आख्यातोपयोगे'' इत्यनेन पञ्चमी भवति।

परन्तु, अत्र ईदृशो विषयो नास्ति यतः जयमङ्गलाचार्यः मल्लिनाथाचार्यश्च उभौ प्रतिपादयतः यत् सावधानतया सन्देशग्रहणान्नियमपूर्वकविद्याग्रहणवत् सन्देशग्रहणं भवति।

अपि च,

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

इत्यनेन कवेरधिकारो वर्तते नूतनप्रकल्पनायाः। यथा, रघुवंशस्य चतुर्थे सर्गे रघुदिग्विजयप्रसङ्गे-

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः।
पौलत्स्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम्॥[12]

अत्र कैलाशपर्वतस्य लज्जा भवतीति प्रसङ्गः, किमेष सम्भवः? परन्तु, काव्यसंसारे नूतनप्रकल्पनया सहृदयहृदयाह्लादो भवति, यमुत्तमकाव्यस्य हेतुरिति दिक्।

अवसन्नरुचिं वनाऽऽगतं तमनाऽऽमृष्टजोविधूसरम्।
समपश्यदपेतमैथिलीं दधतं गौरवमात्रमात्मवत्।

अत्र सायणाचार्यः प्रतिपादयति ''अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः''[13]

इतिसूत्रेण ''सुखापेतः'' (सुखेन अपेतः इत्यर्थे) सिद्धयति। अत एव, मैथिल्यपेतं भवितुमर्हति, कथम् अपेतमैथिलीम्?

उत्तराणि सन्ति-

1. पूर्वोक्तं सूत्रं तत्पुरुषप्रकरणस्यान्यतमोऽङ्गः, परन्तु अपेतमैथिलीम्, इत्यत्र बहुव्रीहिः समस्यते।
2. बहुव्रीहो ''क्तान्तं पूर्वम्'' इति नियमात् ''अपेत्'' शब्दस्य पूर्वनिपातः।
3. ''नञ्यृतश्च'', इत्यनेनसमासान्त-कप्-प्रत्ययस्य प्राप्तिः।

9. भट्टिकाव्यम् (5/8)
10. भट्टिकाव्यम् (8/72)
11. रघुवंशम् (4/80)
12. भट्टिकाव्यम् (10/34)
13. भट्टिकाव्यम् (15/16)

4. समासान्तविधेरनित्यवात् तदभावः।

5. समासान्तविधेरनित्यत्वे प्रसिद्धं प्रमाणन्तु ''प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे (6/2/193)''। अत्र अंश्वादिगणे ''राजन्'' इति पठ्यते, तेन ''प्रतिराजम्'' इत्यत्र अन्तोदात्तसिद्धिः किन्तु प्रतिराजमित्यत्र ''राजाहस्सखिभ्यश्टच्'' इति समासान्त टचो विधानात् प्रतिराजम्, इत्यत्र टचस्चित्वेन ''चित्:'' इति सूत्रेण इत्यनेनैव अन्तोदात्तसिद्धौ अंश्वादिगणे राजन्निति शब्दपाठः व्यर्थः सन् समासान्तविधेरनित्यत्वं ज्ञापयतीति मान्याः।

राघवस्यामुषः कान्तामाप्तैरुक्तौ न चार्पिपः।
मा नानुभूः स्वकान् दोषान् मा मुहो मा रुषोऽधुना॥[14]

सायणाचार्येण ''अमुषः'', इत्यस्मिन् ''मुष् खण्डने'' धातु स्वीकृता। प्रतिपादयति आचार्यः यदात्रेय-कातन्त्रे व्याकरणे विहाय समस्तेषु व्याकरणेषु ''मुस् खण्डने'' इत्येव स्वीकृता।

भट्टिकाव्यस्य प्रयोगेऽस्मिन् उभौ पक्षौ साधू, प्रयोगस्यास्य वैशिष्ट्यमिदम्।

भ्रेमुर्वल्मुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुष्लुछिरे निषेदुः।
आस्फोटयाञ्चक्रुरभिप्रणेदु रेजुर्ननन्दुर्विययुः समीयुः॥[15]

श्लोकेऽस्मिन् भ्रेमुः, ववल्गुः, ननृतुः, जजक्षुः, जगुः, समुत्पुप्लुविविरे, निषेदुः, आस्फोटयाञ्चक्रुः, अभिप्रणेदुः, रेजुः, ननन्दुः, वियुयुः, समीयुः, एतेषु समेषु पदेषु एकमपि सुबन्तपदं नास्ति, परन्तु महाकविना भट्टिना सुबन्तपदमन्तरेणापि केवलं धातुप्रयोगैः, स्वीयकाव्यप्रवाहः गङ्गाप्रवाह इव कृतम्।

उपसंहारतः, इदमेवावितथं तथ्यं कथ्यं शोपत्रस्यास्य पथ्यं वर्तते यदाचार्येण भट्टिना स्वीये भट्टिकाव्ये वहवः- अप्रसिद्धाः प्रयोगाः कृताः, येषां शुद्धाशुद्धत्वविषये वैयाकरणाचार्याणां मध्ये महान्तः विचाराः सञ्जाताः ये अस्याः रचनायाः वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति, प्रमाणयति चायं ग्रन्थः महाकविभट्टेः व्याकरणारणिसम्भूतोऽयं महाकाव्ययज्ञः।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. भट्टिकाव्यम् भाग-1 (सर्ग 1-6), पं. शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1995।
2. भट्टिकाव्यम् भाग-2 (सर्ग 7-11), पं. शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1995।
3. भट्टिकाव्यम् भाग-3 (सर्ग 12-22), पं. शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1995।
4. बृहद्वैयाकरणभूषणम्, पं. मनुदेवभट्टाचार्येण संपादितम्, चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984 ।
5. अष्टध्यायीसूत्रपाठः, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2008 ।
6. भट्टिकाव्य एवं पाणिनीय व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. शशिबाला, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली।

14. भट्टिकाव्यम् (13/28)

योगदर्शनदृष्ट्या तत्त्वविमर्शः

अनूपकुमारमिश्रः एवं प्रो. कृष्णकान्तशर्मा***

योगदर्शने षड्विंशतिसंख्यकानि तत्त्वानि वर्तन्ते तद्यथा- परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृतिः, महान्, अहङ्कारः, मनः, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राणञ्चेति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि। वाक्, पाणिः, पादः, पायुः, उपस्थश्चेति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि। शब्दः, स्पर्शः, रूपं, रसः, गन्धश्चेति पञ्चतन्मात्राणि। पृथिवी, जलं, तेजः, वायुः, आकाशं चेति पञ्चमहाभूतानि वर्तन्ते। तथा परमेश्वर एक एव। योगदर्शने ईश्वरस्य लक्षणमेवं कृतं भगवता पतञ्जलिना–

''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः''[1] इति। जीवात्मानः प्रतिशरीरं भिन्ना अपरिमिता नित्याः, चेतनाः, अल्पज्ञाः, सुखादिमन्त इव सन्ति। **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**[2] इति सूत्रे भगवता पतञ्जलिना जीवात्मनः सविस्तरं वर्णनं कृतम्। प्रकृतिः, माया, अविद्या, अन्धन्तमः, अजा, त्रिवर्णा चेति प्रकृतेः पर्यायाः। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिर्वर्तते[3] इति। तथा संसारस्य मूलकारणात्मिका नित्या, जडा, कर्त्री अपि सैव वर्तते। तस्याः प्रकृतेः संसारस्य आविर्भावो भवति। संसारस्य सृष्टिक्रमे सांख्यकारिकाकारेणापि उक्तम्–

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः॥[4] इति।

सृष्टिप्रारम्भसमये पुरुषार्थेन प्रेर्यमाणाः सत्त्वरजस्तमोगुणाः विरूपपरिणामाः भवन्ति। स च विरूपपरिणामः गुणानां न्यूनाधिकतया भवति। यदा त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः गुणेषु वैषम्यं भवति तदा महत्तत्त्वं समुद्भवति। महत्तत्त्वस्य अपराभिधानं बुद्धिरस्ति, इदं महत्तत्त्वं बुद्धिसंज्ञकम् अन्तःकरणमपि उच्यते। अतः तस्याः बुद्धेः अध्यवसायो नाम व्यापारोऽस्ति 'ममेदं कर्त्तव्यमित्याकारको बोधो दीपशिखावद् भवति बुद्धेः परिणामः। आचार्यैः बुद्धेः लक्षणं कृतं यत् तादात्म्यसम्बन्धेन तादृशव्यापारवत्त्वम् अहङ्कारकारणत्वे सति प्रकृतिकार्यत्वम् इति।

तस्माद् महत्तत्त्वाद् अहङ्कारस्य प्रादुर्भावो भवति। अहङ्कारस्य असाधारणव्यापारः अभिमानोऽस्ति। अहङ्कारोऽपि अन्तःकरणम्। स च त्रिविधः सात्त्विकाहङ्कारः, राजसाहङ्कारः तामसाहङ्कारश्चेति। सात्त्विकाहङ्कारान् मनः, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राणं चेति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्, पाणिः, पादः, पायुः, उपस्थश्चेति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि इति सात्त्विकाद् अहङ्काराद् एकादशेन्द्रियाणि समुद्भवन्ति। मनसस्तु संकल्पो व्यापारो भवति। अर्थान् मनसः असाधारणो धर्मः व्यापारः संकल्पोऽस्ति। तथा मनोऽपि अन्तःकरणमिति उच्यते। मन उभयात्मकमुच्यते अर्थाद् ज्ञानेन्द्रियैः सह मनः ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियैः सह च मनः कर्मेन्द्रियमपि भवति। अतः बुद्धिः अहङ्कारः मनश्चेति त्रीणि अन्तःकरणानि भवन्ति। केचित्तु विद्वांसः चत्वारि अन्तःकरणानि मन्यन्ते।

योगशास्त्रानुसारेण श्रोत्ररूपिण्या इन्द्रियप्रणाल्या चित्तं विषयं यावद् गत्वा यदा विषयाकारेण परिणमते, तदा चित्तस्य सा विषयाकाराकारिता एव चित्तस्य वृत्तिः प्रमाणं वा उच्यते। योगसूत्रव्यासभाष्ये व्यासदेवेन कथितं यथा–

''इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति''[5] अर्थाद् इन्द्रियरूपिण्या प्रणाल्या बाह्यवस्तुनः सम्पर्को भवति तस्मात् सम्पर्कात् तत्- पदार्थविषयिणी बुद्धिवृत्तिः भवति अर्थाद् बुद्धेः तदाकाराकारिता भवति एषा बुद्धिः यस्य पदार्थस्य आकारेण आकारिता भवति स पदार्थः स्वसामान्यविशेषधर्माभ्यां युक्तो भवति। अत एव तस्य अर्थस्य उभयाकाराकारिता भवति। प्रत्यक्षप्रमाणे सामान्यधर्मः विशेषधर्मश्च भवतः। प्रत्येकपदार्थे कश्चित् तज्जातीयधर्मो भवति कश्चिद् वैयक्तिकधर्मः। अत एव प्रत्येकपदार्थः सामान्यविशेषात्मा भवति। यद्यपि सामान्यमपि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तथापि विशेषं प्रत्युपसर्जनीभूतमित्यर्थः। एतच्च साक्षात्कारोपलक्षणं तथा च विवेकख्यातिरपि लक्षितं भवति सांख्य-कारिकाकारेणापि उक्तम्–

सान्तःकरणाबुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥[6]

इत्थं त्वग्रूपिण्या इन्द्रियप्रणाल्या शीतोष्णादिस्पर्शस्य प्रत्यक्षं भवति। चक्षूरूपिण्या इन्द्रियप्रणाल्या शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रविचित्ररूपाणां प्रत्यक्षं भवति। घ्राणरूपिण्या इन्द्रियप्रणाल्या सुगन्धदुर्गन्धयोः प्रत्यक्षं भवति। तस्मात् पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामपि व्यापारो भवति यथा- श्रोत्रेन्द्रियप्रणाल्या शब्दग्रहणं भवति। त्वगिन्द्रियप्रणाल्या स्पर्शग्रहणं भवति। नेत्रेन्द्रियप्रणाल्या रूपग्रहणं भवति। जिह्वेन्द्रियप्रणाल्या रसग्रहणं भवति। एवं वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि चापि भवन्ति। वागिन्द्रियात् शब्दोच्चारणं भवति। पाणीन्द्रियाद् आदानप्रदानात्मकव्यापारो भवति। पादेन्द्रियाद् गमनक्रिया भवति। पाय्विन्द्रियाद् मलोत्सर्गादिक्रिया भवति। उपस्थाद् आनन्दो भवति। कर्मेन्द्रियाणां क्रिया प्रधाना भवति। तदनन्तरं तामसाहङ्कारात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानि सूक्ष्मतन्मात्राणि प्रादुर्भवन्ति। इमानि एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि च षोडशको गणः केवलं कार्यमस्ति।

---

*शोधच्छात्रः, वैदिकदर्शनविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी
**निर्देशकः, वैदिकदर्शनविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

अहङ्कारे राजसाहङ्कारस्य स्वतन्त्रं कार्यं नास्ति अपितु सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया न कार्यं कुरुतः अपितु रज एव चालयति सत्त्वतमसी। तथा पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि जायन्ते। शब्दतन्मात्राद् आकाशम्। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः। शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्राज्जलम्। शब्दस्पर्शरूप-रसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् पृथिवी इत्येवं पञ्च-सूक्ष्मतन्मात्रेभ्यः स्थूलपञ्चमहाभूतानि आविर्भवन्ति तेषामेव भूतानां विकाराः घटपटशरीरादयः सर्वे अवलोक्यन्ते सोऽयं संसार इति।

तदित्थं संसारेऽस्मिन् षड्विंशतितत्त्वातिरिक्तं किमपि तत्त्वं न वर्तते इति योगदर्शनस्य सिद्धान्तः। घटपटादयः गोवृक्षादयश्च पदार्थाः न पृथिव्यादिभ्यो भिद्यन्ते अतो न तत्त्वान्तरम्।

योगशास्त्रे षड्विंशतितत्त्वानि सन्ति, परन्तु वैशेषिकदर्शने ये पदार्थाः सन्ति ते योगशास्त्रस्यैतेष्वेव तत्त्वेषु अन्तर्भवन्ति। यथा – चेतनं, प्रकृतिः, महत्तत्त्वम्, अहङ्कारः, मनः, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राणं, वाक्, पाणिः, पादः, पायुः, उपस्थः, शब्दः, स्पर्शः, रूपं, रसः, गन्धः, पृथिवी, जलम्, तेजः, वायुः, आकाशं चेति यानि तत्त्वानि सन्ति तानि तत्त्वानि द्रव्यशब्देन कथ्यन्ते। एतेषु तत्त्वेषु वैशेषिकाणां द्रव्यं, गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषः, समवायः, अभावश्चेति सप्तानां पदार्थानामन्तर्भावो भवति। योगदर्शने यानि तत्त्वानि पृथ्वी, जलम्, तेजः, वायुः, आकाशम्, आत्मा, मनः चेति इमानि तत्त्वानि यथा वैशेषिकदर्शने सन्ति तथैव योगदर्शनेऽपि समानरूपेण वर्तन्ते। नास्ति काचिद् भिन्नता। 'कालस्य' क्षणरूपे उपाधौ 'अन्तर्भावो भवति।' दिशः प्रदेशे अन्तर्भावो भवति। अत एव दिक्कालौ च न स्तः पृथक् तत्त्वे। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्या ये गुणाः सन्ति ते योगस्य तन्मात्रात्मकसूक्ष्मतत्त्वान्येव। पृथिव्यादीनि यानि पञ्चभूतानि सन्ति तानि योगस्य स्थूलभूतानि सन्ति। अर्थात् सूक्ष्मतन्मात्राणां विकाराः कार्याणि पञ्चमहाभूतानि सन्ति। संख्या द्रव्यवृत्त्या स्वाधिकरणे अन्तर्भवति। परिमाणम्, द्विविधम्, अणु-परिमाणं महत्-परिमाणं चेति। तच्च पञ्चभूतेषु तिष्ठतीति तेषु एव अन्तर्भूतमस्ति 'इदमस्मात् पृथक्' अस्याः प्रतीतेः विषयः पृथक्त्वमस्ति, तस्य निर्वाहः 'इदमेतद्भिन्नम्' अस्याः प्रतीतेः एव भवति। अतः पृथक्त्वस्य भेदे अन्तर्भावो भवति। भेदस्य अर्थः अन्योऽन्याभावः, स च अधिकरणस्वरूपः। अतः पृथक्त्वं तत्त्वान्तरूपेण स्वीकर्तुं नास्ति काचिद् आवश्यकता।

संयोगः – अयम् एकः सम्बन्धः अस्ति। चतुर्विंशतितत्त्वेषु तिष्ठति अयं धर्मः। अत एव तत्तदधिकरणे अन्तर्भूतोऽस्ति।

विभागः – अयं संयोगाभावरूपोऽस्ति, अतिरिक्ततत्त्वं नास्ति। संयोगाभावः अधिकरणात्मक एव। अतः सोऽपि चतुर्विंशतितत्त्वेषु अन्तर्भवति।

परत्वाऽपरत्वे- इदं श्रेष्ठत्वरूपं कनिष्ठत्वरूपमस्ति। अथवा अधिकत्वरूपं न्यूनत्वरूपमस्ति, ते अपि स्वाधिकरणरूपे एव।

गुरुत्वम् - पृथ्वी- जलयोरन्तर्भवति।

द्रवत्त्वम् - पृथ्वी- जल-तेजस्सु अन्तर्भवति।

स्नेहः – जले अन्तर्भूतोऽस्ति।

बुद्धिः – पृथक् तत्त्वमस्ति।

सुखम्, दुःखम्, इच्छा, द्वेषः, प्रयत्नः, धर्मः, अधर्मः, संस्कारश्चेति ये बुद्धिधर्माः सन्ति ते बुद्धौ अन्तर्भवन्ति। कार्यकारणयोः तादात्म्यात् सर्वेषां कार्याणां स्वस्वकारणे अन्तर्भावो भवति।

कर्म - प्रादुर्भूतं तिरोभूतं वा अनेकप्रकारं भवति, अतस्तत् स्वस्व-चतुर्विंशतितत्त्वात्मकाधिकरणेषु अन्तर्भवति।

सामान्यम् - व्यावर्तको धर्मोऽस्ति। यथा- पृथ्वीत्वम्, मनस्त्वमादि। सोऽपि धर्मः स्वाधिकरणे अन्तर्भवति।

विशेषः – योगेन न विशेषपदार्थः स्वीकृतः, यतो हि चेतनेभ्यः प्रकृत्यादिः स्वस्वधर्मेण (सूक्ष्मता) एव व्यावृत्तो भवति अतः तया व्यावृत्त्या एव निर्वाहे नास्ति अतिरिक्तस्य विशेषस्य आवश्यकता।

समवायः – योगेन समवायः न स्वीकृतः, यतो हि संयोगतादात्म्याभ्यामेव निर्वाहो भवति यथा– येषु कार्यकारणभावो न भवितुमर्हति तेषु पदार्थेषु संयोगो भवति येषु च कार्यकारणभावो भवितुमर्हति तेषु पदार्थेषु तादात्म्यं भवति।

अभावः – प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, अन्योन्याभावः, अत्यन्ताभाव, इति चत्वारो भेदा भवन्ति अभावस्य। परन्तु योगेन प्रागभावप्रध्वंसाभावौ न स्वीक्रियेते। अत्यन्ताभावान्योन्याभावौ च स्वाधिकरणरूपौ। अतः स्वाधिकरणस्वरूपे एव तौ अन्तर्भवतः। अतः तयो; तत्त्वान्तरत्वं न मन्यते।

चेतनः – जीवेश्वरयोः भेदेन चेतनो द्विविधः तयोः 'जीवः' पुरुषः अस्ति, यः निर्गुणः, निष्क्रियः, नित्यः, शुद्धः, बुद्धः, मुक्तस्वभावश्च अस्ति। तस्मिन् यद्यपि धर्माणाम् आभासोऽपि भवति तथापि ते प्रकृतिधर्माभावरूपत्वाद् अधिकरणरूपाः। अर्थात् चेतनात्मकः जीवः, 'परमेश्वरः' सर्ववित्, नित्यज्ञानैश्वर्यशाली अस्ति।

तदित्थम् अन्यदार्शनिकाभिमतानां पदार्थानां योगदर्शने षड्विंशतितत्त्वेषु एव अन्तर्भावात् षड्विंशतितत्त्वानि योगदर्शने स्वीक्रियन्ते। यानि च व्यावहारिकानि सन्ति।

संदर्भ

1. योगसूत्रम्, 1/24
2. योगसूत्रम् , 1/3
3. सांख्यसूत्रम्, 1/61
4. सांख्यकारिका, 3
5. योगसूत्रव्यासभाष्यम्, 1/7
6. सांख्यकारिका, 35

दशरूपक में वर्णित नाट्य-वृत्तियों पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव

सुशीला कुमारी मीणा एवं उमेश प्रसाद सिंह***

आचार्य भरत के पश्चात् नाट्यशास्त्र पर स्वतंत्र रचना करने वाले दशरूपककार आचार्य धनञ्जय हैं। दशरूपक नामक रचना का मूल आधार भरतकृत नाट्यशास्त्र रहा है। अतः दशरूपक में नाट्य-विषयक निह्नपण का मूल आधार भरत नाट्यशास्त्र है। आचार्य धनञ्जय ने नाट्य के तीन भेदक तत्त्व माने हैं– (1) वस्तु (2) नेता, और (3) रस। इनमें से नेता अर्थात् नायक होता है। आचार्य धनञ्जय के अनुसार नायक आदि के मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार को ही नाट्य में वृत्तियाँ कहा है। धनञ्जय ने भी नाट्यवृत्तियाँ चार ही मानी है।

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यवृत्तियाँ चार मानी हैं। नाट्य-वृत्तियों का प्रयोग अभिनय के प्रसंग में किया जाता है। विलासविन्यास प्रधान होने के कारण प्रतिपादित वृत्तियों का सम्बन्ध विशेष रूप से अभिनय से है। अतएव उनका मुख्य क्षेत्र नाट्य है। अभिनेता के लिए जो नाट्य है, वही दर्शक के लिए नाटक है।

दशकरूपक में वर्णित नाट्य-वृत्तियाँ

नाट्य-वृत्ति-निरूपण- नायक के व्यापार (अर्थात् नायक की वृत्ति) को बतलाया जा रहा है-

(अ) कौशिकी-वृत्ति- उस (नायक) के व्यापार (अर्थात् स्वभाव) को ही 'वृत्ति' कहते हैं। यह चार प्रकार की होती हैं। उन चारों में 'कैशिकी-वृत्ति' उसे कहते हैं जो नृत्य, गीत एवं विलास इत्यादि शृङ्गारिक चेष्टाओं से सुकुमारता को प्राप्त हो– (1) नर्म, (2) नर्मस्फिञ्ज, (3) नर्मस्फोट तथा (4) नर्म-गर्भ- भेद से चार अंगों वाली होती हैं।

(1) नर्म (नर्म का लक्षण एवं उसका भेद)

प्रिय को प्रसन्न करने वाली चातुर्य से युक्त क्रीड़ा को 'नर्म' कहते हैं। यह 'नर्म' तीन प्रकार का होता है- (1) हास्य से किया गया नर्म, (2) शृङ्गारसमन्वित-हास्य से किया गया नर्म, और (3) भयमिश्रित- हास्य से किया गया नर्म। इनमें दूसरा शृंगार-समन्वित (हास्य से किया गया) नर्म भी तीन प्रकार का होता है- (क) आत्मोपक्षेप नर्म (जहाँ नायक एवं नायिका अपने प्रेम को प्रकट करते हैं)। (ख) संभोग नर्म (जहाँ संभोगेच्छा प्रकट की जाय)। (ग) मान-नर्म (अपराध करके आये हुए नायक पर जहाँ नायिका मान करती है)। भयमिश्रित-हास्य से किये गये नर्म के भी दो भेद होते हैं, (1) शुद्ध (भयमिश्रित-हास्य कृत नर्म) और, (2) (किसी रस का) अंगभूत (भयमिश्रित हास्य-कृत नर्म) फिर ये वाणी, वेष और चेष्टा इनके द्वारा तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर इनके कुल अट्ठारह भेद होते हैं।[1]

(2) नर्मस्फिञ्ज

''नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।''

प्रथम समागम में यदि प्रारम्भ में सुख हो और अन्त में भय (कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा है) तो उसे 'नर्मस्फिञ्ज' कहते हैं।

(3) नर्मस्फोट

''नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः॥''[2]

(सात्त्विक आदि) भावों के लेशमात्र से जहाँ कुछ-कुछ शृङ्गार सूचित होता है उसे 'नर्मस्फोट' कहते हैं।

(4) नर्म-गर्भ

''छन्ननेत्रप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।''

किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए किये गये नायक के गुप्त व्यवहार को नर्म-गर्भ कहते हैं।

इस प्रकार हास्ययुक्त और हास्यरहित अंगों के साथ यहाँ कैशिकी-वृत्ति का निरूपण किया गया।[3]

(ब) सात्त्वती-वृत्ति

''विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्गात्यः परिवर्तकः॥''[4]

सत्त्व (बल), शौर्य, त्याग, दया तथा हर्ष आदि भावों के बाद होने वाला नायक- व्यापार ही 'सात्त्वती-वृत्ती' कहलाता है। इसके

---

*शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

1. दश., 2/48-50
2. दश., 2/51
3. दश. 2/52
4. दश., 2/53

संलापक, उत्थापक, सांघात्य और परिवर्तक, (ये चार) भेद होते हैं।

(i) संलापक

''संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः।''

नाना प्रकार के भावों और रसों से युक्त परस्पर गम्भीरोक्ति को 'संलापक' कहते हैं।

(ii) उत्थापक

''उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत् परम्।''[5]

जहाँ पहले एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्थापित (उत्साहित) करे वहाँ 'उत्थापक' नामक सात्त्वती-वृत्ति का अंग होता है।

(iii) सांघात्य

''मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम्।''

मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति और दैवशक्ति आदि से किसी समुदाय के फोड़ने को 'सांघात्य' (नामक सात्त्वती-वृत्ति का अंग कहा गया है)।

(iv) परिवर्तक

''प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात् परिवर्तकः।''[6]

प्रारम्भ किये हुए प्रचलित कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य को आरम्भ कर देने को 'परिवर्तक' कहते हैं। सात्त्वती वृत्ति इन अगों से चार प्रकार की कही गई है।

(स) आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्ति, माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं से युक्त होती है। 1. संक्षिप्तिका, 2. संफेट, 3. वस्तूत्थापन और 4. अवपातन (नामक इसके चार अंग होते हैं)।[7]

1. संक्षिप्ति– शिल्प के प्रयोग से संक्षिप्त वस्तु-रचना को संक्षिप्ति कहते हैं। कुछ लोगों के मत में प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना संक्षिप्ति है।[8]

2. संफेट– क्रुद्ध और उत्तेजित दो व्यक्तियों का परस्पर एक-दूसरे पर प्रहार 'संफेट' कहलाता है।[9]

3. वस्तूत्थापन– माया इत्यादि के द्वारा उत्थापित वस्तु ही 'वस्तूत्थापन' कही गई है।

4. अवपात– 'अवपात' तो निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास एवं भयान्वित पलायन से युक्त होता है।[10]

(इस प्रकार) इन अङ्गों के द्वारा यह आरभटी वृत्ति चार प्रकार की कही गई है। इन (तीन– कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी) वृत्तियों के अतिरिक्त कोई 'अर्थवृत्ति' नहीं होती। चौथी 'भारती-वृत्ति' होती है, नाटक लक्षण के संदर्भ में उसका भी निह्नपण किया जायगा। वस्तुतः 1. कैशिकी, 2. सात्त्वती और 3. आरभटी– ये तीन ही अर्थवृत्तियाँ होती हैं। किन्तु उद्भट– मतानुयायी (चौथी भारती नामक शब्द-वृत्ति के अलावा) पाँचवीं वृत्ति भी मानते हैं (जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है)।[11]

रस में वृत्ति के प्रयोग का नियम बतलाते हैं

कैशिकी का शृंगार रस में, सात्त्वती का वीर रस में तथा आरभटी का रौद्र एवं बीभत्स रस में प्रयोग करना चाहिए। भारती वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में किया जाता है।[12]

देश तथा काल के अनुसार नायक आदि का भिन्न-भिन्न वेष-भूषा की रचना इत्यादि क्रियाकलाप को 'प्रवृत्ति' कहते हैं। इसी का निह्नपण आगे करते हैं–

देश-काल के अनुकूल भाषा-क्रिया एवं वेषभूषा का प्रयोग ही प्रवृत्तियाँ हैं। लोक से ही इनका ज्ञान प्राप्त करके औचित्य के अनुसार ही इनका प्रयोग नाटकों में (कवि को) करना चाहिए।[13]

काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्गस्थ सामाजिकों को प्रसन्न करते हुए किसी ऋतु का आश्रय लेकर स्थापक भारती-वृत्ति का आश्रयण करे।[14]

उस भारती-वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार है–

नट का आश्रयण करके प्रयुक्त होने वाले प्रायः संस्कृत भाषा

5. दश., 2/54
6. दश., 2/55
7. दश., 2/56-57
8. दश., 2/57-58
9. दश., 2/58
10. दश., 2/59
11. दश., 2/60-61
12. दश., 2/62
13. दश., 2/63
14. दश., 3/4

में किये गये वाग् व्यापार (वाचिकाभिनयप्रधान) को 'भारती-वृत्ति' कहते हैं। यह 1. प्ररोचना, 2. वीथी, 3. प्रहसन तथा 4. आमुख– इन चार भेदों से युक्त होती है।[15]

1. प्ररोचना– उन (चार अंगों) में (प्रस्तुत की) प्रशंसा के द्वारा (सामाजिकों का) उन्मुखीकरण (उत्कण्ठित कर देना) प्ररोचना है।

2. वीथी और 3 प्रहसन– वीथी और प्रहसन का निह्नपण भी स्वयं (रूपक-भेद-निरूपण) के प्रसंग में आगे कर दिया जाएगा। किन्तु वीथी के अंग आमुख के भी अंग होते हैं। अतः उनका निरूपण यहीं किया जा रहा है।[16]

4. आमुख– प्रस्तुत विषय पर आक्षिप्त (सूचना देने वाली) विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्वक अथवा विदूषक में से किसी एक से बातचीत करते हुए सूत्रधार के द्वारा पाण्डित्यपूर्ण ढंग से रूपक के आरम्भ करा देने को 'आमुख' अथवा 'प्रस्तावना' कहते हैं।

उस (आमुख) में 1. कथोद्घात, 2. प्रवृत्तक, 3. प्रयोगातिशय तथा 4. वीथी में होने वाले तेरह अंग होते हैं।[17]

(i) कथोद्घात– अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण करके जहाँ पात्र का प्रवेश हो, वह 'कथोद्घात' है। यह दो प्रकार का होता है (पहला वाक्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वाक्यार्थ ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना)।[18]

(ii) प्रवृत्तक– जहाँ पर किसी काल (ऋतु) के वर्णन की समानता के द्वारा पात्र के प्रवेश का आक्षेप (सूचित) हो, वह प्रवृत्तक होता है।[19]

(iii) प्रयोगातिशय– 'यह वह है' इस प्रकार के सूत्रधार के वाक्य से सूचित होकर जहाँ पात्र का प्रवेश होता है, वहाँ 'प्रयोगातिशय' नामक आमुख माना गया है।[20]

(iv) वीथी के अंगों का निरूपण– 1. उद्घात्यक, 2. अवलगित, 3. प्रपञ्च, 4. त्रिगत, 5. छल, 6. वाक्केलि, 7. अधिबल, 8. गण्ड, 9. अवस्यन्दित, 10. नालिका, 11. असत्प्रलाप, 12. व्याहार, 13. मृदव– ये तेरह वीथी के अंग हैं।[21]

इस प्रकार प्रस्तावना के सोलह अंगों का निरूपण किया गया।

इन (प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख आदि) में किसी एक के द्वारा कथावस्तु अथवा पात्र को सूचित करके सूत्रधार प्रस्तावना के अन्त में (रङ्गमंच) से चला जाए और तब नाटक की कथावस्तु के अभिनय का प्रपञ्च होना चाहिए।[22]

दशरूपक में वर्णित नाट्य-वृत्तियों पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव

नाट्य-वृत्ति विमर्श

नाट्य-रस विषयक चिन्तन से यह स्पष्ट होता है कि नाट्य में रस एक प्राणभूत तत्त्व है, जो विभावादि के द्वारा पुष्ट एवं निष्पन्न होता है। इस नाट्य-रस के संरक्षण में वृत्तियों का असाधारण महत्त्व स्वीकार किया गया है। आचार्य भरत ने इनको माता के तुल्य आदर प्रदान करते हुए लिखा है– 'वृत्तयो नाट्यमातरः।'[23] वृत्तियों के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रायः आचार्य भरत का दृष्टिकोण यह रहा है कि उन्होंने वृत्तियों को पात्रनिष्ठ माना है। पात्रों की चेष्टाओं को वृत्तियों के रूप में स्वीकार करते हुए अभिनय कर्म में उनकी उपयोगिता को प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य भरत ने चारों वेदों से चारों वृत्तियों का ग्रहण करने का उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में किया है–

''ऋग्वेदाद्भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्त्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि॥''[24]

ऋग्वेद से भारती वृत्ति, यजुर्वेद से सात्त्वती वृत्ति, सामवेद से कैशिकी वृत्ति और अथर्ववेद से आरभटी वृत्ति को ग्रहण की गई।

जबकि दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने संक्षिप्त रूप में अभिनवगुप्त के प्रतिपाद्य को प्रकारान्तर से प्रस्तुति की है। उन्होंने 'तदव्यापारात्मिका वृत्तिः'।

भरत और धनञ्जय ने नाट्य में चार वृत्तियाँ स्वीकार की हैं–

1. भारती
2. सात्त्वती
3. कैशिकी
4. आरभटी

15. दश., 3/5
16. दश., 3/6-7
17. दश., 3/8-9
18. दश., 3/9-10
19. दश., 3/10
20. दश., 3/11
21. दश., 3/12-13
22. दश., 3/21-22
23. ना.शा., पृ0 169
24. ना.शा. 20/25

ये चारों वृत्तियाँ यद्यपि प्रधान अंश की दृष्टि से एक-दूसरे से पृथक् होती हैं, परन्तु ये एक-दूसरे से सम्मिलित भी होती हैं– वाचिक, मानसिक एवं शारीरिक चेष्टाएँ परस्पर मिलकर ही एक-दूसरे को प्रधानता या पूर्णता प्रदान करती हैं तथा प्रकाशित करती हैं।

ये चारों वृत्तियाँ रसों और भावों की अनुभाविका क्रिया है।

दशरूपक के टीकाकार धनिक ने उक्त चतुर्विध वृत्तियों में से कैशिकी, सात्त्वती एवं आरभटी को अर्थवृत्ति तथा भारती वृत्ति को शब्दवृत्ति स्वीकार किया है। जबकि दशरूपककार धनंजय ने उद्भट के अनुयायियों द्वारा स्वीकृति किसी पाँचवीं वृत्ति को भी स्वीकार किया है, किन्तु उस वृत्ति का नामोल्लेख नहीं किया है।

भारती वृत्ति

नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती वृत्ति को वाग्व्यापारप्रधाना, पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिना तथा संस्कृत पाठ्य से युक्त होती है। स्वनाम-धन्य भरतों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे 'भारती-वृत्ति' कहते हैं।[25]

जबकि धनञ्जय नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत प्राय वाग्व्यापार को 'भारती' वृत्ति कहा है।

भारती वृत्ति के अंग

आचार्य भरत ने भारती-वृत्ति के चार भेद कहे हैं– 1. प्ररोचना, 2. आमुख, 3. वीथी और 4. प्रहसन।

आचार्य भरत ने भारती वृत्ति के चार भेद कहे हैं–

1. प्ररोचना, 2. आमुख, 3. वीथी और 4. प्रहसन। तथा दशरूपककार ने भी भारती-वृत्ति के चार भेद ही स्वीकार किये हैं। लेकिन इनके भेदों के क्रम में अन्तर है। धनंजय ने क्रमभेद इस प्रकार स्वीकार किया है– 1. प्ररोचना, 2. वीथी, 3. प्रहसन और 4. आमुख।

इनमें प्ररोचना पूर्वरंग का ही अंग होती है तथा इसमें विजय, मंगल, अभिनय आदि से सम्बद्ध वाणी का प्रयोग विहित माना गया है। भरत का यह लक्षण स्वरूपपरक है।[26]

दशरूपककार ने प्ररोचना का उद्देश्यपरक लक्षण किया है।[27] उन्होंने प्रस्तुतार्चतया भी प्रशंसा के माध्यम से दर्शकों को उन्मुख करने हेतु प्ररोचना की उपयोगिता प्रतिपादित की है।

आमुख प्रस्तावना को कहा गया है, इसमें नटी-विदूषक अथवा नटी एवं मार्ष या परिपार्श्वक का वार्तालाप प्रस्तुत किया जाता है। आमुख के लक्षण के प्रसंग में भरत एवं धनञ्जय का मत प्रायः एक जैसा ही है। धनञ्जय ने सूत्रधार नटी के वार्तालाप को प्रस्तुतार्थाक्षेपी बतलाकर यहाँ भी उद्देश्यपरकता को नियोजित करने की चेष्टा की है। आमुख के पाँच भेदों को भरत एवं धनंजय समान रूप से स्वीकार करते हैं। वीथी तथा प्रहसन नामक भेदों का परिगणन रूपक भेदों में प्रासंगिक तौर पर कर दिया गया है।

सात्त्वती वृत्ति

सत्त्वप्रधान व्यापारों से समन्वित वृत्ति को सात्त्वती वृत्ति कहा गया है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से इसको इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि नाट्य-प्रयोग-काल में विविध वाक्यों के प्रसंग में वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों के साथ सत्त्व-प्रधान मनोवेगों की अधिकता होने पर इस वृत्ति को सात्त्विक वृत्ति कहा जाता है।[28]

भरत के अनुसार इस वृत्ति के भी चार भेद स्वीकार किये गये हैं– 1. उत्थापक, 2. परिवर्तक, 3. संल्लापक, 4. सांघात्य। जबकि दशरूपककार ने भी सात्त्वती-वृत्ति के भरत के अनुसार ही चार भेद किये हैं, लेकिन क्रम में अन्तर है– 1. संलापक, 2. उत्थापक, 3. सांघात्य और 4. परिवर्तक।

जिस व्यापार से मनोभावों का उत्थान होता है, उसे उत्थापक तथा उत्थापक के द्वारा किये गये कार्य का परित्याग करके अन्य कार्य को ग्रहण करना परिवर्तक कहा गया है। शत्रु के संघ का भेदन करने की चेष्टा का वर्णन सांघात्य कहलाता है, जबकि अपमानपरक या तिरस्कारपूर्ण वाक्यों की योजना को संल्लापक कहा गया है। संल्लापक के विषय में धनंजय का मत आंशिक रूप से भिन्न है। उन्होंने तिरस्कार एवं अपमान पक्ष का अपवर्जन करते हुए एक ही विषय पर पक्ष एवं प्रतिपक्ष के पारस्परिक अपलाप को संल्लापक की संज्ञा प्रदान की है।[29]

कैशिकी-वृत्ति

कैशिकी वृत्ति को शृङ्गारप्रधान वृत्ति स्वीकार किया गया है। भरत ने इसके लक्षण में स्त्री पात्रों की बहुलता, नृत्य, गीतादि शृंगारिक कलाओं की प्रस्तुति एवं कामप्रधान शृंगारिक चेष्टाओं के वर्णन को स्वीकार किया है।[30]

25. ना.शा., 20/26
26. ना.शा., 20-27
27. दश., 3/6
28. नाट्यशास्त्र, 20.37 तथा दशरूपक, 2.53
29. दशरूपक 2.54 का पूर्वार्द्ध
30. नाट्यशास्त्र 20.46 तथा दशरूपक 2.47

नाट्यशास्त्र में कैशिकी-वृत्ति के चार भेद स्वीकार किये गये हैं– 1. नर्म, 2. नर्म स्फूर्ज, 3. नर्म स्फोट और 4. नर्म-गर्म तथा दशरूपककार के अनुसार कैशिकी वृत्ति के चार भेदों के नामोल्लेख इस प्रकार हैं– 1. नर्म, 2. नर्मस्फिञ्ज, 3. नर्मस्फोट और 4. नर्म-गर्भ।

धनञ्जय ने 'शृङ्गारचेष्टतैः' शब्द का प्रयोग करके कैशिकी वृत्ति में शृंगारिक चेष्टाओं की प्रधानता को मुख्य रूप से स्वीकार किया है।

नर्म में हास्यमूलक अथवा भयमूलक शृंगारिक चेष्टाओं की प्रस्तुति होती है। नर्मस्फूर्ज में प्रणय एवं भय की सम्मिश्रित स्थिति का चित्रण किया जाता है। संयोग में विघ्न की स्थिति को नर्मस्फोट कहा गया है तथा प्रच्छन्न रूप में संयोग की चेष्टाओं को नर्म-गर्भ बतलाया गया है।

यद्यपि भरत ने इन भेदों के तीन-तीन उपभेदों की कल्पना करके कुल 12 भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु दशरूपककार धनञ्जय ने उपभेदों के विषय में किसी प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया है।

आरभटी वृत्ति

माया, इन्द्रजाल, संग्राम, असत्य-भाषण तथा उद्भ्रान्त चेष्टाओं का जहाँ प्रधान रूप से वर्णन किया जाये, उसे आरभटी वृत्ति कहा गया है। इस वृत्ति में किसी भी प्रकार के अभिनयों का प्रयोग किया जा सकता है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में आरभटी वृत्ति के चार भेद स्वीकार किये हैं– 1. संक्षिप्तता, 2. अवपातन, 3. वस्तुत्थापन और 4. सम्फेट। भरत के अनुसार ही धनंजय ने इसके चार अंग ही माने हैं। लेकिन क्रम भेद है– 1. संक्षिप्तिका, 2. संफेट, 3. वस्तुत्थापन और 4. अवपातन।

जब शिल्पियों द्वारा नाट्योपयोगी विचित्र वस्तुओं का उत्थापन किया जाये तो वहाँ संक्षिप्तता नामक भेद स्वीकार किया जाता है। धनञ्जय ने भरत के इस लक्षण को तो स्वीकार किया है, इसके अतिरिक्त एक अन्य परिभाषा भी प्रतिपादित की है कि जहाँ नाट्य के प्रयोजनवश किसी पात्र की मनोवृत्ति में परिवर्तन वर्णित हो, वहाँ भी संक्षिप्तता नामक भेद स्वीकार किया जाना चाहिए।[31]

अवपातन के संदर्भ में भरत की अवधारणा यह है कि भय, हर्ष, सम्भ्रम आदि के अतिरेक से पात्रों का रंगमंच पर अनावश्यक परिवेश या निष्क्रमण प्रदर्शित किया जाना अवपात मानना चाहिए। किन्तु धनञ्जय ने माया, इन्द्रजाल तथा छल-कपट से किसी को पतन की ओर अग्रसर करना अवपात नहीं स्वीकार किया है। यह मत अभिनवभारती से प्रभावित है।

वस्तूत्थापन में माया अथवा छल-कपट से किसी भी वस्तु को कभी भी उपस्थापित कर प्रतिपक्षी पात्र को भ्रमित किये जाने की चेष्टा की जाती है, इसी प्रकार युद्ध-क्रिया के साक्षात् प्रदर्शन को सम्फेट की संज्ञा दी गई है। इस विषय में भरत एवं धनञ्जय का अभिमत समान है।

नाट्य में वृत्ति प्रयोग

आचार्य भरत एवं धनञ्जय ने नाट्य-वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग को नाट्य के लिए अत्यन्त आवश्यक माना है। भरत का अभिमत है कि वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग से नाट्य-रस का परिपोष और भी उत्कृष्ट हो जाता है, इससे उसकी प्रभावशालिता बढ़ती है। भरत के इस मत का प्रभाव आनन्दवर्धन पर भी व्यापक रूप से पड़ा है। अतः उन्होंने वाच्यौचित्य के साथ-साथ वृत्त्यौचित्य का प्रतिपादन अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ में किया है।

आचार्य भरत ने वृत्तियों का रसों से सम्बन्ध निर्धारित करते हुए यह निर्देश किया है कि शृंगार एवं हास्य रस में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। वीर, रौद्र एवं अद्भुत रस में सात्त्वती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। भयानक एवं वीभत्स रस में आरभटी वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए तथा करुण एवं अद्भुत रस में भारती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। रौद्र रस में सात्त्वती के अतिरिक्त आरभटी का प्रयोग भी किया जा सकता है-

शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कौशिकीति सा।
सात्त्वती नाम सा ज्ञेया वीररौद्राद्भुताश्रया।।
भयानके च वीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया।।[32]

दशरूपककार का अभिमत भरत से कतिपय अंशों में भिन्न प्रतीत होता है। उन्होंने शृंगार रस के लिए कैशिकी वृत्ति का, वीर रस में सात्वती वृत्ति का, वीर एवं रौद्र रस में आरभटी वृत्ति का तथा सभी रसों में भारती वृत्ति का प्रयोग प्रशस्त स्वीकार किया गया है।[33]

इस प्रकार वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग के संदर्भ में मानदण्डों के निर्धारण के उपरान्त भी आचार्य भरत ने वृत्तिप्रयोग के विषय को प्रतिपाद्य की प्रधानता के आधार पर चयनित करने का विकल्प भी दे दिया है। जैसा कि उनके निम्नांकित कथन से स्पष्ट होता है–

31. दशरूपक, 2.58 का पूर्वार्द्ध
32. नाट्यशास्त्र, 20.73-74

न ह्येकरसजं काव्यं किंचिदस्ति प्रयोगतः।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा।।[34]

उक्त कथन में भरत का अभिप्राय यह है कि नाट्य-प्रयोग के क्रम में कथ्य, अभिनय एवं वृत्ति किसी एक रस से बँध कर नहीं चलते। प्रसंगवश उनमें विभिन्न भावों, रसों, वृत्तियों आदि का योग होता है। चूँकि उनमें रस प्रधान होता है, अतः प्रतिपाद्य में रस की प्रधानता के अनुकूल प्रतिपाद्य की प्रासंगिकता को सुरक्षित रूप में स्थिर करते हुए वृत्तियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते।।[35]

आचार्य धनञ्जय ने उद्भट के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत पाँचवीं वृत्ति को भी स्वीकार किया है, किन्तु उस वृत्ति का नामोल्लेख नहीं किया है। वस्तुतः 1 कैशिकी, 2. सात्त्वती और 3. आरभटी– ये तीन ही अर्थवृत्तियाँ होती हैं। किन्तु उद्भट-मतानुयायी (चौथी भारती नामक शब्दवृत्ति के अलावा) पाँचवीं वृत्ति भी मानते हैं (जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है)।

जबकि भरत ने नाट्य में स्पष्ट रूप से चार वृत्तियों का नामोल्लेख किया है– 1. भारती, 2. सात्त्वती, 3. कैशिकी और 4. आरभटी। भरत के मतानुसार ही धनंजय ने नाट्य में चार वृत्तियों का उल्लेख किया है। लेकिन क्रम अलग-अलग है। नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक की नाट्य-वृत्तियों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि दशरूपक पर नाट्यशास्त्र का पूर्ण रूप से प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

अतः नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक में वर्णित नाट्य-वृत्तियों का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि वृत्तियों के भेद एवं वृत्तियों के अंगों के भेद नाट्यशास्त्र के अनुसार ही दशरूपककार धनंजय ने अपने ग्रन्थ में स्वीकार किया है, लेकिन भरत ने कैशिकी वृत्ति के भेदों के उपभेदों की कल्पना करके कुल 12 भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु दशरूपककार उपभेदों के विषय में कोई उल्लेख नहीं किये हैं। दशरूप में कहीं-कहीं भिन्नता भी दिखलाई पड़ती है तथा वृत्तियों के क्रम व नामोल्लेख में अन्तर दिखलाई देता है। फिर भी दशरूपक में वर्णित नाट्य-वृत्तियों पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अतः दशरूपक की नाट्य-वृत्तियों पर पूर्णरूप से नाट्यशास्त्र का प्रभाव दिखता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. दशरूपकम्, द्वितीय प्रकाश एवम् तृतीय प्रकाश (धनञ्जयविरचित सं. डॉ. त्रिपाठी, रमाशंकर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्र.सं. 1973)
2. दशरूपक (धनञ्जय), अवलोक टीका सहित, सम्पा. डॉ. सुधाकर मालवीय, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी
3. नाट्यशास्त्र (का.सं. 20 अध्याय) बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी

33. शृंगारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुनः। रसे रौद्रे च वीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती।। दशरूपक, 2.62
34. नाट्यशास्त्र, 20.75 (गा.ओ.सी.)
35. दश., 2/61

प्राकृतिकापत्सु कारणानि

*डॉ. शत्रुघ्नत्रिपाठी**

ज्योतिश्शास्त्रेऽस्मिन् प्राकृतिकापदानां कारणानि लक्षणानि च संहितास्कन्धे परिगृहीतानि सन्ति। यत्रैते संहितापदार्थवाक्यविन्यासे आचार्यवराह-मिहिरेणोत्पातस्य ग्रहणमपि संहितायामेव कृतमिति। वस्तुत आपद्पदेनोत्पातस्य ग्रहणं ज्योतिश्शास्त्रे वर्णितचरमिति प्राप्यते। आचार्यवराह-मिहिरोक्तबृहत्संहितायां[1] प्राप्यते यत् ''प्रकृतेरन्यत्वमुत्पातः'' अर्थात् प्रकृतेः स्वभावाद् अन्यत्वं नाम वैपरीत्यम् एवोत्पात इति। अत्रोत्पात एव आपत्पदेन गृह्यते, यतो हि ग्रन्थेष्वपि बहुषु स्थलेषु आपत्स्य पदस्य प्रयोग उत्पातस्यार्थे प्राप्यते। यद्यपि शब्दविन्यासोपक्रमे अस्ति किमप्यन्तरं परञ्च भावाधारेण शास्त्राधारेण च समत्वमुपलभ्यते ज्योतिषे। अतोऽत्र यः प्रकृतिविपर्यास स एवोत्पातः। प्रसङ्गेऽस्मिन् भद्रबाहुसंहितायामुक्तमस्ति यत् प्रकृतेर्योऽन्यथाभावः वर्तते स एव उत्पातः स तु सर्वदा भवत्येव।[2] प्राकृतिकापत्प्रसङ्गे भेदद्वयं प्राप्यते तत्राद्य उत्पातसंज्ञकोऽपरः तु प्राकृतिकप्रलयनामकः। सिद्धान्तज्योतिषस्य चतुर्विधप्रलये प्राकृतिकप्रलयस्य चर्चा प्राप्यते यस्य प्रक्रिया आगमोक्तप्रक्रियया सह साम्यत्वं भजते। श्रीमद्बल्लालसेनाचार्येण प्रोक्तं यद् अभूतपूर्वं यल्लोकस्य पूर्वं भवति पूर्वं च यदन्यथा भवति तदद्भुतम्। तच्च द्विविधम्- नैमित्तमनैमित्तन्च। केतूदयादिना निमित्तेन यदद्भुतं जायते तन्नैमित्तम्। तच्छुभाशुभसूचकम्। इतरदनैमित्तम्। तच्च द्विविधं शुभसूचकमशुभसूचकञ्च। अत्र यदशुभसूचकं स उत्पातः।[3] तत्राचार्य-पराशरेण प्रोक्तमस्ति यत् प्रकृतेर्भूतविकृत-प्रादूर्भावोश्चोत्पात-माचक्षते। उत्पातस्य योनिस्थानप्रसङ्गे उच्यते यत् तेषां द्यौरन्तरिक्षं भूरेवाश्चाश्रयः पञ्चमहाभूतानि योनिः। एवमत्रोत्पद्यते यत् प्राकृतिकापद उत्पत्तिस्थानानि पञ्चमहाभूतानि एव सन्ति। उत्पातकारण-प्रसङ्गे प्राप्यते यत् यदा मानवेषु अविनयः, अधर्मः, अतिलोभः, अनाचारः प्रवर्द्धते तदा उपसर्गः प्रजायते। वराहमिहिराचार्येण लिखितं यत् मनुजानामपचारादपरक्ता देवता एतान् सृजन्ति, एवमेवाद्भुतसागरे प्राप्यते प्रकृतिविरुद्धमपीदं प्राक्प्रबोधाय देवाः सृजन्ति इति। उत्पातकारणविचार-चर्चायां गर्ग-वशिष्ठ-पराशरप्रभृतयः सर्वेऽपि आचार्याः समानमेव वदन्ति। विष्णुधर्मोत्तरपुराणे प्राप्यते यद् देवानां अप्रसन्नतया उत्पातः प्रजायते।[4] गर्गसंहितायाम् एवोक्तः यत् विनाशाय लोके उत्पाता देवनिर्मिताः सन्ति। निष्कर्षरूपेणेदं सिद्धयति यत् नास्तिक्याद्, विमोहाद्वा, अतिलोभाद्, नरापचाराद् अधर्मतो वा देवा अप्रसन्नाः भवन्ति तथा च ते आपदान् उत्पादयन्ति। एवमत्रकारणप्रसङ्गे प्राप्यते यत् मानवानां प्रकृतिविरूद्धकर्म एव मुख्यरूपेण प्राकृतिकापत्सु कारणत्वेनाख्याताः शास्त्रेषु। सर्वेष्वपि शास्त्रीयग्रन्थेषु कारणरूपेणायं सिद्धान्तः वर्णितः वर्तते।

प्रकृतिविषये अद्भुतसागरस्य सूर्याद्भुतावर्ते प्राप्यते ''**तत्र स्वकालिककपिशवर्णरश्मि-योगिन्यगणितागतप्रमाणोपायादि-स्थानयोगित्वाखण्डत्वचिह्नादिका प्रकृतिः।** प्रकृतिपदेन निसर्गस्याव-बोधनमपि अङ्गीकृतं वर्तते तत्र निसर्गपदे सर्वेऽपि प्रकृतिस्था आयान्ति येषां ग्रहणं शोधपत्रेऽस्मिन् नासम्भवते। एवमेवात्र ज्योतिश्शास्त्रे पाञ्चभौतिक-प्रकृतेर्ग्रहणं विशेषेण दृश्यते। अतोऽत्र ये महदापदाः पञ्चमहाभूतान् प्रभावयन्ति तान् सर्वापदान् समासरूपेणात्र चिन्तयते। द्वितीयस्थं पदं कारणानीति विच्चार्यते चेत् ज्योतिश्शास्त्रे कारणस्वरूपे मानवानां सदसद्कर्म-धर्म एव सर्वत्रैवोपलभ्यते परञ्च अशुभफलप्रातिपादक-लक्षणानि आपदादीनां निमित्तकारणानि सन्ति, तानि च ग्रहादिभिः सम्बन्धितानि सन्ति। अतोऽत्र ग्रन्थोक्तोत्पातानि एवात्र आपद्कारकानि सन्ति। एतेषां शास्त्रीपरम्परानुसारमत्र विचारः क्रियते।

प्राकृतिकापत्सु कारणानि

(1) निमित्तकारणम्- भद्रबाहुसंहितायां प्रतिपादितमस्ति यद् उत्पातसम्बन्धितं यत् निमित्तं जिनभाषितं तत् सर्वं समासत उच्यते।[5] एवमेवाग्रे आचार्यवराहमिहिरोक्तदिव्य-अन्तरिक्ष-भौमानां ग्रहणम् उत्पातस्य निमित्तकारणे कृतमस्तीति। बृहत्संहितायाम् आचार्यवराहेण प्रतिपादितमस्ति यत् दिव्यान्तरिक्ष-भौमोत्पाताः उपसर्गस्य संसूचकाः सन्ति। एवमत्र निम्नलिखितानि निमित्तकारणानि लक्षणानि वा प्राकृतिकापत्सु शास्त्रेषूपलभ्यन्ते।

(क) दिव्योत्पातः- ग्रहर्क्ष-वैकृताः दिव्योत्पातकोटौ परिगणिताः। गर्गसंहितायाम् उक्तं दिवि यत् स्वर्भानु-केतु-नक्षत्र-ग्रह-तारार्क-चन्द्रजं चोत्पातं तत् दिव्यम् इत्युच्यते। अत्रोक्तमस्ति बृहत्संहितायां यत् दिव्योत्पाता नो शाम्यन्ति। अद्भुतसागरे प्रोक्तं यत् दिव्यं बलवान् तीव्रफलं शीघ्रकारि च ज्ञेयम् एवमेव दिव्योत्पातस्य प्रभूतकनकान्नगोमहीदानैः प्रशमनमपि शास्त्रान्तरे प्रतिपादितं वर्तते। प्रसङ्गेस्मिन् भटोत्पलेन प्रोक्तं यद् दिवि भवा दिव्याः। अत्रोक्तं ग्रहाणामादित्या-दीनामृक्षाणामश्विन्यादीनां च यद्वैकृतं तत् दिव्यमुत्पातसंज्ञकं भवति।

यदि आचार्यवराहमिहिर-गर्गाचार्ययोः वचनानुसारमत्र विचार्यते चेद् आशयः निष्पद्यते यत्र राहु-केतु-सूर्य-चन्द्र एवञ्च भौम-बुध-गुरु-शुक्र-शनीनां पञ्चताराणां नक्षत्राणाञ्च विकारः सः दिव्यसंज्ञकमुत्पातोः भवति।

आचार्यभटोत्पलेन प्रोक्तं यद् अष्टौ देवा उत्पातस्य फलसंसूचकाः सन्ति। एतैः देवै अष्टौ विषयाः प्रभाविताः भवन्ति, तद्यथा-

पृथ्वीतः - नगरम्।	सूर्यतः - पुत्रः
जलात् - जनपदः।	चन्द्रतः - स्वामिः
अग्नितः - कोषः।	यजमानतः - भृत्यः
वायुतः - वाहनम्।	आकाशतः - पुरोहितः।

यदि समन्वयः क्रियते चेत् प्राप्यते यत् रविचन्द्रौ प्रत्यक्षौ अन्ये तेजो-भू-खा-म्बू-वातेभ्यः समुत्पन्नाः पञ्चताराग्रहाः सन्ति अन्ये राहु-केतु-नक्षत्राणि च यजमान-भृत्योः सूचकाः सन्ति। अद्भुतसागरे प्रोक्तं यद् दिव्योत्पाताः समस्तस्य विश्वस्य कृते शुभाशुभफलदायकाः भवन्ति।[6]

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

इदानीं दिव्योत्पातानां सफलानि कानिचित् प्रमुखलक्षणानि चक्रेण निरुप्यन्ते।

ग्रहाः	प्रभावित-क्षेत्रम्	आपद्कारकलक्षणानि	फलानि
सूर्यः	प्रजाः	सूर्यग्रहणादनन्तरं सप्तदिनं यावत् ग्रहयुद्धादीनां दर्शनम्	कुवर्षणं, युद्धम्
	भूमिः	सतमस्कं पर्वं विना त्वष्टा नामार्कमण्डलं कुरुते	सप्तभूपान हन्ति, दुर्भिक्षः, शस्त्राग्निभयः
	देशः	वर्षास्वसितः वर्णः	अनावृष्टिः।
	देशः	शिखिपत्रनिभः	द्वादशाब्दानि सलिलं न करोति।
	देशः	आदित्यस्योदगे परा प्रतिसूर्यः दृश्यते	जलकृत्भयः।
	देशः	आदित्यात् दक्षिणे यदि प्रतिसूर्यः तदा	वातकरः भवति।
चन्द्रः	नाविकाः	उन्नतमीषच्छृङ्गं नौसंस्थाने	समुद्रे आपदकरः।
	भूमिः	याम्योत्तरायतं शृङ्गम्	भूकम्पः।
राहुः	देशः	सज्वाले राहौ	अग्निभयम्।
	भूमिः	पाटलकुसुमोपम राहौ	अशनिभयम्।
		प्रग्रहणे वायुः क्षितकम्प अशनिपातः	षडमासानन्तरं पुनः तीक्ष्णवायुः -भूकम्प अशनिपातश्च
भौमः		उदयनक्षत्रात् 12,10,11 नक्षत्रे वक्रिणि भूते सति	रसान् दूषयन्ति अवर्षणं च करोति।
	लोकत्रयः	पू.फा.-उ.फा. नक्षत्रयो उदितःउ.षाढे वक्रः, रोहिण्यामस्तः	त्रीनपि लोकान् पीडयति।
	पर्वतः	धूमायन सशिखो	पर्वतस्थितान् हन्ति
बुधः		बुधोदयः कदाचिदपि	जल-पवन-दहन भयकृद्।
गुरुः		अग्निवर्णः	अग्निभयम्
	जगत्	प्रभवसंवत्सरे	अनावृष्टिः, पवनाग्नि प्रकोपश्च
		रौद्रसंवत्सरे	प्रजानाशः
शुक्रः	सामुदाः	मघादिपञ्चनक्षत्रेषु स्थितः शुक्रः	सामुद्रान् हन्ति।
		कृतिकां भिन्दन् शुक्रो गतः	धात्री प्रभूतजलं वहन्ति
		रोहिणीशकटभेदे	वसुधा कापालं धारयति
	भूमिः	जीवबुधारसूर्यजाः सितस्याग्रे तदा	समुच्छ्रितान्तकाः वाताः
शनिः		नक्षत्रवशात् पृथक्-पृथक् अशुभ-फलानि प्रयच्छति	
दिव्यकेतुः		हुताशसूताः केतवः	आग्नेयां शिखिभयदाः
		ग्रहोत्पन्नाः केतवः	विविधाशुभफलानि दिशन्ति
ग्रहयुद्धम्		ग्रहयुद्धवशादपि विविधोत्पातस्यानयनं गर्ग वराहपराशराद्याचार्यैः लक्षणसहितं अशुभफलं वर्णितं वर्तते।	
नक्षत्राणि		तारकाः धूमज्वालाविस्फुलिङ्गान्विताः	सर्वलोकः ध्वंसं याति।
राशयः		**राशेरनिष्टस्थानेषु पापाश्च सबलाः स्थिताः।**	
		तद् द्रव्याणां नाशकरा दुर्लभास्ते भवन्ति च॥ अद्भुत. पृ. 452	

एतादृशमशुभफलं नक्षत्रवशादपि शास्त्रेषूपलभ्यते। येषां लक्षणान्यपि पृथक्-पृथक् मयूरचित्रकादिग्रन्थेष्वपि प्राप्यन्ते। ओक्ताशुभलक्षणं यद्यपि स्वल्पग्रन्थोक्ताधारीकृत्य संगृहीतमिति। यदि व्यापकदृष्ट्या विच्चार्यते चेत् प्रायः सर्वेष्वपि संहिताग्रन्थेष्वपि अवश्यमेव किञ्चिदंशात्मकः भागः भवत्येव।

(ख) आन्तरिक्षोत्पातः

अन्तरिक्षे भव आन्तरिक्षः तत् सम्बन्धितोत्पात आन्तरिक्षोत्पातः। आचार्यवराहमिहिरेणोद्-घोषितं यद् उल्का-निर्घात-पवन-परिवेषाः गन्धर्वपुरपुरन्दरचापादिभवोत्पातम् आन्तरिक्षमिति। अद्भुतसागरे प्रोक्तं (उपोद्घाते पृ. 10)

उल्कापातो दिशा दाहः परिवेषस्तथैव च।
गन्धर्वनगरं चैव वृष्टेश्च विकृतिस्तु या।
एवमादीनि लोकेऽस्मिन्नान्तरिक्षं विनिर्दिशेत्।

अत्राचार्यभटोत्पलेन प्रोक्तं ग्रहनक्षत्रस्थानं विहायाऽन्यत्राकाशे ये दृश्यन्ते ते आन्तरिक्षाः।

आन्तरिक्षोत्पातस्य फलपरिपाकविषये प्रोक्तं यत्
''नाभसं मध्यफलदं मध्यकालफलप्रदम्''

तत्रैवाद्भुतसागरे- अत्र नाभसमित्युक्तम् अर्थात् नभसि भवः नाभसः। यस्यार्थ आकाश इति गृह्यते चेत् निम्नलिखितालेखमाध्यमेन उत्पातत्रयस्य स्वरूपं निरूप्यते–

अत्राधुनिकप्राचीनयोः मतानुसारेण विचारः क्रियते तदा भूमिं परितः यत् वैकृतं तद् भौमोत्पातम्। एवमेव भूवायुं यावत् यत् वैकृतं तदान्तरिक्षोत्पातम्। एवमग्रे ग्रह-नक्षत्रकृतं वैकृतं दिव्यमिति।

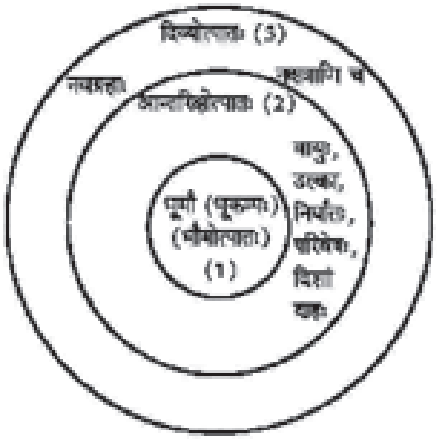

आन्तरिक्षोत्पातशान्तिविषये प्राप्यते-

''आन्तरिक्षाण्यरिष्टानि व्यावर्त्तन्ते कथञ्चन।
व्रतहोमोपवासैश्च दानैः स्वस्त्ययनैस्तथा।।''

तत्रैवाद्भुतसागरे, पृ. 12

आन्तरिक्षोपद्रवैः देवाः प्रभाविताः भवन्ति एतादृशं वर्णनं अद्भुतसागरे प्राप्यते। यद्यपि आन्तरिक्षोत्पातानां यदा लक्षणानि दृश्यन्ते तदा भूवासिनां कृतेऽपि शुभाशुभफलानि प्रतिपादितानि सन्ति। अतोऽत्र आन्तरिक्षोत्पातानां प्रमुखलक्षणानि निरूप्यन्ते–

प्रतिसूर्यः- उदग्जलकृत्, दक्षिणेनान्ताद्वातकृत् उभयस्थितो वा महावर्षाय सर्वत्रस्त्रिभुवनपीडावहो भवति।

परिवेषः- अर्क-चन्द्रयोः रश्मयः वायुना वृत्ताकाराः कृतास्ते आकाशे स्वल्पमेघे नानावर्णाकृतयो दृश्यन्ते ते आकृतयः परिवेषाः सन्ति। तैः वर्ण-ग्रह-योग-द्रव्यादिभि उत्पातस्य ज्ञानं सप्तरात्राद्वा तत्फलञ्च शास्त्रेषूपलभ्यन्ते। यथा–

उदयेऽस्तमये मध्ये सूर्याचन्द्रमसोर्दिवि।
परिवेषः प्रदृश्येत् तद्राष्ट्रमवसीदति।। -गर्गः

इन्द्रधनुः- साभ्रे वियति सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघटिताः रश्मयः धनुसदृशाः दृश्यन्ते सेन्द्रधनुः। केचित् अनन्तकुलोरगनिश्वासोद्भुतमाहुः। सुरेन्द्रशापवशादपि जगतः आपद्विनिर्धारणं कर्तुं शक्यते। तद्यथा- पाटलपीतकनीलैः शस्त्राग्निक्षुत्कृता दोषाः - वराहः।

गन्धर्वनगरम्- बहुवर्णपताकाढ्यं गन्धर्वनगरमाकाशे दृश्यन्ते यत्रानेकानि अशुभलक्षणान्यपि शास्त्रेषूपपादितं वर्तते। अस्य फलपरिपाकः मासत्रयं यावत् भवति। तद्यथा– गन्धर्वनगराणि प्राच्याद्यष्टासु दिक्षु प्रादुर्भूतानि क्रमात् क्षुत्पीडा-अग्निप्रकोपं-तस्करोपद्रवं-राजपीडादिकं चावेदयन्ति। -पराशरस्तु।

उल्का- ज्योतिर्निबन्धे प्रोक्तमस्ति लक्षणं यत् स्वर्गच्युतानां रुपाणि यान्युल्कास्तानि भुवि धिष्ण्योल्का विद्युदशनिस्तारः पञ्चविधाः स्मृताः। ज्यो.निब. पृ. 262

एवमत्र पञ्चविधमुल्कानां लक्षणफलपरिपाककालसहितानि फलानि च निरूप्यन्ते

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	13 [illegible]	[illegible]	[illegible]
		[illegible]	[illegible]
		[illegible]	[illegible]
[illegible]	13 [illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	13 [illegible]	[illegible]	[illegible]
		[illegible]	[illegible]
[illegible]	6 [illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	6 [illegible]	[illegible]	[illegible]
		[illegible]	[illegible]

वातः- अत्र प्रतिपादितं विद्यते यद् यदा सशर्करो रुक्षश्च वायुः प्रचलति तदा सर्वविघ्नोत्पद्यते। एवमेवात्र वायुर्लक्षणं प्राप्यते पश्चिमदिकस्थः वायुः यदा वाति तदा मेघनाशको भवति। अत्र विविधलक्षणानि प्रोक्तानि सन्ति। त्र्यधिकश्चानिलश्चण्डो भवति, तस्य प्रभावोऽपि देशेऽशुभकारको भवति।

निर्घातः- यदाऽन्तरिक्षे बलवान्मरुता मरुतो हत अधः पतति स निर्घातः, स वायुसम्भवः कथ्यते। निर्घातेषु दिक्कालतिथि- नक्षत्रानुबन्धेन चतुर्विधं फलमुपदिशन्ति। तद्यथा–

यां दिशं चाभिगच्छेत्तु निर्घातो भैरवस्वनः।
तद्दिश्यान् हन्ति देशाश्च सर्वं दिक्प्रभवं च यत्।।

अद्भुतसागर, पृ. 505

दिग्दाहः- यदा सूर्यास्तकाले वह्निज्वाला प्रदृश्ये स दिशां दाह इत्युच्यते। दिग्दाहवशात् बहुनि उत्पातकारकलक्षणानि वर्णितानि सन्ति। येषां सम्बन्धः प्रकृत्या सहास्ति। तद्यथा पराशरः-

''प्राच्यादिष्वष्टासु दिक्षु दह्यमानासु
अष्टमासान्तरादनावृष्टिभयं त्रिमासाद्रोगमहोत्पातं च।।

अस्य फलपरिपाककालः षण्मासः वर्तते। एवमेव छायावशात् तमो-धूम-रजो-निहारादिका-वशाच्चोत्पातफलानि लक्षणानि च वर्णितमस्ति शास्त्रेषु। तद्यथा-

यदा च सर्वभूतानां छाया न परिवर्त्तते।
अपराह्णगते सूर्ये लोकानां युगसंक्षये।। मत्स्यपुराणोक्तः

एतेषां फलपरिपाककालविषये प्राप्यते यत् धूमिलकापांशुवर्षेषु फलं मासाद्विपच्यते।

मेघः- मेघलक्षणवशादपि जगतः शुभाशुभफलम् उत्पातप्रभृत्यापदा संहिताग्रन्थेषु वर्णिताः सन्ति। यद्यप्याषाढपूर्णिमायां मेघस्य बहुनि गर्भोक्तलक्षणानि प्रतिपादितानि सन्ति, तद्वशात् वर्षपर्यन्तं यावत् तदग्रतो लक्षणानि शकुनादयः च प्राप्यते। तद्यथा–

पीतच्छूरिताश्च घना घनमूला भूरिवृष्टिकरा।
आषाढशुक्लपञ्चम्यां याम्येषु दृष्टाः मेघाः व्याधिं मृत्युं च दिशन्ति।
अत्रानुक्तफलपाकसमयविशेषाणामन्तरिक्षत्वात् षाण्मासिकः गृहीतः वर्तते।

नाम	स्थानम्	लक्षणानि	फलानि	फलकालः
दैवसृष्टिः	देशः	अनिमित्त-भङ्ग-चलन-स्नेहक्षुधा-बल्पनादीनि	नरेशदेशनाशः नाशः	अर्द्धं मासं यावत्
वर्षे, वर्षे	नगरीणि	अनिमित्त-वस-वर्षादजसर्ग	ग्रहोः पथः	
आयुधाः	राज्ञः	आयुध-ज्वलन-वर्षण-स्वनाः	पौरः नृपनाशश्च	
वृक्षाः	वैराः	क्षीरस्रावे स्नेहस्रावे	द्रव्यनाशः दुर्भिक्षः	वर्षमासः
वस्त्राः	देशम्	अतिवृष्टिः	वस्त्रपरिधानम्	दशमासः
पुष्पम्	नगरम्	विकृतपुष्पम्	राजनाशः	दशमासः
पूपादिकः	राज्ञः	क्षीर-पूप-क्षौद्राणां यत्रोत्पतिरेभ्यश्चारिष्ट	देशनाशः सुदृढम्	वर्षमासः
नदी	नगरम्	अपसर्पन्तं नदीनां	प्रतिगृह्णन्तः वर्धते	दशमासः
पशवः	क्षेत्रम्	बहवोऽष्टभिरेकोऽस्मिन्नीषु समलोऽन्ये	पशुनाशः	षड्मासः
ऋतुः	देशः	कटोत्पन्न घोत्पाता	दारुणाः	
भूकम्पः	राज्ञः	आग्नेय-वायुमण्डलयोः भूतस्य:	दुर्भिक्षः, मृत्युः अवृष्टिश्च	द्वयमासः

अतिवृष्टिः- अतिवर्षणमवर्षणं च दुर्भिक्षाय भवति। उक्तं मत्स्यपुराणे-

''अनृत्तौ त्रिदिनातिरिक्ता वृष्टिर्ज्ञेया भयाय तु''

एवमेवात्र अतिवृष्टिवशादपि विविधोत्पातस्यानयनं कृतं वर्तते। तद्यथा–

अङ्गारपांशुवर्षे विनाशमुपयाति तन्नगरम्।

(ग) भौमोत्पातः– चराणां वस्तूनां स्थैर्यं, स्थिराणां चरत्वं तदुद्भवं यत् तद्भौममुत्पातसंज्ञकं भवति। एवमत्र भूमौ भवा भौमा इत्यपि निष्पद्यते। प्रसंगेऽस्मिन् विष्णुधर्मोत्तरे प्राप्यते यत् –

''चरस्थिरभवो भौमो भूकम्पश्चापि भूमिजः।
जलाशयानां वैकृत्यं भौमं तदपि कीर्तितम्॥ अद्भु., पृ.10

अत्राचार्यभटोत्पलेन गर्गवचनस्योद्घाटनं कृतं यत्–

भूमावुत्पद्यते यच्च स्थावरं वाथ जङ्गमम्।
तदेकदैशिकं भौममुत्पातं परिकीर्त्तितम्॥

एवमत्र भूमौ यत् किमपि स्थावर-जङ्गमैरुत्पातमुत्पाद्यते तत् भौमोत्पातसंज्ञकं भवतीति निर्दिष्टमस्ति। भौमोत्पातविषये प्राप्यते भूप्रभवा उत्पाताः राज्ञः कृते महत्कालेन फलं दिशति एवञ्च अस्य फलमपि अल्पं भवति। भौमोत्पातं शान्तिहतं मर्दितुं नाशमुपगच्छति येन प्रकारेण दिव्यान्तरिक्षयोः फलं भवति तथाऽत्र नास्ति भौमोत्पातस्यय भूगोलोत्पन्नत्वात् सकलभूगोलगामिफल-सूचकत्वप्रसक्तौ विशेष उक्तः। यस्मिन् यस्याधिकारस्तत्रोत्पन्नं तस्यैव शुभाशुभसूचकम्। एवमत्र कानिचित् भौमोत्पात-सूचकलक्षणानि उपस्थाप्यन्ते। बार्हस्पत्ये प्राप्यते यत्–

प्रजागुणैः भौमारिष्टानि व्यावर्त्तन्ते भौमोत्पातानन्तरं यदि सप्तरात्राद् वर्षणं भवति तदा तद् अशुभफलं नश्यति।

अनेन प्रकारेण चर-स्थिरवस्तूनां शुभाशुभलक्षणानि ग्रन्थेष्वपि वर्णितानि सन्ति। अन्यदपि सामयिकलक्षणमुक्तं यत्–

पाखण्डानां नास्तिकानां च भक्तः साध्वाचारप्रोज्झितः क्रोधशीलः।
इर्ष्युः क्रूरो विग्रहासक्तचेता यस्मिन् राजा तस्य देशस्य नाशः।

बृहत्सं.,उत्पात. 65

एवमेव- **उन्मत्तानां च या गाथाः शिशूनां यच्च भाषितम्।**
स्त्रियो यच्च प्रभाषन्ते तस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥

बृहत्सं., उत्पात. 96

प्रसङ्गेस्मिन् दिव्यान्तरिक्षभौमातिरिक्तानि अन्यान्यपि बहूनि निमित्तलक्षणानि प्राकृतिकापद-कारकाणि सन्ति येषां विचारः पृथक्-पृथक् ग्रन्थेषु कृतः वर्तते। मयूरचित्रकग्रन्थे, अद्भुतसागरे, बृहद्दैवज्ञरञ्जने, बृहत्संहितायां, वाशिष्ठसंहितायां, ज्योतिर्विदाभरणे भद्रबाहुसंहितायां च बहूनि लक्षणानि आपद्कारकाणि प्राप्यन्ते। तत्र सूर्यनक्षत्रप्रवेशवशात्, संक्रान्तिकालतः, रोहिणीशकटभेदात् ग्रहोदयास्तवशात् वक्रादिग्रहस्थितिवशाच्च प्राकृतिकोपद्रवलक्षणानि सफलानि वर्णितानि सन्ति।

आपद्ज्ञानप्रयोजने प्रोक्तं वराहमिहिराचार्येण यत्–

''उत्पातान् गणितविवर्जितोऽपि बुद्ध्वा
विख्यातो भवति नरेन्द्रवल्लभश्च॥''

।।शमिति।।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. बृहत्संहिता, उत्पाताध्यायः, ग्रहचाराध्यायादयः।
2. भद्रबाहुसंहिता, द्वितीयोऽध्यायः।
3. अद्भुतसागरः, सम्पूर्णम्।
4. बृहद्दैवज्ञरञ्जनम्, उत्पाताध्यायः।
5. मयूरचित्रकम्।
6. ज्योतिर्निबन्धः।
7. वशिष्ठसंहिता।
8. ज्योतिर्विदाभरणम्।
9. नारदसंहिता।

गणितज्योतिषस्य वैज्ञानिकत्वम्

मधुसूदनमिश्रः एवं डॉ. रामजीवनमिश्रः***

सर्वज्ञानमयेषु वेदेषु नेत्ररूपेण प्रतिष्ठितस्य स्कन्धत्रयात्मकस्य ज्योतिषशास्त्रस्य वैज्ञानिकत्वमुद्घोष्यते सर्वैरपिप्राचीनार्वाचीन-विद्वद्भिः। भारतीयसंस्कृतौ ज्ञानस्याधारभूतानां वेदानां नेत्रपदारूढं शुभाशुभकालविधायकं ज्योतिषशास्त्रं सर्वतोभावेन स्पष्टग्रहाधीनमित्युक्तौ न काचिद्विप्रतिपत्तिः।धर्मशास्त्रप्रधाने भारतदेशे सनातनसंस्कृतौ प्राचीनपरम्परायां सर्वेषां संस्काराणां निर्धारणं ज्योतिष-शास्त्राधीनाच्छुभाशुभकालवशादेव क्रियते। अत एव ग्रहस्पष्टीकरमनिवार्यम्, यतो हि–

यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटैःस्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।[1]

द्योतन्ते प्रकाशन्ते ग्रहनक्षत्रादीनीत्यस्मिन्नर्थे '**द्युतेरिषन्नादेश्च जः**' इत्युणादिसूत्रेण निष्पन्नोऽयं शब्दः। अथ च ग्रहनक्षत्रादीनां गतिमधिकृत्य कृतं शास्त्रं ज्योतिषमिति परिभाषया प्रतिपादयितुं शक्यते। इत्थमपरिमिते गगनमण्डले यानि हि तेजोमयानि बिम्बानि संदृश्यन्ते तानि सर्वाणि समष्ट्यैव ज्योतिषशब्देन व्यपदिश्यन्ते। अतः ज्योतिषशास्त्रं खगोलविज्ञानान्तर्गतमिति निश्चयप्रचम्। तद्यथा–

ज्योतिषशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते
नूनं लग्नबलाश्रितः पुनरयं तत्स्पष्टखेटाश्रयम्।
ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोऽपि न ज्ञायते
तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति।।[2]

खगोलीयग्रहनक्षत्रग्रहोपग्रहाणां भूमण्डले गतिस्थिति-प्रभावादीनां निर्धारणमेव ज्योतिषशास्त्रस्य सिद्धान्तसंहिताहोरेति त्रयाणां स्कन्धानामुद्देश्यम्। खगोलविज्ञानान्तर्भूतस्य ज्योतिष-शास्त्रस्यास्तित्त्वं सर्वप्रथमतया ग्रहनक्षत्रादीनां ध्रुवागस्त्य-सप्तर्ष्यादितारकाणाञ्च देवत्वरूपे स्तुतिपरकर्चां सङ्कलनरूपेण वैदिकमन्त्रेषु दरीदृश्यते। यथा ज्योतिः स्वरूपप्रसङ्गे सर्वप्रथमं वेदाठज्योतिषोक्तम् ''वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'' इति वाक्यकदम्बकमनुरुध्य सर्वप्रथमं वेदेषु प्रसिद्धा दिव्यनवरात्रयागचर्या सुतरां महत्त्वपूर्णा वर्ततेऽतस्तामेव पुरस्कृत्य प्रकृतमनुसरामः।

त्रीणिशता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रि शच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।।[3]

अस्मिन् मन्त्रेऽन्वयपद्धत्या-

त्रीणि सहस्राणि	=	3000
त्रीणि शतानि	=	300
त्रिंशच्च	=	30
नव च	=	9

चतुर्णां राशीनां योगफलम् = दिव्यनवरात्रमानम् 3339

देवानां दिव्यदिनसंख्या मानवानां वर्षतुल्या भवतीति प्रसिद्धम्। 3339 नवाप्तम् 371 एतद्देवानामेकं नवरात्रं मानवानां चान्द्रतिथिमानेन पूर्णाङ्कैः वर्षमानं वर्तते। अतः वैदिकधरातलं सर्वथा सिद्धमेव। ज्योतिषशास्त्रस्य सिद्धान्तस्कन्धमवलम्ब्य खगोलविज्ञानस्य ता एव विविधाः पक्षाः शोधपत्रेऽस्मिन् यथाप्रमाणं प्रस्तूयन्ते।

ज्योतिषशास्त्रे खगोलस्वरूपम्

चन्द्रविहीनशर्वर्यां निरभ्रमाकाशमवलोकयामश्चेत्तदा नीलाम्बरे रत्नानीव दैदीप्यमन्तः प्रकाशबिन्दवः दृश्यन्ते। नीलाम्बरस्यार्द्धमेव भागो जनैर्दृश्यते अदृश्यार्द्धभागश्च दर्शकानामधो वर्तते। आकाशविषयकगोलोऽयं खगोलो भगोलो ब्रह्माण्डगोलो वा निगद्यते। प्रत्येकानां ग्रहनक्षत्रानां प्रतीयमानानां स्थितिमवगन्तुं महत्त्वपूणमिदं विज्ञानम्। तद्यथोच्यते आचार्यभास्करेण स्वशिरोमणौ–

दृष्टान्त एवावनिभग्रहाणां सिद्धान्तमानप्रतिपादनार्थम्।
गोलस्स्मृतः क्षेत्रविशेष एषः प्राज्ञैरतस्स्याद्गणितेन गम्यः।।[4]

अस्माकं वैदिकर्षिमहर्षिभिः ज्योतिषशास्त्रस्य परवर्तिभिराचार्यैश्चानुदिनं गगनावलोकनचिन्तनमननेनैव खगोलगर्भात् शास्त्रस्यास्य प्रवर्तनं पल्लवनञ्च कृतम्। तैः खगोलस्य स्वरूपमवस्थितिविस्तृतिमानञ्च विज्ञाय भगोलस्य अंशकलाविकलादीनां विभागो विहितः। वैदिकज्योतिषस्यैतान् एव विविधान् पक्षान्नवलमब्य आचार्यलगधेन ग्रहोपग्रहधूमकेतूनीहारिकाकाशगङ्गादीनां गतिस्थितीत्यादीनां वर्णनं सूक्ष्मेक्षिकया वेदाङ्गज्योतिषे विधत्तम्। इदमेवाश्रित्य आचार्यार्यभटब्रह्मगुप्तभास्करकमलाकरादिभिः ज्योतिर्विद्भिः वैज्ञानिकरीत्या वैदिकाश्रितं खगोलविज्ञानं निजकृतौ प्रतिपादितम्। भवतु नाम आलोचकैः ज्योतिर्विद्यायाः खगोलविज्ञानस्य चोत्पत्तिः यूनानग्रीकेष्वाक्षिप्यते परन्तवैतिहासिकदृष्ट्या नूनमेव प्रतिभाति यत् प्राचीनार्वाचीनानां सर्वेषां विज्ञानानां मूलं भारतीयधरातलमेव। 2800 वर्षेभ्यः प्रागेव आकाशे दैदीप्यमानानां ग्रहराशिनक्षत्रादीनां नामस्वरूपवर्णेभ्यः परिचितैर्भारतीयैः खगोल-विज्ञानस्याविष्कारः कृत इत्यैतिहासिकप्रमाणेरनुमीयते। बेबरमैक्समूलर-काउण्डबार्नसानां मतेन शास्त्रमिदं कलियुगाद्पूर्वमेवोद्भूतम्,एतेन न्यूनातिन्यूनं पञ्चसहस्रात्मकं प्राचीनमिदं विज्ञानमिति निर्णये न कश्चन सन्देहावसरः। वस्तुतः इतोऽपि प्राग्पूर्वमेव परम्परया व्यवहारे खगोलविज्ञानमासीत् तद्यथोक्तं सूर्यसिद्धान्ते मयं प्रति सूर्यांशपुरूषेण यत्–

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः॥[5]

ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य विविधाः पक्षाः

सिद्धान्तसंहिताहोरेति त्रिषु स्कन्धेषु विभक्तस्य ज्योतिषशास्त्रस्य आदेशशास्त्रत्वादादेशस्य शुभाशुभकालाधीनत्वात् शुभाशुभकालस्य ग्रहनक्षत्राधिष्ठनाच्च ज्योतिषशास्त्रस्य सर्वेऽपि पक्षाः प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण खगोलाश्रिताः। अत एव त्रिषु स्कन्धेषु विशुद्धखगोलशास्त्रपर्यायस्य सिद्धान्तज्योतिषस्य सर्वतोभावेन प्राधन्यमङ्गीक्रियते। गणिताश्रिते स्कन्धेऽस्मिन् त्रुट्यादारभ्य प्रलयान्तं यावत् कालगणना विविधानां कालमानानां सूक्ष्मातिसूक्ष्मविवेचनेन सह खगोलीयग्रहनक्षत्राणां चारप्रतिपादनं व्यक्ताव्यक्तगणितयोर्विश्लेषणं खगोलसम्बन्धिविषयाणाञ्च सङ्कलनं विद्यते। तत्र भूपृष्ठात् विविधैर्यन्त्रैः ग्रहोपग्रहनक्षत्रादीनां संस्थानमाननिरूपणं विधीयते। तदित्थमाचार्यभास्करेण–

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलनामानप्रभेदः क्रमात् चारश्च
द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्तस्स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः॥[6]

द्युचरचारवशात् कदा कुत्र च कीदृशी युतिवियुतिसंयुतिश्च खगोले (ग्रहयोः ग्रहनक्षत्रयोः नक्षत्रयोश्च) इति गणितीयगणनया विज्ञायैव होरासंहितास्कन्धाभ्यां ग्रहाणां प्रभावो निर्णीयते। ज्योतिषशास्त्रीयं खगोलविज्ञानं बहुत्र बहुधा स्फुटतयावलोक्यते। तेषु प्रमुखानां विषयाणा वर्गीकरणं पल्लवनञ्च क्रमश एकैकं विधीयते। एषु सिद्धान्तज्योतिषं विशुद्धतया खगोलशास्त्रं होरासंहिताज्योतिषञ्च खगोलीयप्रभावशास्त्रम्। ग्रहाणां कक्षाविस्तारेन साकं खगोलस्यापि विस्तृतिः कियन्मिता वर्तते इति ज्योतिषशास्त्रे वैज्ञानिकतया प्रतिपादितं वर्तते, अत्रेदं ध्यातव्यं यत् खगोलशब्दः ज्योतिषे ब्रह्माण्डपर्यायः। तच्च ब्रह्माण्डं कटाहसम्पुटद्वययुतं गोलाकृतिरूपमिति सूर्यसिद्धान्तवचनम्। अनन्ताकाशस्य ब्रह्माण्डस्य वा योजनात्मिका परिधिः रविकिरणप्रसारतुल्यैव यतो हि यावन्मिते खगोलीयक्षेत्रे दिनकरकरप्रकाशो जायते तावत्प्रमाणकं खक्षेत्रम् आकाशकक्षा वा प्रोच्यते। आचार्यभास्करेण खगोलविस्तृतेर्निरूपणापेक्रमे निगदितं यत्–

करतलकलितामलकवदमलं सकलं विदन्ति ये गोलम् ।
दिनकरकरनिकरनिहततमसो नभसःस परिधिरूदितस्तैः॥[7]

सौरमतेन खगोलस्य विस्तृतिप्रमाणं 18712080864000000 योजनात्मकम्। तदुक्तं सूर्यसिद्धान्ते भूगोलाध्याये–

खव्योमखत्रयखसागरषट्कनागव्योमाष्टशून्ययमरूपनगाष्टचन्द्राः।
ब्रह्माण्डसम्पुटपरिभ्रमणं समन्तादभ्यन्तरे दिनकरस्य करप्रसारः॥[8]

भास्कराचार्येण 18712069200000000 योजनात्मकं खपरिधिमानं निर्णीतम्–

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्धजठेन्दुभिर्ज्योतिश-
शास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनैः[9]।

परमत्र विशिष्टैका युक्तियुक्ता पद्धतिराचार्यैः खकक्षाविषये प्रतिपादिता। ग्रहः कल्पेऽस्मिन् स्वकीयया पूर्वगत्या यावन्मितं योजनमाक्रमति तावन्मितमेव खकक्षाविस्तृतिमानम्। तद्यथा–

ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि।
यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः॥[10]

इत्थं व्यत्यासेन खगोलीयानां सर्वेषां ग्रहोपग्रहाणां कक्षामानं साधयितुं शक्यते। खकक्षा यस्य यस्य ग्रहभगणैर्हियते तस्य तस्य ग्रहस्य कक्षामितिर्लभ्यते। तद्धि–

ग्रहस्य चक्रैर्विहृता खकक्षा भवेत्स्वकक्षानिजकक्षिकायाम्।[11]

वस्तुतः खगोलस्य कक्षाविषयिणी सूक्ष्मेक्षिका गवेषणात्मिका दृष्टिः भारतीयज्यौतिषस्य विलक्षणता। सम्प्रत्यप्यर्वाचीनैः खगोलवैज्ञानिकैः इयमेव पद्धतिमनुसृत्य क्षेत्रेऽस्मिन् शोधकार्यं विधीयते।

(ख) ज्योतिषशास्त्रीयं ग्रहविषयकं विज्ञानम्

ग्रहसंस्थाने प्राच्यपाश्चात्ययोर्मतद्वयं विद्यते। तत्र भूकेन्द्राभिप्रयिका वर्तुलाकारा **भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षेति**[12] क्रमिका ग्रहकक्षेति प्राचीनाः, दार्घवृत्ताकारा नाभिद्वययुता **विच्छुक्रक्षिति-भौमजीवशनयोः दीघेर्षु वृत्तेषु**[13] तदित्यर्वाचीनमतानुसारेण सूर्यकेन्द्रिका ग्रहकक्षा। वस्तुतः उभयोर्न कश्चन तात्विको भेदः यतो हि आधुनिकैः दीर्घवृत्ते एकस्मात् नाभिस्थिताद् सूर्याद् स्वकक्षास्थिते ग्रहे लम्बं विधाय सूर्यग्रहयोर्बिम्बान्तरसूत्रवशात् ग्रहावस्थितिं ग्रहगतेश्चानयनं विधीयते तत्र यथा यथा बिम्बान्तरसूत्रं वर्द्धते गतिर्न्यूना जायते सूत्रस्य न्यूनत्वाच्च गतिरधिका भवति। परं केपलरमहोदयस्य सिद्धान्तस्यास्य बीजानि ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञाने निहितानि। ज्योतिषशास्त्रे सर्वेषां ग्रहाणामूर्ध्वाधरत्वं व्यवस्थाप्य कक्षायोजनञ्च विगण्य्य कलात्मिकया दृष्ट्या ग्रहगतेर्वैलक्षण्यं प्रतिपादितम्। तच्च प्रोक्तमाचार्येण भास्करेण सिद्धान्तशिरोमणौ–

कक्षाः सर्वा अपि दिविषदां चक्रलिप्ताङ्कितास्ताः,
वृत्ते लघ्व्यो लघुनि महति स्युर्महत्यश्च लिप्ताः।

तस्मादेते शशिजभृगुजादित्यभौमेज्यमन्दा
मन्दाक्रान्ता इव शशधराद्धान्ति यान्तः क्रमेण॥[14]

अत एव भूमेस्सन्निकटत्वाद् चन्द्रः तीव्रतमः शनिः अतिदूरत्वान्मन्दतमश्च। अथ च ग्रहकक्षाक्रममिमाश्रित्यैव वैज्ञानिकरीत्या **मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपाः**[15] इति शास्त्रानुरोधेन शनितः आरभ्य क्रमशः प्रतिचतुर्थाः रविचन्द्रभौमबुधादयो वासराः भवन्ति। ग्रहाणां संस्थितिवशात् निर्धारितोऽयं वारक्रमः होराशास्त्रदृष्ट्यापि वैज्ञानिकः उपपत्तिमूलकश्च। एकस्मिन् अहोरात्रे चतुर्विंशतिहोरायां सर्वेषां ग्रहाणां होराः समायान्ति, इत्थं 24 होराः सप्तभिर्भाजिताः त्रयोऽवशिष्यते तेन तदनन्तरं चतुर्थ एव अग्रिमो वारेश उपपद्यते। इयान्स्त्वत्र विशेषः यत् ग्रहणे ग्रहस्पष्टीकरणे च विपरीतगतिकस्य पातस्य भूमिका महत्त्वपूर्णा, यतो हि यथा मन्दोच्चशीघ्रोच्चवशाद् ग्रहाणां पूर्वापरविक्षेपो जायते तथैव पातवशादुत्तरदक्षिणविक्षेपः संघटते। क्रान्तिवृत्तेन सह ग्रहविमण्डलस्य सम्पात एव पातः ज्योतिषे हि उत्तरो पातः राहुवाचकः दक्षिणश्च केतुसंज्ञकः। इयं राहुकेत्वोः वैदिकपूर्णा सङ्कल्पनापि सर्वप्रथमतया भारतीयज्यौतिष-खगोलविज्ञाने एव दरीदृश्यते। अर्वाचीनैस्तु राुकेतत्वोः (NODE) इति संज्ञा विधायास्य व्यवहारो विधीयते। इत्थं शीघ्रमन्दोच्चपातवशादेव ग्रहाणां अष्टविधा गतिः ज्योतिषशास्त्रे स्वीक्रियते–

वक्रातिवक्रा विकला मन्दा मन्दतरा समा।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः॥[16]

अत्रापि कुत्र कस्मिन् राशौ ग्रहकेन्द्रे सति का गतिर्भवतीति विपुलतया वर्णितम्। ग्रहगतौ एतादृशी सूक्ष्मव्यवस्था ज्योतिषशास्त्रीयखगोलविज्ञानस्य विलक्षणोपलब्धिः।

(ग) ग्रहस्पष्टीकरणसिद्धान्तपुरस्सरं ग्रहणविज्ञानं पातसङ्कल्पनौचित्यञ्च

ज्योतिर्विज्ञानस्य मूलभूताः एते विषयाः, ग्रहस्पष्टीकरणे हि विशिष्टरीत्या मन्दशीघ्रयोः नीचोच्चकल्पनया भङ्गिद्वयाभ्यां प्रक्रिया सञ्चालिता। ग्रहाणां केन्द्रं भूकेन्द्रं न तु भूपृष्ठमिति रहस्यमुद्घाट्य ग्रहाणां भ्रमणं दीर्घवृत्ते भवतीति नवीनमतस्याधारशिला ज्योतिषशास्त्रेनैव स्थापिता वर्तते। तदित्थमाह भास्कराचार्यः–

भूमेर्मध्ये खलु भवलयस्यापि मध्यं यतः स्याद्
यस्मिन् वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्यं कुमध्ये ।
भूस्थो द्रष्टा नहि भवलये मध्यतुल्यं प्रपश्येत्तस्मातज्ज्ञैः
क्रियत इह तद्दोः फलं मध्यखेटे॥[17]

कक्षाभेदस्यास्यैव नियमनार्थं यथा शीघ्रमन्दोच्चयोस्संस्कारो विहितः तथैव कालकृतविक्षेपनिवारणाय बीजसंस्कारो विधीयते। ग्रहाणां दृक्कर्मवशात् दर्शनयोग्यतासम्पादनं विभिन्नशुभाशुभफलानां निरूपणञ्च ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञानस्य परमलक्ष्यम्।

खगोलीयस्य सर्वथाश्चर्यजनकस्य घटनाचक्रस्य ग्रहणस्य यादृशं विज्ञानं ज्योतिषे वर्णितं तादृशमन्यत्र दुर्लभम्। ग्रहणे ग्रहविक्षेपेण पातवशाद् ग्रहणसम्भवासम्भवज्ञानं भूभालम्बनवलननतीत्यादीनां खगोलीयविषयाणां खण्डपूर्ण-खग्रासवलयादिचतुर्विधग्रहणानां स्पर्शसम्मीलनमध्योन्मीलनमोक्षाणां पञ्चावयवानां ग्रहणपरिलेखनिर्माणस्य च यथाक्रमं विवेचनं ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञानस्य प्रमाणभूतम्।

(घ) ज्योतिषशास्त्रीयं युतिविज्ञानं तत्रोदयास्तविमर्शश्च

लोकानां भावाभावाय परस्परं याम्योत्तरपूर्वापरोर्ध्वाधरत्वभेद-समाश्रितानामपि ग्रहनक्षत्राणां युतिवियुतिविचारः कृतो वर्तते। तत्र ग्रहयुतौ युद्धसमागमास्ततनविषये सूर्यसिद्धान्ते सूर्यांशेन मयं प्रत्युक्तं यत्–

ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ।
समागमः शशाङ्केन सूर्येणास्तमनं सह॥[18]

ग्रहयुतावेव सूर्यकिरणनिकरपिहितबिम्बानामुदयास्तविचारः क्रियते। कियन्मितेनान्तरांशेन कस्यां दिशि को ग्रहो उदयास्ममुपैतीति कालांशरूपेण सूक्ष्मतया निर्धारितं वर्तते। तदित्थं भास्कराचार्येणोक्तं यत्–

दस्रेन्दव : (12) शैलभुवश्च (17) शक्राः (14) रूद्राः
(11) खचन्द्राः (10) तिथयः क्रमेण।

चन्द्रादितः कालवा निरूक्ताः ज्ञशुक्रयोर्वक्रगयोर्द्विहीनाः॥[19]

सूर्यसिद्धान्तेऽप्येवमेव कालांशान् प्रतिपाद्य प्रोक्तं यत्–

एभ्योऽधिकैःकालभागैर्दृश्या न्यूनैरदर्शना।
भवन्ति लोके खचरा भानुभाग्रस्तमूर्तयः॥[20]

सम्प्रत्यप्यर्वाचीनैः ज्योर्तिविद्भिः एतानामेव एव कालांशानां आधारेणोदयास्तनिर्णयो विधीयते।

(ङ) खगोले सप्तविधवायोरवस्थितिः

खगोले क्रमशः ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेणनिम्नोक्तानां सप्तविधवायूनां सन्निवेशः ज्योतिषशास्त्रीयाचार्यैः कृतः–

1) भूवायुः, 2) प्रवहः, 3) उद्वहः, 4) संवहः, 5) सुवहः, 6) परिवहः, 7) परावहश्च।

भूमण्डलादुपरि द्वादशभिर्योजने खगोले भूवायोस्सत्ता विद्यते यत्र अम्बुदविद्युदादीनामवस्थितिः। तत ऊर्ध्वं पश्चिमाभिमुखो प्रवहवायुः वरीवर्ति, अनेनैव प्रवहवायुना प्रेरिता ग्रहनक्षत्रकक्षा भपञ्जरेण सह पश्चिमदिशि भ्राम्यमानास्ति। वस्तुतः प्रवहवायुकारणादेव नित्यं स्वगत्या पूर्वाभिमुखो भ्रमन् ग्रहः भूपृष्ठाद्

पश्चिमाभिमुखो भ्रमन्निव प्रतिभाति। एवमेव सर्वेषां वायूनां स्वानुगतं वैशिष्ट्यं वर्तते। सिद्धान्तशिरौमणौ गोलाध्याये निरूपितमाचार्येण–

भूवायुरावह इह प्रवहस्तदूर्ध्वः स्यादुद्वहस्तदनु संवहसंज्ञकश्च।
अन्यस्ततोऽपि सुवहः परिपूर्वकोऽस्माद् बाह्यः परावह इमे पवनाः प्रसिद्धाः।
भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरत्राम्बुदविद्युदाद्यम्।
तदूर्ध्वगो यः प्रवहः स नित्यं प्रत्यग्गतिस्तस्य तु मध्यसंस्था॥
नक्षत्रकक्षा खचरैः समंतो यस्मादतस्तेन समाहतोऽयम्।
भपञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन॥[21]

अत्र पश्यामो वयं यदैकविंशतिशताब्द्यामस्यां वैज्ञानिकयुगे यानप्रेक्षणे, कृत्रिमोपग्रहक्षेपणे सूक्ष्मतया सप्तविधवायूनां परिज्ञानमपेक्षितं वर्तते। कस्मिन् वायौ कीदृशं कियन्मितञ्च घनत्वं विद्यते कया गत्या च प्रेक्षणं कर्त्तव्यमित्यादिषु क्षेत्रेषु विज्ञानस्यास्य महत्त्वपूर्णमवदानम्।

(च) ज्योतिषीयवेधप्रक्रिया वेधशालानां खगोलविषयकं वैशिष्ट्यञ्च

ज्योतिषशास्त्रस्य खगोलविज्ञाने प्रत्यक्षत्वोपाधौ च वेधप्रक्रियैव मूलभूता। वेधप्रक्रियाज्ञानं विनास्य शास्त्रस्योत्पत्तिर्विकासो वा न केवलं कठिनमुतासम्भवतीति कथने नास्ति विप्रतिपत्तिर्परन्तु विचारणीयोऽयं प्रश्नः यत् किं तस्मिन् काले आधुनिकवेधशालावत् विकसिताः वेधशालाः वेधयन्त्राणि चासन् वा ऋषिभिः ग्रहनक्षत्रेषु आधुनिकान्तरिक्षीयोपग्रहसदृशमाध्यमैः तेषामध्ययनमं कृतमथवा केवलं नग्नदृष्ट्यैव योगबलमाध्यमेन सर्वं ज्ञातमुत ''यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे'' इति तत्वं विज्ञाय योगशक्त्या स्वशरीरस्थसौरमण्डले एव ब्रह्माण्डदर्शनं विधाय ग्रहनक्षत्रादिपिण्डानां रहस्यं विज्ञातम्, यतो हि लिखितसाक्ष्यरूपेण तात्कालिकवेधप्रक्रियायाः वर्णनं वेदेषु, संहितासु, ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्साहित्ये वा स्पष्टरूपेण न प्राप्यते तथा च वेधयन्त्राणां वर्णनन्तु स्पष्टतया कुत्रापि न प्राप्यते, तथापि वैदिकज्योतिषवर्णनमधीत्येदन्तु प्रतीयत एव यत् वेधयन्त्रसिद्धप्रयोगविधिं विना खगोलीयसिद्धान्तानां निर्धारणन्नकेवलं कठिनमुता-सम्भवमपि, अतः वेधपरम्परास्थितौ नास्ति सन्देहावसरः। अयनबिन्दोश्चलनं निरन्तरप्रेक्षणेनैव ज्ञातुं शक्यते तथा कालाठानां वर्षायनर्तुमासपक्षतिथीनान्निर्धारणे प्रथमतया वेधस्यावश्यकतासीदेव यद्यप्येषु विषयेषु तात्कालिकस्थूलतयेदं सिद्धयति यदाधुनिकयन्त्रकृतवेधवत् तात्कालिकवेधपरिणामेषु सूक्ष्मता नासीत्।

केचन पाश्चात्यविद्वांसः एवङ्कथयन्ति यद् भारतीयाः पूर्वं वेधज्ञाः नासन् प्रत्युत तेषां वेधपरम्परापि नासीन्न च वेधयन्त्राण्यासन्। परन्तु ऋग्वेदकालेऽस्माकं सप्तविंशतिनक्षत्राणां ज्ञानं महाभारते ग्रहनक्षत्रधूमकेतूना-ञ्चोल्लेखः, वाल्मीकिरामायणे ग्रहनक्षत्रादीनां वर्णनं, याज्ञवल्क्यस्मृतौ नक्षत्रवीथीनामुल्लेखः, पुराणेषु ब्रह्माण्डस्वरूपवर्णनमिदं द्योतयति यदस्माकम्पूर्वजाः प्राचीनकालत एव न केवलमाकाशवलोकने दत्तचित्ताः आसन्नपित्वस्य ब्रह्माण्डस्यैतादृशानि रहस्यानि ते वर्णितवन्तः येषामाधुनिक-यन्त्रोपलक्षितब्रह्माण्डरहस्येन नीहारिकादीनां वर्णनेन चात्यधिकसाम्यता स्पष्टता च प्रतीयते। संहिताग्रन्थेषु ग्रहचाराध्यायाः, नक्षत्रेषु ग्रहाणाम्भ्रमणं वराहकृतानेक-धूमकेतूनां वर्णनं यत् वर्तते तद्विषये वराहमिहिरेण प्रोक्तमस्ति यदहं गर्गपाराशराश्रितदेवलादिऋषिकृतवर्णनानुसारङ्केतुचारं लिखामि। अत्रेदं सुनिश्चितं यदुद्दालकादिऋषिभि-रन्वेषितत्वात् केतूनामुद्दालकादिसंज्ञाः जाताः, यथाधुना योरोपियनज्यौतिषिकानाम् नाम्ना एनकी धूमकेतुः इत्यादीनां नामानि सञ्जातानि। वेधशालासु वेधयन्त्राणां प्रयोगकर्तृकज्योतिर्वित्सु मूलरूपे शक्तिपुत्रपराशस्य वसिष्ठस्य, गृत्समदस्य तथा रहूगणपुत्रगौतमस्य नामानि उल्लेखनीयानि सन्ति। एभिः यानि प्रेक्षणानि क्रियन्ते स्म, तानि ''स्तृ'' शब्देन प्रयुज्यन्ते स्म।

ग्रहनक्षत्राणां दर्शनपरम्परा वैवाहिकसाक्ष्यरूपेऽप्यस्माकं देशेऽनादिकालात् प्रचलिता वर्त्तते। विवाहसंस्कारवर्णनेष्वस्याः प्रथायाः उल्लेखोऽस्ति यत् वरवधूभ्यां स्थैर्यप्रतीकरूपे ध्रुवतारायाः दर्शनं विधेयम्, ध्रुवशब्दस्यार्थः स्थिरता। वेधेन ध्रुवतारायाः स्थिरत्वनिर्धारणार्थम्प्रयासोऽवश्यमेव गणितीयध्रुव-तारायाःनिकटस्थतारार्थे आसीत्, यतो हि 2780 ईस्वीपूर्वं (अनेक-सहस्रवर्षपूर्वमपि) कोऽपि तारकः गणितीय-ध्रुवतारानिकटे नासीत् यो हि ध्रुवो वक्तुं शक्यते। केवलं तृतीयश्रेण्याः प्रथमकालीयः (एल्फा ड्रेकोनिस) नामकस्ताराविशेषः गणितीयध्रुवेन निकटतमः 2780 ईस्वीपूर्वमासन्नतयासीदतः वैवाहिकध्रुवतारायाः दर्शनप्रथा 2780 ईस्वीपूर्वतः आसीदित्यनुमीयते।

प्राचीनकाले केन विधिना खगोलीयपदार्थानां निरीक्षणमवलोकनं वा क्रियते स्म, विचार्यमाणे प्रश्ने ज्ञायते यत् यष्ट्या नलिकया वा नग्ननेत्रदृष्ट्या दर्शनप्रक्रिया आसीत्। विशेषाध्ययनेननेदमेव प्रतीयते यत् प्राचीनकाले ज्योतिर्विदां यन्त्रकेवलं शङ्कुरेवासीत्। तेनैव शङ्कुना राशिचक्रे ग्रहनक्षत्राणामवस्थितेर्ज्ञानं दिग्ज्ञानञ्च विधीयते स्म। कालक्रमवशात् स्वबुद्धिवैभवेन विविधानां खगोलिकीययन्त्राणां निर्माणमाचार्यैः विहितम्। तेषु प्रथमतया भारतवर्षे धूपघटिकायाः आविष्कारः 2-3 सहस्रवर्षपूर्वमेव भारते आसीदिति शुल्बससूत्रेष्वनेकस्थलेषु **कीली** नामकस्य शङ्कुविशेषस्य साक्ष्येण प्रमाणीक्रियते। एतदनुसृत्यैव बाबुलप्रदेशे **विरोसस** नामकेन ज्योतिर्विदा 300 ईस्वीपूर्ववर्षे धूपघटीयन्त्रं निर्मितम्। एतदनन्तरं रोमनगरेऽपि 164 ईस्वीपूर्ववर्षे

अस्य घटीयन्त्रस्य निर्मितिः जाता। कालोपक्रमे लगधार्यभटवराहभास्करप्रभृतिभिः सर्वैराचार्यैः विविधानां खगोलीययन्त्राणां चर्चा निजकृतौ विहिता। सर्वप्राथम्येन खगोलीयावस्थितिमवगन्तुं गोलयन्त्रस्य कल्पना कृता, तत्र याम्योत्तरे द्वयोः ध्रुवयोः कीलकत्वेन निवेशः कृतः तन्गोलमध्ये क्रान्तिनाडीक्षितिजयाम्योत्तरपूर्वापरादीनां महद्वृत्तानां कदम्बाहोरात्रादीनां लघुवृत्तानाञ्चावस्थितिर्विधत्ता। इत्थं सर्वासां खगोलीयप्रक्रियानां प्रातिभासिकमवलोकनं यन्त्रेणानेन कर्तुं पार्यते। बुद्धिरूपपारमार्थिकयन्त्रस्य श्रेष्ठत्वमुद्घोष्य वेधोपयुक्तविविधानां यन्त्राणां वर्णनं कृतमित्थमाचार्य-भास्करद्वितीयेन–

गोलो नाडीवलयं यष्टिः शङ्कुर्घटीचक्रम्।
चापं तुर्यं फलकं धीरेकं पारमार्थिकं यन्त्रम्।।[22]

(छ) ज्योतिषशास्त्रस्यखगोलीयवेधप्रक्रियायाः साम्प्रतिकी स्थितिः

वर्तमानकालेऽस्माकं देशे वेधप्रक्रियायां या उन्नतिर्दृष्टिपथं विस्तारयति सा वस्तुतः समग्रविश्वस्य सम्मिलितप्रयासस्य प्रतिफलं वर्त्तते। राज्ञः जयसिंहस्य ज्योतिषविषयकवेधकार्येषु दत्तचित्तत्वादस्माकं देशे वेधपरम्परायां प्रेक्षणार्थं वेधयन्त्राणाम् एको नूतनो पन्था समुद्घाटितोऽभूत्। विशालवेधयन्त्राणान्निर्माणपुरस्सरमस्माकं देशे देहली-जयपुर-वाराणसी-मथुरा-कोलकाता- उज्जैनाख्येषु षड्नगरेषु वेधशालानां स्थापना सवाईजयसिंह-द्वितीयस्यादेशेन जाता। अस्मिन्नेव कालेऽष्टादशशताब्द्याः प्रारम्भिकवर्षेषु यवनदेशेष्वरबमिस्रदेशेषु च जनाः वेधकार्येषु संलग्नाः आसन्। राज्ञः जयसिंहस्य प्रयासात्तद्देशीयाः वेधविद्याविद्वांसोऽत्राहूताः तथात्रत्याः वेधपण्डिताः विदेशेषु प्रेषिताः। इत्थं परस्परं ज्ञानस्यादानप्रदानेनास्यां दिश्युन्नतेः द्वारमुद्घाटितम्। अनन्तरं पाषाणेष्टिका-चूर्णादिभिर्निर्मितानि यन्त्राणि वेधपण्डितैः स्थूलनिर्णयप्रदायकानि एकस्थानान्यत्र नेतुमयोग्यान्याकलय्य लघ्वाकाराणां लौहनिर्मितवेधोपकरणानान्निर्माणदिशि प्रयासः समारब्धः। तथा च स्वयं जयसिंहेन पाश्चात्यदेशेभ्यः दूरदर्शकयन्त्रं समानीय तस्य महत्त्वं दृष्टम् एवम् अत्र भारतीयवेधपरम्परायां दूरदर्शकस्यागमनादेकं परिवर्तनं बभूव। गैलीलियोवैज्ञानिकेन यो हि दूरदर्शकस्य प्रथमाविष्कर्तासीत्, वेधजगति नवीनक्रान्तेः श्रेयः गृहीतः। एवं भारतीयवेधपरम्परापि जयसिंहस्थापित-वेधशालानां मार्गं परित्यज्य दूरदर्शकप्रधानवेधशालायुगे प्रविष्टवती।

इत्थमाङ्गलशासकानाङ्काले व्यापारप्रचारसंवर्धनदृष्ट्या सामुद्रिकमार्ग-निर्धारण-प्रसठे नौपरिवहनसौविध्यदृष्ट्या चाकाशनिरीक्षणार्थन्तारकानाम्प्रेक्षणार्थं वा 1792 खिस्ताब्दे मद्रास वेधशालायाः स्थापनाभूत्। शनैश्शनैरत्र तारकाणामध्ययने वृद्धिः जाता। आकाशीयग्रहनक्षत्रादीनां वेधार्थमत्र देशे स्थाने-स्थाने दूरदर्शकयन्त्राणां स्थापनेनपाश्चात्यवेधशाला-वदाधुनिकवेधोपकरणैस्सुसज्जितानां वेधशालानां स्थापनादिशि प्रयासाः प्रवर्धिताः। तस्मिन्नेव क्रमे कोड़ाईकनालवलूरउटकमण्डउदयपुर-माउण्ट-आबूदेवप्रयाग-नैनीतालअहमदाबादादि स्थानेषु वेधाशालाः संस्थापिताः अभवन्। तासु वेधशालासु यद्यपि विशिष्टवेधयन्त्राणि पाश्चात्यदेशेभ्यस्समानीतान्यासन् परन्तु सम्प्रति भारतीय-वेधशालासु प्रयोगशालाः निर्माणशालाश्चापि वर्तन्ते, यत्र दूरदर्शकानां विशिष्टयन्त्राणां वेधोपकरणाणाञ्च निर्माणदिशि प्रयासाः प्रचलन्ति निर्माणञ्च विधीयते।

अन्तरिक्षानुसन्धानसंगठनस्य (इसरो) स्थापनानन्तरं देशे चत्वारि केन्द्राणि संस्थापितान्यभवन्। यत्रान्तरिक्षोपग्रहप्रेषणसम्बन्धिकार्यं दिनानुदिनमेधते। अस्यां दिशि आर्यभटभास्कररोहिणीएप्पलइन्सैटशृङ्कलाया उपग्रहान् सुदूरेऽन्तरिक्षेप्रक्षेपयित्वा-स्माकं देशस्य वेधपरम्पराप्याधुनिकतम-वेधप्रणालीयुक्तदेशपङ्क्त्यामन्तरिक्षीयवेधशाला-युगे स्थानमलङ्कृतवती। यथा विश्वस्य समृद्धदेशानां वेधशालाः (आईन्सटाइन वेधशालावत्) अन्तरिक्षगर्भे भूकक्षायां स्थित्वा वेधदृष्टिमन्तरिक्षीयदूरवीक्षणयन्त्रमाध्यमेन गहनान्तरिक्षे विस्तारयन्ति, तथैव भारतीयोपग्रहा अपि भूमेर्प्राकृतिकस्थलानामनु-सन्धानेनास्यां दिशि महत्त्वपूर्णामुन्नतिं प्राप्तुम् प्रयतन्ते।

विश्वस्य पाश्चात्यदेशेषु विषयेऽस्मिन् महत्त्वपूर्णानि परिवर्तनानि सम्प्रति श्रूयन्ते दृश्यन्ते च। भू उपग्रहानामस्मिन् युगे मनुष्योऽन्तरिक्षस्थदूरवीक्षणैः वेधं सम्पादयिष्यति। अमेरिकादेशस्य राष्ट्रियोड्डयनेनान्तरिक्षप्रशासनेन (नासाख्येन) पृथिव्याः परिक्रमण-शीलानामनेकवेधशालानामन्तरिक्षे स्थापनार्थं योजना निर्मीयते। अस्य प्रारम्भः **''हबल''** अन्तरिक्षदूरदर्शकेन जातः यस्योपरि 1.4 अर्बुदडालरमितधनव्ययोऽनुमानितः। अस्यान्तरिक्षदूरदर्शकस्य दृष्टिमार्गे कीदृशमपि वातावरणं बाधयितुन्न शक्यते तथा चेदमस्माकन्निकट-वर्तीतारकान् पार्श्वस्थितग्रहान् नैकट्येन वेधयितुं शक्ष्यतेऽर्थाद् ब्रह्माण्डेऽन्य-सौरमण्डलानां स्थितिमपि निर्देष्टुं समर्थो भविष्यति। ''हबल'' संज्ञकमन्तरिक्ष-दूरदर्शकमिदं स्वकार्यं सम्यक्तया सम्पादयति। अस्मिन् दूरदर्शके आगता त्रुटिः वैज्ञानिकैः स्पेसशटलमाध्यमेन तत्र गत्वापास्ता। वेधशालयैव ग्रहाणां कालकृतविक्षेपमवगम्य सम्प्रति ग्रहस्पष्टीकरणे तिथिच्युतिकर्षकिरणवक्री-भवनादीनां पाक्षिकसंस्कारो वार्षिकसंस्कारश्च विधीयते।

(ज) ज्योतिषशास्त्रीयखगोलस्य विविधाः वैज्ञानिकसिद्धान्ताः

गणितीयसिद्धान्ताश्च

आधुनिकखगोलविज्ञानस्य बहूनां सिद्धान्तानां बीजानि भारतीय-ज्योतिषशास्त्रे निहितानि। **Big-Bang Theory** नाम्ना प्रसिद्धस्य खगोलीयसिद्धान्तस्य मूलं सूर्यसिद्धान्तोक्तं ब्रह्माण्डोत्पत्तिविज्ञानमेव। आकर्षणसिद्धान्तस्य आविष्कतृरूपेण यः श्रेयः न्यूटनमहोदयाय पाश्चात्यैः प्रदीयते, तस्याकर्षणसिद्धान्तस्य मूलं ज्योतिषशास्त्रमेव। सूर्यसिद्धान्ते तद्यथा–

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्रिताः।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्याः ग्रहाणां गतिहेतवः॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिङ्मुखम्॥[23]

इत्यनेन रूपेण खगोलीयपिण्डेषु आकर्षणं प्रतिपाद्य सिद्धान्तस्या-स्योद्घाटनं कृतं वर्तते। आचार्यभास्करेण सर्वप्रथमतया एकादशशताब्द्यां स्वकृतौ शिरोमणौ आकर्षणसिद्धान्तं प्रतिपादितम्। तद्यथा–

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरूं स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥[24]

खगोलीया काचिदपि अपि घटना दिग्देशकालभेदेन भूगर्भीयपृष्ठीय-भेदेन च भिन्नत्वमुपयातीति कृत्वा अयनचलनसिद्धान्तः, नतिलम्बनयोस्संसकारः बीजसंस्कारश्च ज्योतिर्विद्भिः प्रतिपादितः।

शोधसारांशः

वस्तुतः अनेकानां वैज्ञानिकविषयानां आधारभूतमिदं ज्योतिषशास्त्रीय-खगोलविज्ञानम्। शोधपत्रेऽस्मिन् समेषां बीजरूपेण सङ्केतः कृतः वेधशालाविज्ञानविषये च कीदृशी ज्योतिषशास्त्रीया महती परम्परा प्राचीनकालतो सम्प्रत्यपि प्रवहमाना विद्यत इत्यैतिहासिकदृष्ट्या ज्ञातुं शक्यते। भवतु नाम नैकानां सिद्धान्तानां तेषां पल्लवनं यान्त्रिके युगेऽस्मिन् भौतिकरासायनिकविद्यया जातं परं मूलतो सर्वमिदं वैदिकविज्ञानरूपम्। सम्प्रत्यपि क्षेत्रेऽस्मिन् अस्माभिर्गवेषणात्मिका दृष्टिरपेक्षिता वर्तते। नूतनग्रहोप-ग्रहताराणां प्रेक्षणम्, उल्काधूमकेत्वादीनां परीक्षणम्, कृत्रिमोपग्रहाणां गगने निक्षेपणं सम्प्रत्यपि ज्योतिषशास्त्रीयागोलविज्ञानमाश्रित्यैव विधीयते इति विविच्य विरम्यमते लेखप्रयासेन।

सन्दर्भाः

1. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य स्पष्टाधिकारे –श्लो. सं.- 01
2. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्य गोलप्रशंसायाम् –श्लो. सं.- 06
3. ऋग्वेदे 8 अष्टक 1 अनुवाक 12 सूक्त 6 मन्त्रः। यजुर्वेदे 33 अध्या. 7 मन्त्रः 10 मण्डल 12 अध्याय 52 सूक्त 6 मन्त्रः।
4. तत्रैव श्लो. सं. -05
5. सूर्यसिद्धान्तस्य मध्यमाधिकारे श्लो. सं.-09
6. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कालमानाध्याये –श्लो. सं.- 06
7. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो. सं.- 01-1/2
8. सूर्यसिद्धान्तस्य भूगोलाध्याये श्लो. सं.-90
9. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये– श्लो. सं.- 02
10. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो. सं.- 03
11. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते कक्षाध्याये –श्लो. सं.- 04
12. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्यभुवनकोशे –श्लो. सं.-2 पूर्वाद्ध
13. केतकीग्रहगणिते प्रस्तावाधिकारस्य श्लो. सं.-07
14. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य मध्यमाधिकारान्तर्गते अधिमास-निर्णयाध्याये –श्लो. सं.-27
15. सूर्यसिद्धान्तस्य भूगोलाध्याये –श्लो. सं.-78
16. सूर्यसिद्धान्तस्य स्पष्टाधिकारे –श्लो. सं.-12
17. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य छेद्यकाधिकारे –श्लो. सं.-0
18. सूर्यसिद्धान्तस्य ग्रहयुत्यधिकारे –श्लो. सं.-01
19. सिद्धान्तशिरोमणौ गणिताध्यायस्य ग्रहोदयास्ताधिकारे –श्लो. सं.-07
20. सूर्यसिद्धान्तस्य उदयास्ताधिकारे –श्लो. सं.-09
21. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्य मध्यगतिवासनायम् –श्लो. सं.-01-03
22. सिद्धान्तशिरोमणौ गोलाध्यायस्य यन्त्राध्याये –श्लो. सं.-02
23. सूर्यसिद्धान्तस्य स्पष्टाधिकारे –श्लो. सं.-01-02

ज्योतिश्शास्त्रानुसारेण भूकम्पस्य वैज्ञानिकं विश्लेषणम्

कृष्णकुमारभार्गवः एवं डॉ विनयकुमारपाण्डेयः***

सिद्धान्त-संहिता-होरेति ज्योतिषस्य स्कन्धत्रयेषु अन्यतमः स्कन्धः वर्तते संहितास्कन्धः। स्कन्धेऽस्मिन् समष्टेः फलविवेचनं प्रकृत्याधारितं क्रियते। तत्र एतादृशाः घटना अपि सञ्जायन्ते याभिः सर्वत्र विनाश एव जायते। प्रायः एतासां घटनानामुपरि मानवस्य नियन्त्रणं न भवति। मानवः न त्वेतासां घटनानामागमनं स्थगयितुं शक्नोति न च तासु परिवर्तनं कर्त्तुं शक्नोति। परं एताः घटनाः कदा समागमिष्यन्त्येतस्य ज्ञानं ज्योतिश्शास्त्राधारेण आधुनिकविज्ञानाधारेण च कर्त्तुं शक्यते येन घटना-नामपाकरणं कर्त्तुं सम्भवते। एताः विनाशकारीघटनाः (अतिवृष्टिः, भूकम्पः, अल्पवृष्टिः, उल्कापातः, हिमपातः इत्यादयाः) मानवजीवनं समूलं नाशयति। एतासु घटनासु एकात्यन्तविनाशकारी घटना वर्तते भूकम्पः।

ज्योतिश्शास्त्रानुसारेण भूकम्पस्वरूपविवेचनम् – तत्र भूकम्पलक्षणे ज्योतिषाचार्याणां मतवैभिन्यं दरीदृश्यते। यथोक्तं बृहत्संहितायाम्–

क्षितिकम्पाहुरेके बृहदन्तर्जलनिवासिसत्वकृतम् ।
भूभारखिन्नदिग्गजविश्रामसमुद्भवं चान्ये॥[1]

अर्थात् आचार्यकश्यपानुसारेण जलमध्ये ये बृहन्तो जीवाः वसन्ति तेषां वशादेव भूकम्पः सञ्जायते। तथा च आचार्यगर्गस्य मतमस्ति यत् भूभारेण ये दिग्गजाः तेषां विश्राम उच्छवसनं तदुत्पन्नं क्षितिकम्पमिति। अपि च–

अनिलोऽनिलेन निहतः क्षितौ पतन् सस्वनं करोत्यन्ये।
केचित्वदृष्टकारितमिदमन्ये प्राहुराचार्याः॥[2]

अर्थात् आचार्यवशिष्ठस्य मतमस्ति यत् पवनानां परस्परसंघर्षेण तद् भूमौ पतति येन भूकम्पः समायाति। अथ च वृद्धगर्गस्य मतमस्ति यदधर्मेणाभिवृद्धेन प्रजानामशुभसंसूचनायाशुभं भूमिकम्पमुत्पद्यत इति। अपि च भूकम्पस्य वैज्ञानिकं विवेचनं सिद्धान्ततत्वविवेकेऽपि विद्यते यथा–

पाषाणैः कठिना भूमिर्यत्र तत्र कुतो बलात्।
वाष्पनिःसरणात् कम्पः शब्दोऽपि सततं भुवि॥[3]

आधुनिकमतानुसारेण भूकम्पस्वरूपविवेचनम् – भूमेः कम्पनमिति भूकम्पः। भूवैज्ञानिकानुसारेण भूमिगतावरणानां स्वस्थाने कम्पनेन भूकम्पः भवति। भूमेऽन्तः टेक्टोनिकपरपटट्याः भवन्ति तत्र भूमावस्थित विभिन्नगैसीयोर्जाणां तरंगरुपेण बहिरागमनेन एताषां परपर्टीनां मध्येऽपसरणं भवति येन भूकम्पः समायाति। भूकम्पस्य यावान् वेगः भवति तावत्येव जन-धनस्य हानिर्भवति। प्रमुखतया भूकम्पस्य तीव्रता रिक्टरपरिमाणाधारेण ज्ञायते। प्रायः शून्यादारभ्य त्रिपरिमितं रिक्टरपरिमाणस्य भूकम्पः सामान्य एव भवति परञ्च त्रिभ्योऽधिके सति यावान् भूकम्पस्य वेगोऽधिकः भवति तावानेव हानिकारकः भवति। अथ च भूकम्पक्षेत्रस्य निर्धारणं भूकम्पकेन्द्रानुरोधेन भवति। अर्थात् यावत् भूकम्पकेन्द्रं भूमेऽन्तः भवति तावदधिकक्षेत्रे भूकम्पः समायाति, एवञ्च यदि भूकम्पकेन्द्रं भूमेः उपर्येव भवति चेदल्पक्षेत्रैव भूकम्पः समायाति।

भूकम्पस्य प्राकृतिकलक्षणानि – भूकम्पः कदा समागमिष्यतीत्यस्मान् प्रकृतिः संसूचयति। कानिचन प्राकृतिकलक्षणानि भवन्ति येषामाधारेणास्माभिर्ज्ञातुं शक्यते यत् भूकम्पः अन्या कापि प्राकृतिकापदा वा कदा समागमिष्यतीति। यथा–

1. भूकम्पदिवसात् षड्भ्यः, अष्टसप्ततिः दिवसेभ्यः प्राक् बहव्यः पिपिलिकाः भूमेः बहिः वृक्षाणामुपरि, पर्वतोपरि, शिलानामुपरि च पलायनं कुर्वन्ति।
2. मूषकाः स्वस्थानात् द्वादशेभ्यः, षट्त्रिंशत् दिवसेभ्यः प्रागेव बहिः इतस्ततः धावन्ति।
3. भूकम्पदिवसात् प्राक् वानराणामुत्पातः अत्यधिकः सञ्जायते।
4. भूकम्पकालात् षड्होरात् प्राक् श्यामवर्णीयपिपिलिकाः स्वाण्डं स्वीकृत्य स्वस्थानं त्यजन्ति।
5. कुक्कराः दिनद्वयात् प्रागेवात्यधिकं भुक्कन्ति धावन्ति च।
6. भूकम्पकालात् प्राग्गावः क्रन्दनं कुर्वन्ति।

एवं प्रकारेण यद्येतानि प्राकृतिकलक्षणानि यदि दृष्टिगोचराणि भवन्ति चेदस्माभि इदमाशकंयितुं शक्यते यत् भूकम्प आगमिष्यतीति ।

भूकम्पस्य ज्योतिषीयलक्षणानि – यथा प्रकृतिरस्मान् भूकम्पविषये सूचयति तथैवास्माकं ज्योतिश्शास्त्रमपि ग्रहाणां स्थितिः, परस्परदृष्टिसम्बन्धवशाद्, गतिवशाच्च सूचयति यत् कदा भूकम्पः समागमिष्यतीति। भूकम्पोत्पादकानां ग्रहाणां विषये पश्यामश्चेद् भौमः पृथिव्याः कारकः ग्रहोऽस्ति अथ च शनिः भूमितः यानि वस्तूनि बहिरागच्छन्ति यथा विभिन्नगैसादयाः तेषां कारकोऽस्ति एवञ्च राहुः भूमेः कम्पनस्य विनाशस्य च कारकोऽस्ति। एतेषां ग्रहाणां परस्परस्थान-दृष्टि-भावसम्बन्धेन भूकम्पः समागच्छति। यथा–

---

*शोधच्छात्रः, ज्योतिषविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दुविश्वविद्यालयः, वाराणसी।
**सहायकाचार्यः, ज्योतिषविभागः, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः, काशीहिन्दुविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

दिनांकः	स्थानम्	भौमस्य राशिस्थितिः	शनेः राशिस्थितिः	अनयोः सम्बन्धः
13.02.01	इंडोनेशिया	वृश्चिक	वृष	शनि-भौमयोः परस्परपूर्णदृष्टिः
24.02.01	इंडोनेशिया	वृश्चिक	वृष	शनि-भौमयोः परस्परपूर्णदृष्टिः
28.02.01	वाशिंगटन	वृश्चिक	वृष	शनि-भौमयोः परस्परपूर्णदृष्टिः
23.06.01	पेरु	वृश्चिक	वृष	शनि-भौमयोः परस्परपूर्णदृष्टिः
07.07.01	पेरु	वृश्चिक	वृष	शनि-भौमयोः परस्परपूर्णदृष्टिः
31.10.01	न्यूजीलैण्ड	मकर	वृष	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रगौ
14.11.01	चीन	मकर	वृष	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रगौ
23.12.01	दक्षिण-आफ्रीका	कुम्भ	वृष	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रस्थितः
26.04.02	मैक्सिको-आफ्रीका	वृष	वृष	शनि-भौमयोः युतिः
02.11.02	इंडोनेशिया	कन्या	मिथुन	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रस्थितः
03.11.02	अलास्का	कन्या	मिथुन	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रस्थितः
17.11.02	कुरील-आफ्रीका	कन्या	मिथुन	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रस्थितः
26.05.03	इंडोनेशिया	मकर	मिथुन	भौमः शनेः दशमे स्थितः
20.06.03	ग्रीनलैंड	कुम्भ	मिथुन	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रगौ
21.08.03	न्यूजीलैण्ड	कुम्भ	मिथुन	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रगौ
15.11.04	कोलम्बिया	तुला	कर्क	शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रे
05.02.05	इंडोनेशिया	धनु	मिथुन	शनि-भौमयोः परस्परपूर्णदृष्टिः

1. शनि-भौमयोर्मध्ये परस्परपूर्णदृष्टिसम्बन्धः स्थानसम्बन्धो वा भवेत्।
2. शनि-भौमौ परस्परकेन्द्रे त्रिकोणे वा भवेताम्।
3. शनिः स्वराशौ भवेत्।
4. शनि-भौमयोः सम्बन्धः अष्टमभावेन सह भवेत्।
5. भौमः शनेः नक्षत्रेषु (पुष्य, अनुराधा, उत्तराभाद्रपद) भवेत्।
6. शनिः भौमस्य नक्षत्रेषु (मृगशिरा, चित्रा, धनिष्टा) भवेत्।
7. प्रायः ग्रहणात –3,4,5,13,16,17,28,37,48,57,71,78 दिवसानन्तरं भूकम्पः समागच्छति।

यथा गतवर्षेष्वागताः प्रमुखभूकम्पाः येष्वेते योगाः संघटन्ते।

एवं प्रकारेणास्माभिः वक्तुं शक्यते यत् ग्रहाणां परस्परसम्बन्धेन भूकम्पादिविवेचनं कर्त्तुं शक्यते।

भूकम्प-ग्रहणयोः परस्परसम्बन्धः - भूकम्पोत्पत्तौ कदाचित् कारणं ग्रहणमपि भवति। प्रायः भूकम्पः अन्यप्राकृतिकापदा वा पूर्णिमायाम्, अमायां, सप्तम्याम्, अष्टम्यां वा तिथौ भवति। तत्र ग्रहणमपि पूर्णिमायाम्, अमायाञ्च भवति। तत्र भूकम्पे ग्रहणमपि मुख्यं कारणं वर्तते तत्रापि चन्द्रग्रहणं मुख्यमस्ति मन्ये तावत् कारणमिदमेव वर्तते यत् चन्द्रः पृथिव्या अत्यन्तसन्निकटोऽस्ति अतः अस्य प्रभावः भूमावत्यधिकः वर्तते। यथा ग्रहणदिवसे समीपे वा आगतानां केचनप्रमुखभूकम्पानामुदाहरणम्–

अथ च एकः विनाशकारीभूकम्पः 16.09.1978 इसवीये इरानमध्ये आगतः तस्मिन् 25000 जनाः मृताः अयं भयावहभूकम्पः चन्द्रग्रहणस्य 3.5 होरेभ्यः प्रागागतः। अथ च सूर्यग्रहणस्यापि सम्बन्धः भूकम्पे भवति परं तावत् न भवति यावत् चन्द्रग्रहणस्य भवति, तथापि केचन परिणामाः सन्ति येषामाधारेण अस्माभिः वक्तुं शक्यते यत् कश्चनप्रभावः तु भवत्येव। यथा– 08.10.05 दिनांके कश्मीरे एवञ्च 12.01.2010 दिनांके हैती मध्ये आगतः भयकंरविनाशकारीभूकम्पः यस्मिन् अत्यधिक जन-धनहानिरभवत्। उभयोरपि भूकम्पः सूर्यग्रहणस्य 5 दिवसेभ्यः मध्ये आगतः। एवं प्रकारेणास्माभिः वक्तुं शक्यते यत् ग्रहण-भूकम्पयोः कश्चन सम्बन्धः त्वस्त्येव। अस्य विस्तृतविवेचनं फलकमाध्यमेन अग्रिमपृष्ठे प्रस्तूयते।

भूकम्पप्रभावः - भूकम्पप्रभावं बहुविधा विभज्यते एवम् 7

1. भूमेः कम्पनं विदलनञ्च।
2. भूस्खलनं हिमस्खलनञ्च।
3. सूनामी।
4. आप्लावः।
5. मानवप्रभावः
6. ज्योतिषीयदृशा भूकम्पप्रभावः

1. भूमेः कम्पनं विदलनञ्च – भूकम्पप्रभावेषु मुख्यत्वेन भवत्ययं प्रभावः। भूकम्पे कदाचित् भूमेः केवलं कम्पनमेव भवति कदाचित् भूमेः विदलनमपि भवति। तत्र विदलनं नाम भूमेः भूपरपटीनां विस्थापनमेव। अनेन कारणेन अत्यधिकजन-धनहानिः तथा च मार्गाः अवरुद्धाः भवन्ति।

2. भूस्खलनं हिमस्खलनञ्च – भूकम्पः भूस्खलनं हिमस्खलनञ्चाप्युत्पन्नं करोति। येन पर्वतीयक्षेत्रेषु हानिः सञ्जायते।

3. सूनामी – भूकम्पस्य अन्यद् स्वरुपं सूनामी अपि भवति। यतोहि यदा सागरे भूकम्पः समायाति तद् स्वरुपमेव सूनामी भवति। अस्याः स्वरुपं यदि विस्तृतं भवति चेत् अत्यधिकमात्रायां जन-धनहानिः भवति। उदाहरणेन 2004 मध्ये हिन्द-महासागरे आगता सूनामी।

दिनाङ्कः	भूकम्पस्थानम्	भूकम्प-परिमाणः	हानिः	ग्रहस्थितिः
26.01.01	गुजरात(भारत)	7.6	19727 जनाः मृताः	चन्द्रग्रहणस्य 15 दिवसानन्तरम्
01.05.03	तुर्की	6.4	176	चन्द्रग्रहणस्य 15 दिवसेभ्यः प्राक्
17.11.03	अलास्का	7.8		चन्द्रग्रहणस्य 8 दिवसानन्तरम्
23.10.04	ठलपैवापान	6.7	30	चन्द्रग्रहणस्य 5 दिवसेभ्यः प्राक्
06.03.07	सुमात्रा	6.4	60	चन्द्रग्रहणस्य 3 दिवसानन्तरम्
15.08.07	पेरु	7.4	600	चन्द्रग्रहणस्य 13 दिवसेभ्यः प्राक्
21.02.08	इंडोनेशिया	7.4	3	चन्द्रग्रहणस्य 19 दिवसेभ्यः प्राक्
21.12.10	जापान	7.4	11	ग्रहणदिवसे
20.04.13	चीन	7	170	चन्द्रग्रहणस्य 6 दिवसेभ्यः प्राक्

4. आप्लावः - भूकम्पः आप्लावमपि जनयति। यथा यदि बन्धः क्षतिग्रस्तः भवेत् तदेव यदि भूकम्पः समागच्छेत् चेत् सेतुः भग्नः भवितुं शक्यते अनेन आप्लावः समायाति येन अत्यधिकजन-धनहानिः जायते।

5. मानवप्रभावः - भूकम्पस्य सर्वाधिकप्रभावः मानवानामुपरि भवति अनेन तेषां जीवनं नष्टं भवति। भूकम्पेन सम्पूर्णक्षेत्रं प्रभावितं भवति।

6. ज्योतिषीयदृशा भूकम्पप्रभावः - ज्योतिषशास्त्रे नक्षत्राधारेण भूकम्पप्रभावस्य वर्णनं कृतमस्ति। यथोक्तं बृहत्संहितायाम्–

चत्वार्यार्यमण्याद्यान्यादित्यं ...सौराष्ट्रककुरुमगधदशार्णमत्स्यश्च।[6]

अत्र मण्डलाधारेण भूकम्पप्रभावस्य विभाजनं कृतमस्ति, यथा उत्तराफाल्गुनी-हस्त-चित्रा-स्वाती-पुनर्वसु-मृगशिरा-अश्विन्येतानि नक्षत्राणि वायव्यमण्डलानि सन्ति, यद्येतेषु नक्षत्रेष्वदि भूकम्पः समायाति चेत् सप्तदिवसात्मके काले आकाशः धूम्रयुक्तः सञ्जायते, अत्यधिकपवनं चलति, सूर्यपकाशः क्षीणः च जायते। अनेन जल-धान्य-औषधि-वैद्य-कवि-वेश्या-व्यवसायि-मत्स्यदेशवासिनाञ्च क्षतिः भवति। अपि च–

पुष्याग्नेयविशाखाभरणीपित्र्याजभाग्यसंज्ञानि अनेकविधाः।[7]

अर्थात् पुष्य-कृत्तिका-विशाखा-भरणी-मघा-पूर्वाभाद्रपद-पूर्वाफाल्गुनीत्येतानि नक्षत्राणि आग्नेयमण्डलानि सन्ति। यदि एतेषु नक्षत्रेषु यदि भूकम्पः समायाति चेत् सप्तदिवसात्मके काले दिग्दाहः, उल्कापातः, परस्परयुद्धादिस्थितिः तथा च मानवानां क्षतिः भवति। अपि च–

अभिजिच्छ्रवणधनिष्ठाप्राजापत्यैन्द्रवैश्वमैत्राणि

.....अर्बुदसुराष्ट्रमालवपीडाकरमिष्टवृष्टिकरम्।[8]

अर्थात् अभिजित-श्रवण-धनिष्ठा-रोहिणी-ज्येष्ठा-उत्तराषाढा-अनुराधैतानि नक्षत्राण्यैन्द्रमण्डलस्य सन्ति। यद्येतेषु नक्षत्रेषु यदि भूकम्पः समायाति चेत् महत्वृष्टिः, कण्टरोगः, मुखरोगः, कफरोगाश्च भवन्ति। अपि च–

पौष्णाप्यार्द्राश्लेषामूलाहिर्बुध्न्यवरुणदेवानि ..... हन्ति।[9]

अर्थात् रेवती-पूर्वाषाढा-आर्द्रा-आश्लेषा-मूल-उत्तराभाद्रपद-शतभिषैतानि नक्षत्राणि वरुणमण्डलस्य सन्ति। यद्येतेषु नक्षत्रेषु यदि भूकम्पः समायाति चेद् ये जनाः सागरस्य नद्यश्च च तटे वसन्ति तेषां हानिः, अतिवृष्टिश्च जायते। अथ च मण्डलाधारेण भूकम्पक्षेत्रस्य निर्धारणमपि क्रियते। यथोक्तं बृहत्सहितायाम्–

चलयति पवनः शतद्वयं शतमनलो दशयोजनान्वितम्।

सलिलपतिरशीतिसंयुतं कुलिशधरोऽभ्यधिकं च षष्टितः॥[10]

अर्थाद्यदि भूकम्पः वायव्यमण्डले भवति चेद् भूकम्पक्षेत्रं द्विशतयोजनमितं भवति, यदि भूकम्प आग्नेयमण्डले भवति चेत् भूकम्पक्षेत्रं दशाधिकशतयोजनमितं भवति, वारुणमण्डले भवति चेत् भूकम्पक्षेत्रं अशीत्यधिकशतयोजनमितं भवति, ऐन्द्रमण्डले भवति चेत् भूकम्पक्षेत्रं षष्टियोजनमितं भवति।

एवं प्रकारेण भूकम्पस्वरूपं ज्योतिषशास्त्रे दरीदृश्यते।

सन्दर्भाः

1. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः श्लो. 1
2. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः श्लो. 1
3. सिद्धान्ततत्त्वविकः म.अ.श्लो. 206-207
4. अन्तर्जालात्
5. अन्तर्जालात्
6. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः श्लो. 8 तः 11 पर्यन्तम्
7. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः श्लो. 12 तः 15 पर्यन्तम्
8. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः 16 तः 19 पर्यन्तम्
9. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः श्लो. 20 तः 22 पर्यन्तम्
10. बहत्संहिता भूकम्पलक्षणाध्यायः अ. श्लो. 28

DISCOURSE OF SUBVERSION : KAMALA DAS'S *ONLY THE SOUL KNOWS HOW TO SING*

PROF. MITHILESH K. PANDEY*

Kamala Das's poetic volume *Only the Soul Knows How to Sing* (1996) is the culmination of her poetic oeuvre which records explicitly her personal, social and political awakening as a feminist writer. The strategic shifting of perspectives and altering of stereotypical motifs become an important emancipatory strategy in her poetry. The shock of images is effected not only by subversion of familiar figures of patriarchal culture but by the tone of confidence revealed here as well. Irony and playful subversion are her forte when she resumes her usual style in some of her poems in this collection. But some of the typical poems ensure that the conventional notions of society are subverted and critiqued in order to find out a new way of life in a slightly different order of things. As K. Satchidanandan aptly remarks: "She tends, by the very fact of her positioning in the social hierarchy, to negate whatever is considered complete, ultimate, well made and established in her society. Her very act of writing almost inevitably breaks the set rules and norms of the status quo" (14).

I

A Critique of her Husband

Writing from the margins, Kamala Das reveals the real psyche of her husband who fails to realise her feelings. Some of the new poems in this collection reflect the feminist attitude of the poet where she exposes the nature of her husband in different contexts with remarkable poetic ingenuity. In the typical poem "The Gulmohur", a woman is shown sympathising with her spouse beholding him caught in some unhappy situation concerning probably his official work. As normally against the daily practice the woman herself seems to be taking certain initiatives to pamper and to keep the husband in good humour. In the opening lines, she extols his company as affording warmth to her life:

> My hands before I met him were cold as though they had reached out and touched a corpse 9 was so uneasy with them but in his room against his body my body summered my hands grew warm. (42)

In the following lines the poet strategically employs the image of a blossomed gulmohar in red as if expressing its anguish to match the indignation of the man against his adversary. The woman asks the servant to bring a bunch of red gulmohar flowers and "to put them in the glass vase on his desk near his glasses and the evening paper." The man felt so disgusted that he even after clutching the cup discards the tea. Expressing the tormented mental state of the man and knowing it well that he is going to fight a losing battle, the woman not only demoralises his foe but also lends moral support to him while showing her gestures of love:

> Some miles away the battle was raging I knew he would make a poor loser he would stamp his feet and rage and abuse his fear and plan their destruction and so gently I kissed his brooding eyes and said if anything were to happen to you I would die but he did not speak he did not stroke my cheeks or touch my hair. (42)

Here the poet professes that he cannot do any harm to his enemy except indulging in an imaginary fight. Similarly in the autobiography, he has been depicted as a timid person having no courage to face his bully who was physically no match to him. She says:

> My husband when he does not stoop stands six feet without his shoes, whereas the bully who made him lose his self-confidence was a tiny marionette of a man who had the jerky movement of a tin soldier. (*My Story* 195)

Thus in both the references, the husband has been depicted as weak and coward who lacks the guts to overcome even his personal problems. The trait of the husband as portrayed above, if compared with his behaviour in relation to his wife, renders his position far more ambivalent. As against his meek and docile nature before others, he was rude and aggressive and a "brutal

*Professor, Department of English, Banaras Hindu University

tax collector" (91) to his wife having no tender feelings either for her or for the children. Therefore, the woman rather rejoices to behold her husband in a pitiable condition before others outside the house.

It is also true to say that both husband and wife were temperamentally opposite to each other. Being a wife, the poet is highly sensitive which is a natural corollary with a creative artist whereas her husband was, as a matter of fact, introvert and a self centered man only discharging his duties in the office and also attending to the needs of the family. Consequently, inspite of all his efforts, the husband failed to pacify his wife who eventually turned rebellious not only against the husband but also against the entire orthodox social set-up. She felt so much offended that blaming her husband for indulging in extra-marital relations, ironically questions the fidelity in love and in one of her poems "Mortal Love", declares the transiteriness of life to justify her sexual aberration:

> Fidelity in love
> is only for the immortals,
> the wanton Gods who sport in their
> secret heavens and feel
> no fatigue. For you
> and me, life is too short
> for absolute bliss and much too long
> alas, for constancy (132).

Similar to her autobiography, in one of the poems, the poet registers severe complains against her husband who has no time for the family. She expresses her anguish that due to excessive involvement in public work he has no time to spend with her appreciating the beauties of nature. She ridicules her husband in the poem "A Faded Epaulet on His Shoulder":

> my prematurely aged husband floundering blundering all his way running with the wind beating at his chest to catch the fast bus to Worli thirty years an administrator a signer on the files all the multicoloured files on co-operative movement its failure its perma- nent problems a drafter of routine reports changeless in verbiage and merry tone changeless as the flowers are in tinpots on the Windowsills of slums catching the bus and giving the young conductor wrong change in the flurry and smiling goodheartedly at the taunts the jibbs the reading glasses put on for a minute to count again the change before tucking the nickel coins back into the purse he got three years ago from a relative luckier in finance (124).

This long excerpt of her prose poem reveals the negative attitude of the poet towards her husband. She describes sarcastically his hectic daily routine of running from home to catch the Bus for office and very miserly approach in financial dealings with others. In another poem "Larger Than Life Was He", she expresses similar impressions more candidly and complains that her husband was so busy that he never found time for the family. Commenting upon his behaviour , she bursts out in a mood of despair:

> I reared three sons,
> he was too busy to watch them grow
> but he it was who wore the faded face
> that they recognised as their father's ...
> He peered into his office files
> till the supper turned cold
> and the children got up to sleep
> I cannot recollect a film
> a play or a concert he took us to
> or a joke which together we shared (112).

Obviously as indicated in these lines, her husband never paid much time or even gratified her the way she liked and failed to reciprocate her emotional responses.

II

Freedom in Love and Sex

Kamala Das's rebellious instinct can be seen in her belief in the practice of polyandry which has been rejected by the orthodox society as an uncivilised custom. To fulfill her personal whims and aspirations, she becomes a nymph to enjoy love with anyone ranging from Gods to demons and mortals. She always tries to behave like a nymph but would resist vehemently being called a nymphomaniac. It is this temperament that leads her to form an adverse opinion about her prospective groom and develops a distaste for him. Her maturity in the art of love-making is also reflected in her first encounter with the husband where she immediately adjudges his behaviour as brutal and savage and aspires to seek love outside freely. Patke pertinently remarks that Kamala Das's poems "count the cost suffered by freedom and honesty in the relation between emotional and sexual needs in marriage and outside" (Patke 252).

Due to such an overwhelming prejudice, she could not settle with her husband emotionally. She even looked at the indulgent and caring behaviour of her husband with doubt and mistook his 'tenderness' to be directed by 'lust, loud and savage' (112). This discontentment and frustration, in fact, changed the entire course of her life and compelled her to seek love elsewhere. In one of her poems "The Joss Sticks at Cadell Road", she reveals her mind:

> My husband said, I think I shall
> Have a beer, it's hot,
> Very hot today.
> And I thought, I must
> Drive fast to town and
> Lie near my friend for an hour. I
> Badly need some rest (122).

The last two lines indicate that the couple will go different ways for the sake of removing boredom and dissatisfaction and obviously "this despair is infectious" (Parthasarathy 22).

Similarly in the poem "Substitute", she openly expresses her disappointment at the fate of love reduced to lust and as a consequence resolves to go in for a substitute for the same. The poem brings out her deep sense of frustration in love where "Life is quite simple now--/ Love, blackmail and sorrow." Ultimately the need to conform to the conventions of a hypocritical society makes her loneliness all the more painful. The poet mocks at the domestic situation ironically in a meditative refrain:

> It will be all right, it will be all right
> I am the type that endures.
> It will be all right, it will be alright
> It will be alright between the world and me (53).

De Souza's perceptive remark about these lines is convincing that "the repetition of the phrase 'It will be alright, it will be alright" suggests exactly the opposite, in fact the futility of her attempts to disguise the emptiness of her life"(44) But the irony of the meditative refrain is also directed both against the society and the poet herself.

The typical poem "Larger Than Life was He" reveals the nature of both husband and wife and their freedom in love relationship:

> We were such a mismated pair,
> Yet there were advantages, I admit
> he was free to exploit and I was
> free to be exploited (112).

In these lines, written after the death of her husband, the poet criticizes her husband to justify her illicit relationship and liberty to go in her own way. The poet in a bid to defend her own aberration is going not to spare even the dead man. She knows the selfish attitude of her husband who could not flirt with any one and had no capacity to entertain love. She narrates the impotent personality of her husband in the auto-biography:

> He is not capable of loving anyone except himself, my husband said you are always a child in my eyes. Amy, he said, you may play around with love but be choosy about your playmates. I do not want you ever to get hurt in your life (*My Story* 151).

Apart from this, she also blames her husband that after marriage he turned arrogant and also indulged in an ignoble act of adultery. In the poem "A Faded Epaulet on His Shoulder", she says:

> after marrying me he walked more erect and my hand a gilded epaulet on his shoulder but that was shortlived pride even a fair skinned maidservant could take him away from me for hours and while returning his eyes looked not at mine but at the trees (124).

In her autobiography too, the poet has talked time and again about her husband's relations with the maid servants. But she labels this charge on the basis of the information given by her husband himself and not on the basis of any personal knowledge. She says "He told me of the sexual exploits he had shared with the maidservants in his house in Malabar" (*My Story* 84). In retaliation she took as ignoble a decision as to make up her mind "to be unfaithful to him at least physically"(*My Story* 95). Therefore, the poet did not transgress the marital bonds because she treated herself superior to her husband in the matter of love before her marriage. It is on the basis of this strength that she found it quite easy to trap a man in the nature of love. The poem "A Losing Battle", clearly indicates her attitude:

Men are worthless, to trap them
Use the cheapest bait of all, but never
Love, which in a woman must mean tears
And a silence in the blood (48).

Here the poet's conviction that "men are worthless to trap them" seems to be born out of personal experience. Besides this, she also laments in the beginning of the poem that she is not in a position to hold her husband from falling in love with other women as they flaunt "a gaudy lust" and are lioness "to his beast". That is to say that her love for the husband fails because there are other women sexually more equipped than her to attract the lustful husband. However at the end of the poem she bewails at the futility of love which she says means "tears' and 'silence'. It is the reason that she cultivates an insatiate urge for a love which eventually turns her into a man-hunter, promiscuous and nymphomaniac. Her "endless reiteration of such hurt, such disillusion, such cynicism, must sooner or later degenerate into a mannerism... She will outgrow this obsession in due course and find her way to a world other than the dreadful ghosts" (Iyengar 680).

III

Against the Patriarchy, Family and Marriage

Kamala Das's abhorrence to the civilised norms of society and her brazen disregard to the sanctity of the institution of marriage is certainly a significant attempt to establish her identity in the male oriented world. But her concept of selfhood has become particularly complex in an era in which feminist psychology poses challenges to Freudian and Post-Freudian theories of human development. Women writers contest the notions of self that are forged by traditional psycho-analysis and engage themselves in quest for alternative selves. Self-definition therefore becomes an important concern for them. Das shares the feminist concern for identity politics of the self which is alternatively sustained and thwarted by her own sexuality, defined and disfigured as that is, in its turn, by being trapped in the rut of social institutions. Her "Writing is a means " as Bruce King observes, " of creating a place in the world; the use of the personal voice and self-revelation and means of self-assertion. Das opened areas in which previously forbidden or ignored emotions could be expressed in ways which reflect the true voice of feeling; she showed how an Indian woman poet could create a space for herself in the public world" (152). In the typical poem "A Feminist Lament", she exposes the family culture which had shaped her life from childhood and made her coward and parasite:

Trained from infancy
to wear the flannels of cowardice
next to her skin, trained to lie inert
under a male, committed by vows
to feed her, clothe her and buy for her
the 1000 sq. ft. flat (127).

Her protest can be seen in her attitude to ridicule the society while refusing to obey its dictates whatever it can. Therefore, the real intention of the poet in making disclosures about the secrets of her life is not out of any sense of guilt but rather as a challenge to society subverting its socio-cultural norms. The poem "Composition" conveys all about her predicament, sense of insecurity, solitariness and the anguish not only against her parents, husband, other family members and friends but society in general:

The only secrets I always
withhold
are that I am so alone
and that I miss my grandmother (23).

Her grandmother symbolises tenderness and love and therefore it is only when she does not find them in adequate measures at some point in life elsewhere that she begins to remember her with intensity. In this context, Devindra Kohli aptly remarks: "It is perhaps in keeping with her general criticism of male character for its failure to give her tenderness and warmth, that the only figure whom she presents as an ideal is her grandmother" (119).

As a matter of fact, the poet has expressed her frustration which forms part of her confession. She, in fact, gives a somewhat chronological sequence of the causes of her frustration and tells that at the time of marriage her husband assured her of the freedom to the extent she wanted. But she felt discouraged at his behaviour:

My soul balked at this diet of ash.
Freedom became my dancing shoe,
how well I danced,

and danced without rest,
Until the shoes turned grimy at my feet
and I began to have doubts (22).

The negative response of the poet to a positive assurance looks quite intriguing. She mistook the assurance as a "diet of ash". In other words, the assurance of her husband filled her with doubts instead of confidence. She makes clear in her autobiography that she did not like her husband at the very first sight because "he was thin walking with a stoop and had a bad teeth" (81). It is obviously the antipathy so deeply entrenched in the poet against her husband that she began to doubt the assurance of freedom given by him. Fed up with the hollowness of such a promise the poet becomes hostile while mocking at the arrogant nature of her groom:

am I lesbian
or am I just plain frigid?
He only laughed.
For such questions
probably there are no answers
or else
the answers must emerge
from within (22).

In a sarcastic way the poet wants to convey to her husband that she has been, in fact, what he has made her by his own behaviour shorn of warmth and cordiality and it is for him to decide upon her real identity. In other words, the poet wants to tell her husband that if she is cold and frigid it is all due to his savage and lustful behaviour. Hence she expresses her anger against the mismatched marriage which she had to enter neglecting her best friend:

I have lost my best friend
to a middle-aged queer.
The lesbians hiss their love at me.
Love
I no longer need,
With tenderness I am most content,
I have learnt that friendship
cannot endure,
that blood-ties do not satisfy (23).

Commenting on these lines Vrinda Nabar points out that "what we get, instead, is a long moan about how she's lost her best friend to a middle-aged queer and how even the lesbians hiss their love at her... She proclaims that experience has taught her that friendships do not endure and even blood ties are unfulfilling" (52). The poet's frankness can be seen in her acceptance of the fact that she aspires to make relationship with her best friend. In the autobiography, she reveals the fact:

> He found in me a kindred soul. You are getting married, he said one day; I wonder why you are in such a hurry. I want to escape too, I said, he nodded. We sat for hours on the grass chewing the wheat grass and sharing a silence that was as gentle as the winter's Sun. My cook told me that together we made an excellent couple. Marry this young man, he told me. He is young and healthy (*My Story* 85-86).

It is clear from the above relationship that the poet finds the behaviour of husband cruel and selfish in comparison to her friend's. It is why the poet feels alienated and dejected so much so that she disregards not only the assurance of freedom given by her husband but also finds fault with friendship and family relationships in general. The poet almost turns rebellious:

With every interesting man I meet,
be it
a curious editor,
Or a poet with a skin yellowed
like antique paper,
a skin older than Jesus Christ,
I must
most deliberately
whip up a froth of desire (23).

The poet further explains her opinion that nobody should mistake her as an ordinary woman running after love indiscriminately. She clarifies in unequivocal terms that she is not so cheap as to surrender herself to anybody's asking but to get her, one will have to get off one's "monkey suits and dance" obviously to the tune of the poet to please her.

Moreover, the poet does not want to confine herself to the sacred sacrament of Hindu religion and

hence seeking freedom in love, she poses a sweeping remark against woman in general. She comments on their character alleging that fidelity is true only in the case of immortals and not in the mortals like them. Similarly in another poem "Vrindavan", she expresses her opinion boldly:

> Vrindavan lives on in every woman's mind
> and the flute luring her
> from home and her husband
> who later asks her of the long scratch
> on the brown aureola of her breast
> and she shyly replies
> hiding flushed cheeks, it was so dark
> outside I tripped over the brambles
> in the woods... (101)

While criticising women in general that they are prone to transgress the canon of morality so deeply engrained in them by the age-old Hindu scriptures, she wonders that the modern fashionable people might feel offended in adopting those values. In such matters, Kamala Das seems to be far ahead of her age and her feminine sensibility becomes apparent in her stand of seeking love outside the family. As Devindra Kohli observes:

> The impression of haste and apparently uncontrollable energy given by Kamala Das's poems is in an important sense part of her poetic technique and conscious scrutiny and not merely the result of her irrepressible and volatile personality as is generally believed to be the case (57).

Being unable to find her marital life satisfactory after marriage Kamala Das without losing time breaks the barriers of patriarchy and resolves "I knew then that if love was what I had looked for in marriage I would have to look for it outside its legal orbit" (*My Story* 95).

However, the common experience of marital life shows that the poet who by nature is not inclined to stick to a single mate tries to justify her defiance shifting the entire blame upon her husband for his savage treatment. She has clearly confided that she is not "to be domesticated" and has no interest in "house keeping" (*My Story* 126). She blames that her husband never spared time to understand her psyche which resulted in turmoil for her domestic life. She never realised the bond of marriage between husband and wife after marriage and confesses in an ironical tone in the poem "Larger Than Life was He":

> There are no memories that enthrall,
> no fond phrase capsuled in thought,
> It was never a husband and wife bond (112).

It is remarkable that the poem was composed in the memory of her husband but she never glorifies the dead husband. She describes her secret choice sarcastically in the concluding lines:

> I miss his censoring my daily mail
> his screening each phone call
> and the insulation of his care (112).

The tone of these lines clearly suggests that the poet somehow heaved a sigh of relief at the death of her husband because from then onward she would not have to fear his surveillance and would have freedom in every matter thereby realising in real sense the assurance of freedom allegedly given by him at the time of marriage.

Thus the foregoing discourse on *Only the Soul Knows How to Sing* evinces that her poems epitomise not only the dilemma of the modern Indian woman struggling in the patriarchal set-up but also her confidence to free herself sexually and domestically from the role bondage sanctioned by the past. Nevertheless she "has become an activist in the cause of social issues" (de Souza 9) and endeavours to revise the fragmented and distorted plots inherited from the past to endow them with new meanings conceived from a female perspective. This pronounced shift not only from body to spirit but also from "muted whisper at the core" of womanhood to "brown burden" articulation of the complex fate of being a woman in the phallocentric world marks the expanding graph of her aggressive feminist vision as a poet.

Works Cited

Das, Kamala. *Only the Soul Knows How to Sing*. Kottayam: D.C. Books, 1996. Subsequent citations refer to this edition and page numbers are mentioned in parenthesis.

_____ *My Story*. New Delhi: Sterling Publishers, 1976, rpt. 1996.

De Souza, Eunice. "Kamala Das," *Indian Poetry in English: A Critical Assessment*. Ed. V.A. Shahane and M. Sivaramkrishna. New Delhi: Macmillan India, 1980.

_____ *Nine Indian Women Poets*. New Delhi: Oxford University Press, 1997, rpt. 2010.

Iyengar, K.R.S. *Indian Writing in English*. New Delhi: Sterling Publishers, 1985, rpt. 2011.

King, Bruce. *Modern Indian Poetry in English*. New Delhi: Oxford University Press, 1994.

Kohli, Devindra. *Kamala Das*. New Delhi: Arnold Heinemann, 1975.

Nabar, Vrinda. *The Endless Female Hungers*: *A Study of Kamala Das.* New Delhi: Sterling Publishers, 1994.

Parthasarathy, R. *Ten Twentieth-Century Indian Poets*. New Delhi: Oxford University Press, 1976.

Patke, Rajeev S. "Poetry Since Independence," *An Illustrated History of Indian Literature in English*. Ed. Arvind Krishna Mehrotra. NewDelhi: Permanent Black, 2003.

Satchidanandan, K. "Transcending the Body," *Only the Soul Knows How to Sing* . Kottayam: D.C. Books, 1996.

●

THE GRAND VISION OF MAHAMANA AND SCIENTIFIC SPIRITUALITY : AN EXPLORATION

ARUN KUMAR DESHMUKH, DR. ASHUTOSH MOHAN** AND DR. ISHI MOHAN****

Indian education system will always remain indebted to Mahamana Pt. Madan Mohan Malviyaji's unforgettable contribution. He acted as a catalyst in giving a scientific temper by the dint of educational revolution to the nation which was almost on the verge of hibernation during the colonial legacy. He clearly envisioned that it is the education which can bring about a positive change in the psycho-socio-economic fabric of a nation with his farsighted and timeless cognitive ability.

In order to meet educational needs of the future generations, he came up with an idea of center of global excellence, which took shape in the form of Banaras Hindu University (BHU) with resemblance to the legacy of the most ancient Takshshila and Nalanada Universities. Many contemporary thinkers, philosophers and social activist have often seen him as the synthesizer or integrator of religion and education as he named his working magnum opus as Hindu University. However, despite several criticisms he stood firm to defend his point as mere denomination. He further reflected- "that University will be a denominational institution but not a sectarian one. It will not promote a narrow sectarian but a broad liberation of mind and a religious spirit which will promote brotherly feeling between man to man….."

Mahamana, throughout his life, fostered the scientific temper in the Indian society to give a completely new outlook so that all the countrymen could embrace the new era of scientific advancement keeping our indigenous knowledge of the Vedas and scriptures intact. Thus, he has been the constant force behind the blissful embracement of the concept of scientific spirituality through scientific western windows and spiritual eastern doors.

The paper explores Mahamana's spirituo-scientific vision on higher education in his writings, practices, preaching and creations, which can help in addressing the existing challenges faced in the higher education. The most prominent challenge, which cripples our ability to excel is the system laid down by Macauley, is still continuing despite being endowed with rich indigenous culture and glorious past of Indian education system. The paper is a kind of curtain raiser on- how Mahamana envisioned for us and where we are heading forward.

It is well stated by Theodore Roosevelt- *"Small minds-talk of people, average minds-talk of events, great minds-talk of ideas, greatest minds-Act in silence."* holds good to explain the efforts of a great educationist, patriot, statesman, orator, lawyer, journalist, social reformer and an unparalleled institution maker.

The foundation stone may remain invisible to many but it is that which makes the edifice invincible. The foundation which Mahamana Pt. Madan Mohan Malaviyji laid, is indeed a magnificent inheritance for the Indian education system. The model (BHU) he established can be considered working magnum opus of Mahamana which he had started with a gleam in his eye to put the most ancient Indian cultural endowment before the young minds while integrating the same with dynamically changing modern education system. The foundational edifice of Banaras Hindu University (BHU) was not kept in isolations but it emanates from the social reforms of late nineteenth century and early twentieth century. The contribution of Banaras Hindu University (BHU) cannot be disintegrated from the historically important transformational process. The genesis of the synthetic view of the founder Pt. Madan Mohan Malaviya-ji lied in the labyrinth of reformative movement of the day (Pandey, 2007). The initiatives to bring a university in United Province which was fulfilled after University of Allahabad came into existence in the year 1897. It was further realized by the then social reformers to ensure holistic development of the nation

*Research Scholar, Faculty of Management Studies (FMS), Banaras Hindu University (BHU), Varanasi

**Assistant Professor, Faculty of Management Studies (FMS), Banaras Hindu University (BHU), Varanasi

***Assistant Professor, Faculty of Commerce, Shri Agrasen Kanya P.G. College, Varanasi

in order to bring about social, political and spiritual awakening among the masses. The vacuum was partially filled by spiritual leaders of that time namely Swami Dayanand Saraswati (Arya Samaj), Mahadev Govind Ranade (Prarthana Samaj), Swami Vivekananda, the theosophical movement in southern part etc., to bring recognition of universal brotherhood through the renaissance of spirituality in many part of the world. Mahamana-ji belongs to that galaxy of leadership who despite wide criticism always envisaged integrating the two oxymoron dimensions of the same continuum called Science and Spirituality, and thus he can be recognized as the pioneer of educational reforms through scientific spirituality. By creating a magnificent edifice which is popularly called BHU, he successfully experimented whether the well established tenets of spirituality by our sages and the most ancient civilization can work for the young generation of the scientific era. Indeed BHU is the result of his laudable endeavour where he made a unique model which propels the integrated model of the East and the West which is hard to see anywhere else. BHU is expected to fulfil the needs of the nation which used to be met by the most ancient universities of the civilization i.e. Nalanda University and Takshshila University.

In the year 1911, the Maharaja of Darbhanga along with Annie Besant incorporated his scheme with that of the Hindu University-he personally took great interest and met Lord Harding {then Governor-General} with plan of University and received his consent easily as this top notch British official was comparatively flexible in his demeanour. Albeit, his Education Secretary, Sir Harcourt Buttler became alarmed to see, the prominence of Hindi in proposed University-he gave mandate for English, as medium of education in Banaras Hindu University which in equanimity was accepted by Mahamana.

He had stout vision for changes and it's tantamount on entire education system-so, at least for temporary compulsions dropped his plan to use mother tongue. Finally the dream came true on the Vasant Panchami day, February 4, 1916 and foundation stone of Banaras Hindu University was laid by the Lord Harding in the presence of august gathering and thousands of city dwellers. His other temporary compromises like, conferment of Doctorate of Letters to Prince of Wales on December 13th, 1921 was an unusual decision which received criticism within the political and academic circle, albeit he stood on his reason as he thought universalization of education, a key factor for human development. This paper discusses precisely how Mahamana influenced the educational reformation process for the 21st century with his inclination for the rejuvenation of Indian spiritual values.

Mahamana and Contemporary Education Reforms

BHU is not merely a brick and mortar edifice of teaching and learning but led to enormous educational reforms since its inception and even a priori to its establishment under the august and transformational leadership of Mahamana Malaviyaji. As an integrator of the Eastern and Western philosophies Malaviyaji brought the rich traditional eastern knowledge and western scientific advancement together, which led to renaissance of our indigenous knowledge in the field of Medical Science, Engineering and Technology, Physical and Life Sciences, philosophy, linguistics etc. Though at that time few other universities were also in existence as teaching and examining centres of higher education viz., University of Calcutta, University of Allahabad, yet Mahamana established BHU and emerged as pioneer of the educational revolution or reforms during the early nineteenth century with his unique endeavour to bring the East and the West closer.

As far as his invaluable contribution to the existing education system is concerned he demonstrated his extraordinary abilities and academic acumen with his thinking, and acting ahead of his time. In order to fortify the medical education in India he made a fruitful attempt to streamline the education in Indian system of Medicine i.e. Ayurveda (claimed to be the fifth Veda in the Hindu scriptures) in teaching. He acted as an enabler in rejuvenating the tradition of the great ancient practitioners-Maharshi Dhanvantari, Acharya Charak, Acharya Shrushut (the Surgery specialist of ancient time), of Ayurveda. With his extraordinary efforts, his dream to revive it came true with the establishment of College of Oriental Learning in 1918. He later added Ayurvedic Pharmacy to ensure production of high quality medicine with purity available to masses. Now, it is needless to say that Faculty of Ayurveda is well recognized globally.

Similarly, he was also catapulted as an innovative thinker of his time as he perceived the future need of the nation in the field of science and technology as he began the very first course in engineering at BHU. Further, to ensure quality education to be imparted he was successful in winning over many eminent persons and professional par excellence from various disciplines of science, engineering and technology to provide their invaluable services as teacher to the newly-established university. Meanwhile pre-independence era Malaviyaji established three leading engineering colleges namely Banaras Engineering College (BENCO), in 1919, College of Mining and Metallurgy (MINMET), in 1923 and College of Technology (TECHNO). Later in 1969 all three amalgamated into one Institute of Technology (IT). To its excellence it brought the attention of academician and in the year of 2010 it was given the status of Indian Institute of Technology (IIT-BHU). The credit of all success lies in the untiring endeavours of Mahamana who laid a rock-solid foundation in the very beginning itself.

India will always remember the contribution of Mahamana in the field of Pharmaceutical education as he brought Pharmaceutical Chemistry in 1932 as a formal discipline at BHU. The University for the First Time in India formally instituted Bachelor of Science and Master of Science in Pharmacy in 1935. He was of progressive thinking and envisioned the requirements of Industry in particular and Society in general and thereby kept updating accordingly. Presenting his eulogy for Mahamana the distinguished engineer of his time Dr. M. Vishveshvarayya stated; "the minutes he wrote for the report of the Industrial Commission (1916-18) has often been quoted as true Indian view of the industrial needs of the country, a man, who does not seek comfort and fortune for himself, when both are well within reach. His European opponent knew that he is a clean fighter and respect him on that account."

Mahamana's Scientific Spirituality

Gone are the days when science and spirituality were considered to be at the two different loggerheads. The phrase encompasses two oxymoron terms i.e., science and spirituality. The term, scientific spirituality, literally or etymologically have various meanings. However it may be expounded as the form of spirituality which is based on scientific principles and other can be refined form of spirituality. The concept of scientific spirituality of coined and explained by Vedmurty Taponishth Pt. Shriram Sharma 'Acharya' (1911-1990) who is one of the eminent spiritual disciples of Mahamana Malviyaji. According to his scientific spirituality is nothing but "reversing the reversed". In other words transforming people's unidirectional and misguided destructive and orthodox thinking into spiritual thinking of universal tolerance. It also integrates the logic of science and faith of spirituality interwoven together would create a peace through universal brotherhood, love, and compassion. He further says one is incomplete without other and separation of either is heinous as the world has seen in the early 19th century in the form of the two World-Wars. Mahamana was the contemporary pioneer and practitioner of scientific spirituality and continued throughout his life. The paragon of his scientific spirituality practice can be observed in his preaching vis-à-vis practices, as we call him man of action who walked the talk all his life.

Generally, people call Mahamana a religious being, however, he was more spiritual, as the former term carries sectarian connotation while the later embraces the whole humanity irrespective of religion, caste, creed, and other petty aspect. He was the living example who always preached universal tolerance and opposed bigotry. The temple of universal learning he created is the live example of the values he established. Some of the reforms he initiated were;

- Endeavour for social reforms
- Work Ethics: Work is worship
- Amalgamation of *Shiksha (education)* and *Vidhya (Value Based Education)* as Sir Albert Einstein once said "try not to become the man of success by man of value
- *Yogah karmashu kaushalam*
- Honour for Indigenous culture, language, and heritage.
- Patriotism and National Service.

In his noble endeavour Mahamana led to several reforms in the society as well as in the education system such as his ardent desire to remove the evils of untouchability from our society by educating people and by giving *deeksha* to downtrodden and embrace them. Thus he became the trendsetter. He also ardently advocated women's education and initiated Women's

College in 1928 at BHU which was a utopian dream of his contemporary social reform. He preached his student the strong work ethics of treating work as worship by collaborating the Western model of teaching and learning with the Eastern philosophy of providing value based education for life management through *katha* or storytelling for which it is said that Malaviyaji used to conduct separate session for character building of the students which has been the distinguished feature of BHU. In addition to all these Mahamana ji was the true practitioner of *Karmyog* and his principle was *Yogah Karmashu Kaushalam*[1] *or* excelling in what one does. He was the best talent hunter of his time to help the temple of learning called BHU excel in its domain. Some of the jewels in the galaxy of personalities par excellence associated with the university comprise of a long list, Dr. S.S. Bhatnagar (founder VC, BHU), Sir Sunder Lal, Dr. S. Radhakrishnan, Dr. C.V. Raman are to name a few. Beyond all questions he was a great patriot and the true son of soil. In his famous convocation address (1929), he observed that the education the youth had received was required to plant an ardent desire in their minds to see their country free and self-governing. He wished them to act with a full sense of responsibility and to work in the right spirit and under proper guidance for the freedom of the country. Malaviyaji further believed that patriotism was not possible without proper grasp of message of religion. The essence of religion is also the basis of morality and of all true patriotism. A fairly large number of patriots were men of spirituality.

Mahamana's Western Scientific Windows and Eastern Spirituality Doors Policy

On the solid foundation of moral, philosophical, and cultural heritage of India, Malaviya ji reconstructed and built the scientific, technological, and educational edifice in which the students shall take dip in the holy waters of ancient knowledge on the one hand and the best in techno-scientific knowledge of the west on the other, to be fully equipped for the new challenges which an independent India will usher in (Pandey, 2006.). This can be precisely termed as the scientific spirituality which he always practiced and envisioned for the prospective students of BHU to follow.

The Maharaja of Mysore also once remarked: "the University of Banaras must stand as the bridge between the past and the present, between the old and the new, and with the holy river at her side, link the India of Vedic times with the India of tomorrow that is to be." Thus, one of the foundational objectives of Banaras Hindu University was to merge the scientific and technological spirit of the West with the spiritual realization of the East for the greater welfare of the mankind (Mohan, 2006). It is to add that the word 'Vigyan' used in Indian scriptures in even broader sense which refers to 'systematic understanding of the theory and practice related to spirituality' as well as several disciplines of knowledge related to material advancement. Thus the western term science carries far wider connotation.

The Nobel Laureate great physicist Sir Albert Einstein had well recognized that "Religion without science is blind and the science without religion is lame." Mahamana ji also appreciated this thinking and well understood it as sine qua non for the holistic progress of the humanity. He was the man of action, the one who give shape to what he thinks. With this he established a grand seat of learning, i.e, Banaras Hindu University to play also a pioneering role in material development of the nation over and above the preservation and popularization and universal human values (Mohan, 2006).

Sir C.V. Raman reflected on this, "In the modern age of science, the welfare of a nation depends so much on the development of science that its elevation to the level of religion with all its important implications becomes essential. In a country like ours, religion has all along provided the basic inspiration for all worthwhile progress, revolution and renaissance. If Science is to make any marked impact, it should derive its strength from religion and should be associated with it in every way." Appreciating the pioneering contribution of Mahamana to the educational reforms by including the science and technology knitted with cultural and moral values Sir C.V. Raman expressed that, "In a very unique and special sense, Pandit Malaviya symbolizes India not only in the minds of his own countrymen, but also in the eyes of the world."

Mahamana's Core Values and Code for Students

Mahamana strongly believed for the adoption of noble values from different culture of the world. Therefore, while laying foundation stone of the College

of Oriental Learning, he firmly put his stand point that he subject was conducted in a traditional style so modified as to ‘ blend what was best in the East with what was best in the West in education of the pundits in order to maintain high standards of education could be maintained. Thus, the renowned scientist and the founder VC of BHU Dr. S.S. Bhatnagar quoted it as ‘प्रतीची–प्राची का मेल सुंदर– ये विश्वविद्या की राजधानी’ (blend of the West and the East) in the BHU Kulgeet or Anthem. While preaching the code of conduct or value he wished to see in his students he used to state a Sanskrit verse:

lR;su czãp;sZ.k O;;kesuSo fo|k;kA
ns'kHkDR;kRER;kxsu lEekukZg% lnk HkoAA

Which means through truthfulness through continence, through physical exercise, through learning, through patriotism, and through self sacrifice, always make yourself worthy of an honored status in life. Dr. R.P. Rastogi (2011) presents his own testimony for Mahamana and state that "Malaviyaji taught us work culture and work ethics. His lifestyle justified the following noble ideas: ‘Actions speak louder than words’, ‘Words are dreams but actions are reality’, Example is more inspiring than precept, Decision making and management problems need capability to take fast, fair and firm decision."

Conclusion

The onus is of the present policy makers to keep pace with what Mahamana has begun with. BHU must also come forward as one of the centers of global excellence. Mahamana remained ahead of his time, with his progressive thinking, timeless vision he envisaged for BHU; must be met. It is the best time to project BHU as paragon with its differential spirituo-value based education in Indian higher education which is at present confronting a crunch of global leadership.

Mere creating a degree awarding and teaching university had never been the motto behind establishment of BHU but Mahamana always aspired to make it a place where students become ‘man of value not just the man of success’ as quoted by Sir Einstein. This has been the distinguished feature of Banaras Hindu University that it imparts value based ethical education to the scholars. However, in the walks of modernization and advancement in higher education, BHU seems to seldom differ on this ground. The objective behind nomenclature of the university itself, as envisaged by Mahamana that students be taught Shashtras or the scriptures and get them to know about whatever good and great existed in the ancient Indian civilization/ culture. The purpose is to sensitize them towards their religion. Mahamana was of view that by firmly practicing one’s Dharma well one can do good in all walks of one’s life. He, himself being Hindu, advocated that Hinduism is not a religion or a sect rather, but a way of life which if preached well help one exploring one’s great innate potential. Malaviyaji firmly believed in the power of education and morality in arousing the national consciousness.

It is indeed the best time to retrospect and introspect on; if the great visionary- Mahamana could shake the colonial legacy despite being under Britishers’ reign by establishing the Indian model of education i.e., BHU, then what prevent us from fulfilling Mahamana’s unmet dreams for independent India. He challenged the Macaulay’s dream far ahead he could impose on Indian subcontinent by beginning the teaching of courses in Hindi as medium of instruction, and study of Sanskrit to infuse never ending confidence among youth in their rich indigenous endowment left over by our great Sages. The sole purpose behind his educational revolution of early nineteenth century was not merely to promote education but he incorporated the value based education as well to fortify the character building process of youth which still seems unmet. Thus, he always had a multi pronged objectives besides teaching, such as bringing social reforms (removing untouchability, illiteracy, social inequality, removing filthy caste system) and similarly he expected from the students passing out from BHU to make a positive difference in the society.

Mere establishing statues, buildings and the like will not suffice the purpose of celebrating sesqui centenary of Mahamana but fulfilling what was the gleam in his eyes for bringing about change in the education system. He always aspired to synchronize the rich Indian spiritual (not religion) value system with the need of the present era which our education system is still bereft of. No better gift can be offered to a great epoch changing revolutionary like Mahamana or any other great men for that matter than walking his talk

in the truest sense. In Commemoration of the 150th Birth Anniversary of Mahamana Madan Mohan Malaviyaji the Prime Minister Dr. Manmohan Singh said – "Malaviyaji believed in the power of education and morality in arousing the national consciousness…"

References

1. ^vkpk;Z] ia- Jhjke 'kekZ ¼2011½- /keZizk.k&egkeuk ia- enueksgu ekyoh; th]&;qx fuekZ.k ;kstuk foLrkj izsl i`-la- 10&11
2- Jhen~Hkkxor ¼2005½ xhrk izsl] xksj[kiqj] Shrimad Bhagwad Gita-Chapter 2 Verse 50.
3. Souvenir (2007). 3rd, International BHU Alumni Meet and International Seminar on Education in 21st century and Mahamana's Vision, dated Jan 6-7. Banaras Hindu University, Varanasi.
4. Mohan, Devendra (2006). Mahamana Pt. Madan Mohan Malaviya: The Colossus. *Prajna* (Journal of Banaras Hindu University),361-362, 52 (1-2).
5. Pandey, Vishwanath (2006-07). Mahamana Pt. Madan Mohan Malaviya: The Colossus. *Prajna*-Journal of Banaras Hindu University, 52 (1-2), 299-304.
6. Rastogi, R.P. (2011). Malaviyaji – The Great Visionary and Inspiring Personality. Souvenir on Mahamana Pt. Madan Mohan Malviya, 6-8.
7. Sheshadri, T.R. (1988). Professor Raman's Gift to Our Nation, *Prajna*: Journal of Banaras Hindu University, 33 (2) & 34(1), 105-107.
8. Singh, D.P. (2007). Industrial Resurgence of Modern India- The Vision and Contribution of Mahamana, Abstract Proceedings, III International BHU Alumni Meet and International Seminar on Education in 21st, Century and Mahamana's Vision, Banaras Hindu University, Varanasi, India, 14, January 6-7.
9. Reported by Selaja Kumar, Ministry of Culture 27-December, 2011 14:11 IST

COMPLEMENTARY AND ALTERNATIVE MEDICINE WITH SPECIAL REFERENCE TO AYURVEDA AS HOLISTIC SYSTEM OF MEDICINE

DR. RASHMI GUPTA, DR. G.D.GUPTA**AND DR. LAKSHMAN SINGH****

Holistic Medicine is defined by the Canadian Holistic Medical Association as follows.

Holistic medicine is a system of health care which fosters a cooperative relationship among all those involved, leading towards optimal attainment of the physical, mental emotional, social and spiritual aspects of health.

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।
(Sh. Su. 15)[1]

It emphasizes the need to look at the whole person, including analysis of physical, nutritional, environmental, emotional, social, and spiritual and lifestyle values.

सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः।
दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते।।१८
क्षुत्पिपासातसहः शीतव्यायामसंसहः।
समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः।।१९ (Ch.Su.21)[2]

It encompasses all stated modalities of diagnosis and treatment including drugs and surgery if no safe alternative exists.

सम्यक्प्रयोगनिमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा।
(Ch. Su. 16)[3]

Holistic medicine focuses on education and responsibility for personal efforts to achieve balance and well being

धातुसाम्य क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।। (Ch. Su.1/53)[4]

In the United States, the first National Conference on Holistic Health was held with the University of California, San Diego School of Medicine in June 1975.

Complementary and Alternative Medicine- Complementary and alternative medicine (CAM) is the term for medical products and practices that are not part of standard care. Alternative medicine means treatments that you use instead of standard ones. Complementary medicine means nonstandard treatments that you use along with standard ones. Examples of CAM therapies are acupuncture and herbal medicines.

In India, which is the home of several alternative systems of medicines, Ayurveda, Siddha, Unani, and Homeopathy are licenced by the government, despite lack of reputable scientific evidence. Naturopathy will also be licensed soon because several Universities now offer bachelor's degrees in it. Other activities connected with AM/CM, such as Panchakarma and massage therapy related to Ayurveda are also licenced by the government now. Research into and licensing of these activities is carried out by the Department of Ayurveda, Yoga & Naturopathy, Unani, Siddha and Homoeopathy (AYUSH).

Alternative Medicine- However, the term Alternative Medicine can also refer to any experimental drug or non-drug technique that is not currently accepted by "conventional" medical practitioners. As non-invasive, non-pharmaceutical techniques become popular and accepted by large number of "conventional" practitioners, these techniques will no longer be considered Alternative Medicine but what is currently accepted is quickly changing. Even the definition of "conventional practitioners" is quickly changing. Therefore, techniques that are now considered part of Alternative Medicine will soon be considered part of "conventional" medicine. Such techniques could include non-invasive, non-pharmaceutical techniques such as Ayurveda, Acupunture, Homeopathy, Reiki, and many others.

The terms Holistic Healing and Holistic Medicine are slightly more stable than Alternative Medicine and are therefore preferable.

*Research Scholar, Department of Shalya, Institute of Medical Science, Banaras Hindu University
**Research Scholar, Department of Kayachikitsa, Institute of Medical Science, Banaras Hindu University
***Associate Professor, Department of Shalya, Institute of Medical Science, Banaras Hindu University

Explanations for the appeal of alternative medicine

Critics cite both socio-cultural and psychological reasons to explain why people would chose to use alternative medicines in lieu of conventional medicine.

Socio-cultural reasons cited include:

- The low level of scientific literacy among the public at large.
- An increase in anti-intellectualism and antiscientific attitudes riding on the coattails of new age mysticism.
- Vigorous marketing of extravagant claims by the "alternative" medical community.
- Inadequate media scrutiny and attacking critics.
- Increasing social malaise (conspiracy theories) and mistrust of traditional authority figures - the antidoctor backlash
- Dislike of the delivery methods of scientific biomedicine.

Psychological reasons cited include

- The placebo effect
- The will to believe.
- Self-Serving Biases that help maintain self-esteem and promote harmonious social functioning.
- Demand Characteristics - the obligation to respond in kind when someone does them a good turn.

Complementary Medicine- is often used by "conventional" medical practitioners to refer to non-invasive, non-pharmaceutical techniques used as a complement to "conventional" medical treatments such as drugs and surgery.

In many cases, properly chosen non-invasive and non-pharmaceutical healing techniques plus properly chosen lifestyle changes can completely and safely heal both acute and chronic illnesses. In other cases, "conventional" medicine is only needed in emergencies or when the safer non-invasive, non-pharmaceutical methods fail. In some cases "conventional" medicine will be a major part of a Holistic Healing Plan, but in some cases it is not needed at all.

Definitions of complementary and alternative medicine

- A group of diverse medical and health care systems, practices, and products that are not presently considered to be part of conventional medicine.
- CAM. Forms of treatment that are used in addition to (complementary) or instead of (alternative) standard treatments. These practices generally are not considered standard medical approaches.
- A broad range of healing philosophies and approaches not typically used in conventional medicine. A therapy is called "complementary" when it is used in addition to conventional medicine, whereas it is called "alternative" when it is used instead of conventional treatment.

Includes all such practices and ideas which are outside the domain of conventional medicine in several countries and defined by its users as preventing or treating illness, or promoting health and well-being.

Natural Healing- usually refers to the use of non-invasive and non-pharmaceuticals techniques to help heal the patient. When most people use the term Natural Healing, they are usually referring to physical healing techniques only.

Complementary medicine

Complementary medicine is treatments used in addition to the conventional therapies prescribed by a physician.

As its name suggests, complementary medicine differs from alternative medicine in that it does not offer a competing (or 'alternative') viewpoint to that based on science-based knowledge. Complementary medicine can also be referred to as mind-body or as a psychosocial intervention. Physicians who practice complementary medicine usually discuss and advise patients as to available complementary therapies that may provide improvement in their health status. Patients often express interest in mind-body complementary therapies because they offer a non-drug approach to treating some health conditions.

Complementary therapies are often used in palliative care or as a way of managing chronic pain in patients. Complementary medicine is considered more acceptable in the interdisciplinary approach used in palliative care than in other areas of medicine. "From its early experiences of care for the dying, palliative care took for granted the necessity of placing patient values

and lifestyle habits at the core of any design and delivery of quality care at the end of life.

Now one of the new coming parts of conventional system of medicine is Physiotherapy. Sometimes ago it was considered only exercise but with experimental and scientific parameter evaluation, it comes true and included as a part of conventional system of medicine (Allopath). Ayurveda have a very vast dimensions in the field of treatment and preservation of health, So it is not to easy to prove all the component of Ayurveda therapy on scientific background. But some of the drugs and principle has been proved and included as part of conventional system of medicine.

Ayurveda has explained various aspect of treatment, which included all the component of complementary and alternative system of medicine.

1. Three type of Aushadhi

(i) **Dauvyapasraya-** मन्त्रौषधिमणिमंगलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चितोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि।

Use of various treatment modalities related with the worship of God for the treatment of various diseases.

(ii) **Yuktivyapasraya-** पुनराहारौषधिद्रब्याणां योजना।

Use of pharmacological medicine and appropiate diet for the tratment of diseases.

(iii) **Satvyajaya-** पुनरहितेभ्योर्थभ्योमनोनिग्रह।

Diversion of mind from unhelthymeans with use of yogic practices.

2. **Two type of Chikitsa**

(i) **Adravyabhuta-** यदद्रब्यभूतंतदुपायाभिप्लुतम।

उपायोनाम भयदर्शनविस्मापनविस्मारणक्षोभणहर्षणभर्त्सनवधबन्धनस्वप्नसंवाहनादिरमूर्तो।

Use of nonpharmacological procedure for the treatment of various diseases.

(ii) **Davyabhuta-** यद्द्रब्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति।

Use of Pharmacological medicine for pacification or elimination of diseases.

3. **Two type of Bhesaja**

(i) **Swasthojaskar-** Medicine is useful for maintaining health.

(ii) **Aturasvikarnuta-** Medicine is useful for treatment of various diseases.

Conclusion

Ayurveda system of medicine is one of the most effective holistic systems of medicine, which deals with both complementary and alternative system of medicine. Only scientific research needed to prove the effectiveness of pharmacological and non pharmacological component of Ayurvedic medicine. After scientific evaluation Ayurveda change from complementary and alternative system of medicine to conventional system of medicine.

References

1. Kaviraj Kunjalal; Sushruta Samhita - English translation Vol. 1-3; Chowkhamba Sanskrit Series, 2007.
2. R.K Sharma and Bhagwan Dash;Charaka Samhita - English translation Vol. 1-6; Chowkhamba Sanskrit Series, 2000.
3. R.K Sharma and Bhagwan Dash;Charaka Samhita - English translation Vol. 1-6; Chowkhamba Sanskrit Series, 2000.
4. R.K Sharma and Bhagwan Dash;Charaka Samhita - English translation Vol. 1-6; Chowkhamba Sanskrit Series, 2000.
5. Vaidhya Jadavji Trikramji Acharya, edited *Ayurveda Dipika Commentary* Chakrapani: Charak Samhita, by Chaukhamba Surbharti, 2000
6. Kaviraj Kunjalal; Sushruta Samhita - English translation Vol. 1-3; Chowkhamba Sanskrit Series, 2007.
7. Vaidhya Jadavji Trikramji Acharya and Naraya Ram Acharya Kavyatirtha edited *Nibandha Samgraha commentory* by Dalhana, Sushrut Samhita: Chowkhamba Orientalia, 2009.
8. Shiv Prasad Sharma edited *Shashilekha commentory* by Indu: Astanga Samgraha: Chowkhamba Sanskrit Series, 2006.
9. Gurumukh S. Sainani, API Text book of Medicine - 7th Edition, Association of Physicians of India, Mumbai.
10. Harrison's - Principles of internal medicine, 16th Edition, Vol. I and II, McGraw Hill.

A DALIT WOMAN'S EXPERIENCES IN POST COLONIAL INDIA : A CLOSE READING OF MAHASWETA DEVI'S RUDALI

ANINDITA GANGULY AND PROF. J.S. JHA***

It was Dr. B. R. Ambedkar who used the term "Dalit" before it became accepted as common usage. He defines it in the following manner :

"Dalithood is a kind of life condition which characterises the exploitation, suppression and marginalization of the lower castes by the social, economic, cultural and political domination of the upper caste Brahminical order" (Basu 217).

As in other parts of the world, women have been exploited and subjugated a lot. What has made the situation worse is the added caste oppression in addition to gender exploitation and subjugation. In this context, a study of the oppression suffered by Dalit women would be amongst the most extreme subordination, subjugation and exploitation through the codified norms of the society. In this light of thought, this paper aims at investigating Mahasweta Devi's *Rudali* on structural inequalities that perpetrate and perpetuate violence, experienced by Dalit women.

Rudali, a novella in Bengali by Mahasweta Devi, sees an evolution of the central character Sanichari who becomes a microcosm for the suffering of the lower castes and through her, one becomes aware of the larger discourse of struggle and exploitation. In the end, Sanichari emerges as better equipped to adopt, survive and manipulate the system– in other words, more empowered than she is at the beginning. The implication is that the life of Sanichari familiarizes us with the life of a community along with which runs a harsh power critique of an exploitative and repressive socio–economic and religious system.

The very opening sentences of *Rudali*- "In Tahad village, ganjus and dushads were in the majority. Sanichari was a ganju by caste. Like the other villagers, her life too was lived in desperate poverty" (Devi 22). The argument between Sanichari and Somri regarding the invariable connection of happiness in life with the day in which one is born is a clear indication that those belonging to Sanichari's class, caste and gender have no hopes of a bright fate.

Direct authorial statements in the text of Mahasweta Devi's *Rudali* link Sanichari's story to a larger discourse of struggle and exploitation.

"In this village, everyone is unhappy. They understand suffering" (Katyal 58).

The dire poverty of the ganjus, the ways in which they are exploited, the burden of ritualized religion, the absolute power of the malik– mahajans; and the corruption within the privileged classes Mahasweta Devi has constructed the powerful indictment of 'struggle for existence'.

"For them nothing has ever come easy. Just the daily struggle for little maize gruel and salt is exhausting. Through motherhood and widowhood, they're tied to the moneylender while these people spend huge sums of money on death ceremonies, just to gain prestige…"[6]. They cherish no illusion about the greed, miserliness or moral bankruptcy of their masters though they are forced to submit to their power.

Sanichari seems to be quite aware of the need for survival, though being a woman, life is more difficult for her. She is doubly oppressed and unable to find a way out of the system wherein the oppressor also becomes the source of income thereby leading to a vicious circle from which there is no end. And yet Sanichari ironically finds her calling in a life of 'rudali' or professional mourner paid to grieve and shed tears at the death of the upper class members. It seems money can indeed buy everything and here it seems to work as a two– way system. For the malik, the commodification of grief is a ritual characteristic of their social class; hiring rudalis enhance their position and prestige. On the other hand, for the outcast and the marginalized, shedding tears becomes an art. Sanichari, who could not shed a tear at the death of her family

*Research Scholar, Department of English, Banaras Hindu University
**Professor, Department of English, Banaras Hindu University

members, cries for the death of the malik's kin. Tears, therefore, become a produce, a source of earning. Mahasweta Devi's clear implication is that for lower castes and classes, even their tears are not their own– the flow of tears, that is, emotions, like the rest of their bodies are hostage and helpless in deference to the wishes of their masters.

Rudali has often been critiqued for privileging caste and community over woman's issues. However, these three categories cannot be placed in water– tight compartments. Mahasweta Devi suggests that one can be both 'classed' and 'gendered'– they are not polarized entities, rather each informs the discourse of the other. Yet *Rudali* remains a feminist text in more ways than one. It is a tale of survival against all odds, the tale depicting Sanichari's transformation from a weak, dependent and repressed woman to one who is strong and empowered, manipulative and shrewd. She has learnt the business and economics of her profession enough to contemplate the formation of a union of rudalis and prostitutes and since many of the prostitutes have provided offsprings to the masters, forming a union implies that the wheels have turned a full circle. Anjum Katyal comments that by turning a casual occupation into an 'organized profession', the author has succeeded in transforming a woman– intensive casual labor sector into an organized sector.

Polygamy was an accepted practice especially among the upper classes and as a practice, it cannot favour the women. Also, while the middle wife may be most favoured by the husband because of her father's economic position, the other women are jealous of her. But her inability to give birth to male children allows them to score over her and also marks a certain degree of unfulfillment within her. Having failed to produce a male heir, she is deemed a failure by the milieu around her.

The relationship between Sanichari and Bikhni, childhood playmates who rediscover each other as ageing, lonely women and decide to team up, is the major statement of bonding and support within a community made in the text. These are not related, they have only their circumstances in common– both have been abandoned by members of their old age. Both are poor, struggling to find means of survival. By pairing up, they provide each other with company, and pool their resources to ensure a degree of economic stability (Chakraborty 67) .

Mahasweta Devi expands the notion of community to include the prostitutes, women who are traditionally seen as outside the communities, or as forming an outcast, separate community of their own.

The meeting between Sanichari and Bikhni stands distinct in the entire narrative. Compared to Sanichari, Bikhni is more devil– may– care, more rebellious. When her son refused to help her pay off the debt she had incurred in order to arrange his marriage, and he cut off her means of livelihood by taking away her cows, she decamped with their goats, sold them and was prepared to survive by begging at railway stations if necessary. This bold readiness to break out of the religious and social custom gradually rubs off on Sanichari. Later when Dulan suggests that they become rudalis, Bikhni takes to the idea immediately and her willing acceptance helps Sanichari to get used to it. When she asks , "Won't there be talk in the village?" Bikhni dismissively replies, "So let them talk" (Katyal 127). When they need reinforcements and Dulan suggests bringing in the prostitutes from Tohri, it is once again Bikhni who readily agrees to go, and negotiate with them, while Sanichari demurs , worried about what people would say. Dulan and Bikhni are equally instrumental in the gradual empowerment of Sanichari. By the end of the story, she has taken on Bikhni's assertive manner.

Companionship, closeness and mutual dependency – these come through clearly, as does Sanichari's loneliness following Bikhni's departure. Further, the news of Bikhni's death is handled by the author in her characteristically understated style, which, through its unemotional lack of emphasis actually heightens impact (Katyal 88). As for Sanichari, she will not cry for Bikhni, for tears are a commodity now, part of a commercial transaction. Her loss is definitely deeper, but life must go on.

Mahasweta Devi insists time and again that *Rudali* is about survival. The ending is a triumph of this major theme. After her discussion with Dulan, Sanichari's lingering inhibitions are removed. She is confident, in control and empowered. There is no inhibition in interacting with the prostitutes. She is relaxed and friendly, invites two ex–village girls Parbatia

and Gulbadan to join them openly calling them the former bahu - and emphasizes that this profession will stand them in good stead when, like her their age and other means of livelihood fail them. She offers to empower them as she herself has been empowered. And when confronting her social superiors, she speaks up boldly, manipulating the situation cunningly to trap them in their own hypocrisy - if they restrain her they will expose their own greed. So they can only watch helplessly as she wails away their hopes of profit on the side. She has learnt her lessons well and Dulan and Bikhni, both agents in the growth of her own agency, appear to have been internalized by her.

Besides Sanichari, Gulbadan, whose self-worth was shattered when her natural father Gambhir Singh ordered her to submit to the lust of his nephew, calling her a whore like her dead mother, is also seen here in a spirit of vengeance. She casts a sneering wink at the nephew over her father's corpse. It is Sanichari, fully alive to the ironic overtones of the ritualized, commercialized system of lamentation, who oregrounds its subversive potential when she urges the prostitutes to use it as a means of revenge. By the end of the text, the custom of *Rudali* has been politicized, not just a means of survival, it becomes an instrument of empowerment, a subaltern tool of revenge.

The prime issue of concern is to attempt an understanding of the *Dalit* woman's struggle concurrently as a woman and also as a *Dalit*. The problems of denial and the subsequent exercise of rights become the contested grounds in the struggle. It is important to understand how the marginalized come to terms with the differential implementation of human rights when these are associated with their caste and gender identities. The focal point is the confrontation between their ascribed and achieved identities centered on identification and classification, together with resistance (Aiyyapan 74).

The term 'subaltern' has several implications, it is more than meets the eye. The subaltern is understood not merely as the victims of British colonialism but of the regime of patriarchy and caste. That is why Gayatri Chakravorty Spivak's notions of "the new subaltern" and "the gendered subaltern" are widely exploited and extended by the study to address further and profounder questions of embodied and engendered modes of subordination in Brahmanic patriarchy (Representing the Margin 24).

Talking of "postcoloniality in the space of difference, in decolonized terrain", Spivak says, "Mahasweta's fiction focuses on it as the space of displacement of the colonization– decolonization reversal. This is the space that can become for her, a representation of decolonization as such. 'Decolonization' in this context is a convenient and misleading word, used because no other can be found" (Spivak).

The gendered subaltern makes a deliberate use of the framework and the hidden structures of caste patriarchy to derail its own operations from within, though there still remains hesitation to some extent. The position of the historical suppressed victim, Sanichari and the ensuing struggle for self–defence and above everything else mere survival are articulated by Devi in *Rudali.* The rising wail of protest of the rudalis before the master's corpse in the concluding scene becomes an apology for a rebellion and an articulation from within a mediated and confined space already marked and permitted by the Brahmanic patriarchy and never breaks and subverts the system.

Baburao Bagul in his essay entitled "Dalit Literature is but Human Literature", remarks "the caste ridden society and its literature have viewed the Dalit as someone who is mean, disposable, contemptible, and sinful due to his deeds in his past life; he is seen as sorrowful in this life, poor humiliated and without history, one whose ancestors could never hope to acquire respectability in either temples or scriptures. This, in fact, is the suffering, misery, servitude, humiliation, neglect and contempt of Indian society as a whole, and Dalit literature carries the burden upon its heads" (Dangle 235).

Mahasweta Devi's *Rudali* throws up the fundamental cultural materialist questions of caste and gender in the historic premises and the discursive contexts of the brahmanic caste patriarchy, also bringing to light the affiliations with the dominant and hegemonic

ideologies affects and its limitations in radical praxis (Sekhar 154).

Rudali emerges as a multi–layered and multi–dimensional story where issues of caste, class, gender and economies come together to portray a woman who in spite of all the odds, ultimately finds the road towards empowerment and success with the silent help and support of her community. Amidst the numerous strands of oppression, *Rudali* suggests that nothing can be done until the collective consciousness of society is raised and incited into reversing the age old paradigms of caste, class and gender hegemony towards a more egalitarian society. Till that happens, the women will continue to suffer, the men will continue to be villainous; even comparatively positive male characters like Dulan are conceptualized within the formalized societal structures - solutions are hinted by the constraints of middle class sensibilities and language.

Works Cited

Aiyyappan, Arya. "When a Rudaali Raises a Bawandar." *Intersections: Gender and Sexuality in Asia and the Pacific* (2012).

Basu, Tapan. *Translating Caste.* New Delhi: Katha, 2002.

Chakraborty, Madhumita. *Living on the Edge.* New Delhi: Books Plus, 2010.

Dangle, Arjun. *Poisoned Bread : Translation from Modern Marathi Dalit Literature.* New Delhi: Orient Longman, 1994.

Devi, Mahasweta. *Nairitey Megh.* Calcutta: Karuna Prakashani, 1980.

Katyal, Anjum. *Rudali, From Fiction to Performance.* Calcutta: Seagull Books, 1997.

Sekhar, Ajay. "Gender, Caste and Fiction: A Bahujan Reading of Mahasweta Devi's Rudali." *JSTOR* 41.42 (2006): 4422-4425.

—. *Representing the Margin.* Delhi: Kalpaz Publications, 2008.

—. *Representing the Margin: Caste and Gender in Indian Fiction.* Delhi: Kalpaz Publications, 2008.

Spivak, Gayatri Chakravorty. "Woman in Difference: Mahasweta Devi's 'Douloti the Bountiful'." *JSTOR* 14 (1989-90): 105-128.

ADDITIONS TO THE FLORA OF BHU CAMPUS

JEETENDRA KUMAR VAISHYA*, DR. A. A. ANSARI** AND PROF. N. K. DUBEY***

Six species namly *Pentapetes phoenicea* L. (Sterculiaceae), *Acmella paniculata* (Wall. ex DC.) R. K. Jansen (Asteraceae), *Spilanthes ciliata* Kunth (Asteraceae), *Acmella uliginosa* (Sw.) Cass. (Asteraceae), *Spilanthes radicans* Jacq. (Asteraceae) and *Utricularia aurea* Lour. (Lentibulariaceae) not reported in the Flora of BHU (Dubey, 2004) have been recorded from BHU campus[1], Varanasi during the period from 2010 to 2013, while collecting plants for preparation of herbarium specimens and for revisionary studies. For each species correct binomial with basionym if any, citation to protologue, relevant references and synonyms, common / vernacular name if any, description alongwith distribution in India and world, ecological observation, flowering & fruiting period uses, etc. are provided.

Varanasi is a very old city and is situated in the northern region of India, on the left bank of the river Ganges at an altitude of about 81 meters above the sea level. The flora of B.H.U. campus comprises 574 species belonging to 426 genera and 111 families of angiosperms. The monocotyledons and dicotyledons ratio is 1:4.8 for families; 1:4.1 for genera and 1:4.7 for species. The dicotyledons are represented by 474 species, 343 genera and 92 families. The monocotyledons are represented by 100 species, 83 genera and 19 families. The first three dominant families of the campus are Asteraceae, Papilionaceae and Poaceae. The present account is based on the exploration and study on angiospermic plants of the B.H.U. campus[1].

The six species namly *Pentapetes phoenicea* L., *Acmella paniculata* (Wall. ex DC.) R. K. Jansen, *Spilanthes ciliata* Kunth, *Acmella uliginosa* (Sw.) Cass., *Spilanthes radicans* Jacq. and *Utricularia aurea* Lour. are reported as additions to the Flora of BHU (Dubey, 2004). For each species correct binomial with basionym if any, citation to protologue, relevant references and synonyms, common / vernacular name if any, description alongwith distribution in India and world, ecological observation, flowering & fruiting period uses are provided.

Fresh specimens were carefully studied under hand lens and a detailed description of individual taxon was prepared. The plants of doubtful identity were checked against their authentic specimens lodged at the Herbarium of Botanical Survey of India, CRC, Allahabad, India.

Enumeration

Spilanthes radicans Jacq., Collect. Bot. Chem. Hist. Nat. 11 (3): 1714. 1804; Sivaraj. & Mattew in Anc. Sci. Life 3: 169. 1984; Sivaraj. & Remesan in J. Econ. Taxon. Bot. 10: 144. 1987; Chowdhery in Hajra *et al*. (ed.), Fl. India 12:412. 1995; Karthikeyan *et al*. Fl. Pl. of India - Dicotyledons - Checklist. 278. 2009. (Asteraceae)

Common name: White Spot-Flower, Toothache Plant.

Erect, annual herbs, 30-50 cm tall. Stems usually terete, minutely pubescent. Leaves ovate, 3-7 x 2-4 cm, obtuse at base, acute at apex, margins minutely serrate; petioles *ca* 1 cm long, hairy. Inflorescence terminal or in leaf axils. Heads white, solitary, non-rayed, discoid, 0.8-1.0 cm long; peduncles 2-6 cm long. Receptacle glabrous; palea solitary, concave, boat shaped, *ca* 5 mm long, glabrous. Involucral bracts oblong or subulate, obtuse, 3-nerved from base, minutely hairy outside. Disc florets 50-60. Corolla white, 4-5 lobed; lobes papillose, triangular- ovate, 1.5-2.0 mm long, corolla -tube 0.4-0.6 mm long, with a short neck. Anthers minute, linear-oblong, *ca* 1.0 mm long, tips slightly pointed. Stigmatic lobes linear, curved. Achenes brownish-black, dimorphic, 1.5-2.0 x 0.5-1.0 mm long, marginal ones trigonous, others ellipsoid or obcordate, laterally compressed, margins ciliate. Pappus of 2 subequal bristles.[2,3,4,5]

***Flowering & Fruiting*: November – January.**

Ecology: Rare in swampy and shady habitats growing in association with *Parthenium hysterophorus* L., *Spilanthes uliginosa* Sw. and *Tridax procumbens* L.

*Senior Research Fellow, Botanical Survey of India, Allahabad-211002 (U.P.), India
**Scientist-E & Head of the Office, Botanical Survey of India, Allahabad-211002
***Professor, Department of Botany, Banaras Hindu University, Varanasi-221005

Distribution : INDIA [Kerala, and Uttar Pradesh: Varanasi (Agriculture field B.H.U.)]. CENTRAL AMERICA & MEXICO. A Native of C. America and Mexico.

Spilanthes ciliata Kunth in Humboldt et al., Nov. Gen. Sp. 4, ed. 4: 163. 1818. Sivar. & Remesean in J. Econ. Taxon. Bot. 10: 145. 1987; Chawdhery in Hajra *et al*. (ed.), Fl. India 12:403-405. 1995; Karthikeyan *et al*. Fl. Pl. India- Dicotyledons- Checklist. 277. 2009; Wu. Z. Y in Raven. P. H. & Hong, D. Y. (eds.) Flora of China, Vol. 20-21.1469. 2011. (Asteraceae)

Herbs, perennial, 30–80 cm tall. Stems usually decumbent to ascending, rooting at nodes, green to purple. Leaf blade ovate to broadly ovate, 2.3–7.5 × 1–5.9 cm, glabrous to sparsely pilose on both surfaces, base usually truncate or cordate, margin denticulate to coarsely dentate, apex acute. Capitula radiate, solitary or 2 or 3, terminal or axillary; peduncles 1–7.4 cm, sparsely to moderately pilose; phyllaries 7–10, 2-seriate, outer series 3–5, narrowly to broadly ovate or elliptic, 4–6.9 × 1–2.3 mm, inner series 3–6, lanceolate to ovate or elliptic, 2.8–6.1 × 1–2.9 mm; receptacle 3.8–7.4 × 0.8–1.9 mm; paleae straw-colored, 3–4.5 × 0.4–0.8 mm. Ray florets 5–10; corolla yellow orange, 2.5–6.5 mm, tube 0.9–2 mm, lamina 1.2–4.7 × 1.1–3 mm. Disk florets 90–177, yellow-orange; corolla 5-lobed, 1.5– 2 mm, tube 0.3–0.6 mm, throat 1–1.5 mm, lobes triangular, 0.2–0.4 × 0.2–0.3 mm. Achenes black, 1.4–2.2 × 0.5–1 mm, without shoulders, with obvious cork like margin, margin sparsely to moderately ciliate; pappus usually absent or sometimes of 2 very short subequal bristles, > 1 mm.[2,3,4,5]

2n = 78.

Flowering & Fruiting: **July – Oct.**

Ecology: Shady habitats growing in association with *Parthenium hysterophorus* L., *Spilanthes uliginosa* Sw. and *Tridax procumbens* L.

Distribution.: India: Uttar Pradesh, Delhi, Haryana, Rajasthan, Punjab, Madhya Pradesh, Bihar, Karnataka, Tamil Nadu.

Use: The flower heads are pungent, chewed to relieve tooth-ache and affections of throat and gums, and paralysis of tongue. It is also used as a remedy for stammering in children. A tincture made from the flower heads is used as a substitute for the tincture of pyrethrum to treat inflammation of jaw-bones and caries. It is regarded as a stimulant and sialogogue. The plant is boiled in water and the liquid as well as the solid are administrated against dysentery. The decoction is also given as a diuretic and lithotriptist agent and is employed as a bath for rheumatism and as a lotion in scabies and psoriasis. The root is used as a purgative. The plant is employed as a fish poison in several parts of India. Ether extract of the fresh flower-tops of the plant is effective against anopheles mosquito larvae (as a soap suspension) even in great dilutions with water. Ethanolic extracts of the herb were found to affect the blood pressure of dogs and cats. The ethanol extract of the whole plant of *S. ciliata* show antihepatotoxic activity.

Acmella uliginosa (Sw.) Cass. In F. Cuvier's Dict. Sci. nat. ed. 2.24:331. 1822; *Spilanthes uliginosa* Sw., Prodr. 110.1788; Sivar. & Ramesan in J. Econ. Taxon. Bot. 10:146.1987.; *Spilanthes iabadicensis* A. H. Moore in Proc. Amer. Acad. Arts 42 (20):524. 1907; Karthikeyan *et al*. Fl. Pl. India- Dicotyledons-Checklist. 185. 2009; Wu. Z. Y in Raven. P. H. & Hong, D. Y. (eds.) Flora of China, Vol. 20-21.1470. 2011. (Asteraceae)

Herbs, annual, 10-30 cm tall. Stems solitary or several from base, erect, green, glabrous or pilose. Petiols 0.5-1.5 cm, sparsely to moderately pilose, wingless or narrowly winged; leaf blade lanceolate, narrowly ovate, 1.3-5.0 x 0.3-2.5 cm, glabrous to sparsely pilose on both surfaces, base attenuate to cuneate, margines sinuate to dentate, sparsely ciliate, apex acute to acuminate. Capitula radiate, solitary 2 or 3, terminal, ovoid, 5-8 x 4-6 mm; peduncles 1.2-3.0 cm, sparsely pilose; receptacle 3-6 x 0.5-1 mm; paleae straw colored some time with purple, 2.5-3.5 x 0.5 mm. Ray florets 4-7; corolla yellow or orange yellow, 1.5-3.5 mm, tube 0.5-1.5 mm, limb 3-toothed, 1-2 x 0.5-1.5 mm. Disc florets 50-100, yellow or orange yellow, tetramerous; corolla 1.0-1.6 mm, tube 0.2-0.4mm, lobes triangular. Achenes black, 1.0- 2.0 mm, moderately ciliate, pappus of two equal bristles.[2,3,4,5]

Flowering & Fruiting**: Throughout the year.**

Ecology: Common in shallow water and swampy paddy field.

Distribution.: INDIA [Andaman & Nicobar Island, South India, West Bengal, Tamil Nadu,

Himalayas and Uttar Pradesh: Varanasi (Agriculture field B.H.U.)]. HONG KONG, TAIWAN (NATIVE THROUGHOUT THE TROPICS IN AFRICA, AMERICA & ASIA , CARIBBEAN, COSTA RICA, GUATEMALA, GUATEMALA IZABAL, MEXICO, NICARAGUA, PANAMA, INDONESIA, SRI LANKA, NEW GUINEA, PHILIPPINES, S. AMERICA AND UNITED STATE.

Acmella paniculata (Wall. ex DC.) R.K. Jansen in Syst. Bot. Monogr. 8:67.1985; *Spilanthes paniculata* Wall. ex DC., Prodr. 5:625. 1836; Sivar. & Ramesan in J. Econ. Taxon. Bot. 10:143.1987; *Spilanthes acmella* var. *paniculata* (Wall. ex DC.) C.B. Clarke, Compos. Ind. 139. 1876; Hook. f., Fl. Brit. India 3:307. 1881; Karthikeyan *et al*. Flowering Pl. India-Dicotyledons- Checklist. 184. 2009; Wu. Z. Y in Raven. P. H. & Hong, D. Y. (ed.), Flora of China, Vol. 20-21.1471. 2011.(Asteraceae)

Herbs, up to 50 cm high, annual or perennial, erect, somewhat succulent. Leaves triangular, obtuse at the apex, dentate to undulate-dentate or nearly entire, 1-5-0.5 x 1.5 cm, glabrous. Heads often 2 colored, yellow and reddish-brown, discoid, solitary, axillary, 1-2 cm across on 7-9 cm long peduncles. Receptacle conical to oblong. Involucral bracts biseriate, oblong-obtuse, 4-6 mm long; corolla reddish-brown when young, tubular, 1.5-2.0 mm long, 5-lobed. Achenes monomrphic, up to 2 mm long, ciliate at the edges. Pappus of two bristle are some time absent. [2,3,4,5]

***Flowering & Fruiting*: July - October.**

Ecology: Common in shallow water and swampy paddy field.

Distribution.: INDIA [Cultivated in many parts of the country and Uttar Pradesh: Varanasi (Agriculture field B.H.U.)] S. AMERICA, SRI LANKA, NEW GUINEA, PHILIPPINES, VIETNAM, INDONESIA AND MYANMAR.

Utricularia aurea Lour., Fl. Cochinch. 26. 1790. *U. flexuosa* Vahl, Enum. Pl. 1:198.1804; C.B. Clarke in Hook, f., Fl. Brit. India 4: 329. 1884, p.p. U. fasciculata Roxb., Fl. Indca (Carey & Wallich ed.) 1:143. 1820; Mudgal *et al*., Fl. M.P. 2:251. 1997. (Lentibulariaceae)

Common name: Golden bladderwort.

Herbs, aquatic, stolons terete, much branched leaves numerous, multifid; ultimate segments capillary. Traps orbicular; either lateral or at the point of bifurcation. Scapes erect, long, without any floating vesicles; scales always absent; pedicels sharply reflexed in fruit; bracts basifixed, orbicular, rounded or subacute at apex; bracteoles absent. Calyx-lobes subequal, ovate. Corolla yellow. Capsules globose. Seeds lenticular-prismatic 5-angled, minutely winged, reticulate.

***Flowering & Fruiting*: October - March.**

Ecology: Common in shallow water and swampy paddy field.

Distribution.: INDIA [Andhra Pradesh, Assam, Bihar, Jammu & Kashmir, Karnataka, Kerala, Madhya Pradesh, Maharastra, Meghalaya, Odhisa, Rajsthan, Tamil Nadu, West Bengal and Uttar Pradesh: Varanasi (Agriculture field B.H.U.)]. AUSTRALIA, BANGLADESH, BORNEO, BURMA, CAMBODIA, CHINA, INDONESIA, JAPAN, JAVA, LAOS, LESSER SUNDA, MALAYSIA, NEPAL, NEW GUINEA, NORTH KOREA, PAKISTAN, PAPUA NEW GUINEA, PHILIPPINES, SOUTH KOREA, SRI LANKA, SUMATRA, TAIWAN, THAILAND AND VIETNAM.

Note: Anti-tumour activities.

Pentapetes phoenicea L., sp. Pl. 698. 1753., Khanna *et al*., Dicotyledons Plants of Uttar Pradesh-A Check list. 54. 1999. *Blattaria phoenicea* Kuntze, *Brotera phoenicea* (L.) Cav., *Dombeya phoenicea* Cav., *Eriorhaphe phoenicea* (L.) Bamps, *Pentapetes cebuana* Blanco and *Pentapetes coccinea* Blanco. (Sterculiaceae).

Common name: Godhuli , Dupari, Gul Duparia.

Erect, branched, glabrous, annual herb 1-1.5m tall, vegetative parts with stellate hairs, leaves linear, lanceolate, serrate, nerves 3-5 palmately reticulate; flowers open around noon; born in pairs, axilary, bracteoles 3, subulate, calyx 5, lanceolate, persistent, petals 5, scarlet, obovate, staminal column short, stamens triplets of 5, yellow, anthers bithecate, extrose; ovary 5 celled, stigma 5, minute, fruit 5 valved capsule.[6]

Distribution.: INDIA [Uttar Pradesh: Varanasi (Agriculture field B.H.U.)]. BANGLADESH, BURMA, CHINA, JAPAN, NEPAL, PHILIPPINES, SRI LANKA, THAILAND,UNITED STATES AND VIETNAM.

Note: *Pentapetes phoenicea* is grown from seed. The growing medium should be kept moist. It does not self-pollinate, and intervention may be required to obtain seeds.

Uses*: Pentapetes phoenicea*'s most important economic impact may be negative - as a weed of rice fields. Tablets made from flowers are taken for severe fevers. Tablets made from roots are taken for acidity. (However it is grown in a small way as an ornamental. It has also been used as a source of fibre, and medicine.

Acknowledgement

The authors are thankful to Head of the Department, Centre for advanced study in Botany, Banaras Hindu University, Varanasi and Dr. P. Singh, Director, Botanical Survey of India, Kolkata for providing facilities.

References

1. Dubey, N.K. 2004. *Flora of BHU Campus*. Banaras Hindu University Press, Varanasi, India.
2. Jansen, R.K. 1981. *Systematics of Spilanthes (Compositae: Heliantheae)* Systematic Botany 6(3), 231-257.
3. Sivarajan, V.V. and Mathew, P. 1984. *Notes on three new immigrant species of Spilanthes Jacq. (Asteraceae) in India and the identity of the common toothache plant*. Ancient Science Life 3(3), 169-173.
4. Chowdhery, H.J. 1995. Tribe Heliantheae. In Hajra, P.K., R.R. Rao, D.K. Singh and B.P. Uniyal (eds.), *Flora of India,* Botanical Survey of India, Calcutta. 12, 412.
5. Karthikeyan, S., Sanjappa, N. and Moorthy S. 2009. *Flowering Plants of India - Dicotyldones - Checklist.* Botanical Survey of India, Kolkata. pp. 278.
6. Khanna, K.K., Mugdal, V., Uniyal, B.P. and Sharma, J.R. 1999. *Dicotyledonous Plants of Uttar Pradesh- A Checklist*. Bishen Singh Mahendra Pal Singh, Dehradun. pp. 54.

WOMEN STORYWRITERS OF IRAN

DR. BERNA KARAGOZOGLU*

In our community, alike others, whatever female authors write are a part of the general current of contemporary literary works. All the dos and don'ts which limit the domain of contemporary literature are binding for the women's writings too. Interestingly, female authors are after finding ways to be innovative in the form and text of writings, like their male counterparts. But in a society like ours, the fact is women are more socially restricted compared to men and have lesser opportunities for developing their literary potential. What distinguishes their works from men's, is their feminine outlook toward emotional and social issues and their focus on details in shaping the structure of their stories. Especially, in the post-revolutionary era, Iranian women were humans facing historical-cultural upheavals as the result of Islamic Revolution and the imposed war. In order to confront isolation, they wrote narrative-like works, discussing contemporary life with lesser dependence on the outside world's excitements.

Women's Literature can be studied in two dimensions:

1. Stories that male authors write about women and men's special perspective toward female champions.
2. Stories written by women.

The aim of this article is to discuss the second case. It is important to consider since when female authors started writing their stories? What stages have they gone through and what is their stance now? Women have created a variety of works. They have written several novels and stories, proving their serious presence in the literary world. The further attraction of these stories is partly due to the fact that women's world is less known than men's universe. In our stories, issues are mainly considered from the men's point of view and women have rarely had an independent presence. The historical roots, legal and family compulsory measures and numerous traditions finally force women to acquiesce to society's expectations and believe and justify them, therefore, no opportunity arises for a twist in their pre-determined fate.

Female authors who write stories beyond the accepted boundaries set for feminine tendencies and feelings face numerous problems, because they are forced to present contentious and controversial issues. The refreshing aspect of women's literature is that the efforts made to discover one's own identity as a woman, are highly important. This, in turn, results in creation of a new outlook toward the world. With insistence on the social role of women and their inner characteristics, women's image different to their image in the works of male authors is depicted. Especially, during the past decade, female writers are paying attention to the troubled identity of women in the current social developments. In order to reach their inner-self, they slam the paternal and masculine society which has imprisoned women in a world of dos and don'ts.

Women's story writing can be classified in two stages, prior to the victory of Islamic Revolution of Iran:

1. Primary Steps

During the years 1931-1960, there were 15 female authors. Up to 1960, there were 270 active male authors in the field of literary stories. This means there was one female writer for every 18 male authors.

Story writing in Iran was going through its initial stages until 1931. Few men were writing stories. Moreover, the name of no female storywriter was registered in that era. During the years 1931-1941, there were two female story writers: Irandokht Nami wrote the story of the "Unlucky Girl" (1931) and Zahra Khanlari wrote "Parvin and Parviz" (1933) and "Zhaleh or Girls' Leader" (1936). In this era, Fatemeh Sayyah was active in literary criticism. She was the first female Iranian university professor at Tehran University.

During 1941-1950, which was a politically and socially active decade, one can only refer to the name of Simin Daneshvar (Born in 1921) with her literary

*1748 Sokak No. 54, d.8 Kaya Apt. Karsiyaka. City - Izmir Turkey, The author of the article is the Turkish national and completed her Ph.D in Persian language & literature from Tehran Uni., Iran (1748 Sokak no : 54, d.8 Kaya Apt. Karsiyaka, City - Izmir, Turkey).

work "Extinguished Flame", which wasn't one of her blockbusters.

But during 1951-1960, we see the names of eight female writers, such as the following:

- **Malekeh Baqai Kermani (1914-?):** Her father was a lawmaker. She studied in Tehran and Paris. She was one of the activists longing for fulfillment of women's rights. In fact, she wrote several books on Iranian women's living conditions, such as "What Do Women Say?" or the "Bitter Kiss" (1957), which has a nervous and tense atmosphere, to it. She spent her late years in the U.S. and published the collection of stories "Broken Wings" in 1983 in Los Angeles. Her works were the initial stories, which had focused on women's issues of concern from a woman's outlook.
- **Behin Dokht Darai (Born in 1921):** She had a doctorate in Persian Literature. After publication of the story "Herman" (1956) about mother's kindness, she started researching on classical literary works such as "Shahnameh".
- **Mahin Tavalli (Born in 1930):** The spouse of the eminent Poet Fereydoun Tavalli. She published several short stories in "Sokhan" magazine in the form of a collection of stories "Pearly Pin" (1959). After an interval lasting several decades, she published the collection of stories "Broken Fiddle".
- **Keyvan-Dokht Keyvani (Born in 1934):** English language translator, who published books "The Teenage Years" (1951) and the novel "Passing over Water Surface", in addition to wartime memoirs under the name of "Incomplete Notes". She also translated the History of Arab Literature written by Nicholson.
- **Maryam Savoji (1919-?):** She wrote legal texts and was an attorney. She was the first woman that brought up the topic of Women's Rights in 1956 on air at Iran Radio Station. She was a poet and wrote the story "The Girl and the Angel".

Another writer named "Mahsima" wrote the book "Destiny's Chains" (1957) on the family and social status of aristocrat women.

The research on the history of Contemporary Literature shows women have had a lesser role in story writing during 1931-1960.

In fact, the social, family, educational and vocational limitations had prevented women's creative talents from flourishing. For instance, one can name Fakhr-Afaq Parsaay (1896-?) who secretly went to school. When her father discovered this secret, he didn't allow her to sit at the final examinations. However, she studied Persian, Arabic and French at home. She later published "Jahan-e-Zanan" (Women's World) magazine and taught French in Mashhad. She was threatened several times for the articles she wrote and was finally deported to Qom. But she didn't sit idle and continued her activities for fulfillment of the women's rights.

During this period, women were either so busy doing house chores that they didn't find time to develop their sublime talents, or, they still hadn't realized the notion of story writing. Even the ones who wrote stories in this era used nicknames such as Irandokht, Mahsima or Shahrzad. In such an atmosphere, women were not encouraged to publish their works, because no facilities were available. In this period, women were struggling to gain their initial rights. They didn't find the opportunity to gain access to literary centers and circles, because women's participation in the Literary Movement depended on the status they gained within the society.

The pioneering women faced numerous threats and oppositions if they gained access to minimum facilities and opportunities. They established girls' schools and women's associations in big cities and published magazines just for women. For instance, Zandokht Shirazi published "Iranian Girls" magazine, hoping to awaken Iranian women. She also published articles in the "Women's Universe" magazine, which were important for Iranian women. There were several female poets too. In the field of story writing, one can refer to Fakhroddoleh, Nasereddin Shah's daughter. When Nasereddin Shah's story teller, Naqibolmamalek, narrated Amir Arsalan's story to the king, Fakhroddoleh hid behind the curtain and wrote whatever she heard. In fact, although this story was rooted in the story teller's imagination, it was considered as the work of Fakhroddoleh, too.

During the years we are referring to, women attached to distinguished families found opportunities to write. For instance one can mention Fatemeh Sayyah in literary criticism, Zahra Khanlari and Simin

Daneshvar. These women were from the first generation of women who found the opportunity to go on further education. Even some of them studied in European countries. They had an income. They were relieved from doing the house chores and were brought up in culturally-rich families. All these factors provided them with the opportunity to develop the needed literary skills. However, with the exception of Simin Daneshvar, the rest didn't take story writing seriously. Some of them like Khanlari wrote stories for fun, and later lectured at the university and researched in classical literature.

The works written in this era aren't valuable literary books. These works are more important historically because they mark the appearance of several female story writers. Otherwise the female writers haven't created masterpieces and were mainly following the viewpoints and methods of male writers. Meanwhile, Fatemeh Sayyah wrote articles on women's status in European art and literature in several magazines. She was looking for the reasons behind the spiritual weakness and absence of literary creativity in female writers. For this purpose, she also paid attention to social conditions, biological factors, and traditional and religious obstacles.

Despite the naïve and inexperienced nature of female writers' first stories, these works are somehow important because they show women's writing traditions. In fact, knowing these traditions can boost the ego of contemporary writers.

2. Paving the Way

During the years 1961-1970, we witness the flourishing of contemporary literature and arts. Over 25 female writers started writing their books in this period. There are almost 130 male writers throughout this period. So, there is one female writer for every 5 male writers. The statistical gap between male and female authors drop and women gradually find their special literary stance. An increase in the number of female writers can be the sign of changing laws, customs and traditions. In this era, women go for further education; house chores are less troubling, and women have jobs they can rely on for providing their financial needs. All these elements, led to women's ease of mind for writing. Moreover, they gained the right to choose their husbands, which had a profound impact on their potential as creative writers.

In this period, female writers registered the suffering and oppression women felt and provided an insight into the inner senses of women. For the first time, women are not described in the opinion of men, but from a new angle. Story writing forges ahead from a casual work into a disciplined art. In fact, better stories were written in this decade. The writers of this era pave the way for the future storywriters.

Few female writers in this period published their articles and stories in popular magazines. For instance, Khatereh Parvaneh wrote for "Tehran Mosavvar". Meymanat Dana and Zhila Sazegar wrote for "Ettelaat Banovan" and Farideh Golbou published her stories in "Zan-e-Rouz" magazine. The sentimental story that Qodsi Nasiri wrote under the name of "Orphans" (1968) was re-published several times. This novel is the story of a kid who runs away from home due to maltreatment by her step mother. These writers are accustomed to writing love stories and educational narrations.

But for the first time ever, we come across a group of writers who follow up story writing persistently. In other words, they created a new style for female writers. Some of these authors become first-rate Iranian storywriters. Simin Daneshvar is one of these writers, who started her activities two decades ago and published her major novel "Sovashoun" (1969) in this period. We should mention the names of female writers such as Mahshid Amir-Shahi, Goli Taraqi, Mihan Bahrami and Mehri Yalfani, in this decade. Amir-Shahi, Taraqi and Bahrami studied in Europe and the U.S. They later started writing stories and lecturing at the university, after their return to Iran. Amir-Shahi explains satirical personal adventures in her stories such as "Sar Bibi Khanoum" (1968) "After the Last Day" (1969) and "The First Singular Person" (1971). A part of her stories are emotional descriptions of the years of childhood. In some other works, she refers to women's fears and aspirations.

Taraqi (Born in 1939) wrote the novel "I am also Che-Guara" (1969) and the novel "Winter Dream" (1973) about humans who are dreaming about getting rid of their degrading life style. But since they can't make a decision, they lump it. The critical, social and philosophical viewpoints are dominant in her stories. Meanwhile, Amir-Shahi's stories are more feminine. In her second stage in writing, Taraqi experiences such an

atmosphere in her works such as "Scattered Memories" (1993) and "Two Worlds" (2002). These tales are either about the nostalgia rooted in the childhood years or the difficulties of living overseas.

Bahrami's stories such as "Zanbaq-e-Nachin" (1962) and "Animal" (1985) have a more realistic atmosphere to it. She describes rich women's life style in old Tehran. Bahrami is less prolific compared to the two above-mentioned writers and doesn't pay attention to their stylistic experiences.

Unlike Bahrami, Yalfani (Born in 1936) immigrated overseas. She published the tales of "Good Days" (1966) and the novel "Prior to Autumn" (1980) in Iran, but her feminine outlook is further shown in her recent books.

Other than the above-mentioned authors, one can refer to ones who weren't story writers, as such. For instance, Tahereh Safazadeh, was the poet who wrote "Bitter Bonds" (1961), or Nour-ul-Hoda Manganeh, a feminist who published the well-known "Bibi" magazine. She studied psychology in Beirut and published several poems. She also wrote "A Part of My Memoirs"(1965), which delineated the fate of an Iranian woman. Moreover, we can name Alice Arzoumanian, who describes the anxieties of puberty in the novel "Hameh Az Yek". The adventure mentions a Christian family, showing the life of a girl from childhood to adulthood.

Meanwhile, the two periods of 1971-1980 and 1981-1990 are similar statistically. This means, in both periods, 28 female authors have started writing. However during 1971-1980, 198 male writers wrote their first books. Therefore there were 7 male authors for every one female writer. But, in the next decade, 140 male authors start their career, while the number of female writers hasn't changed much. Hence, there were five male authors for every one female writer in 1981-1990.

During this 20-year period, several journalists wrote stories too. But their impact wasn't very significant. There were Minoo Banakar from Etellaat Haftegi weekly, Azar Midokht Daneshjou and Shohreh Vakili from Sepid va Siah magazine and Shokouh Mirzadegi from Ferdowsi magazine. Mirzadegi published her most important novel "An Alien in Me" (1993) after her immigration to Europe.

There are also other women who write stories for the fun of it. Their works can be recalled as narrations or memoirs, such as the Painter Mansoureh Husseini (Born in 1937), who wrote the novel "Muddy Boots", with a simple and poetic style.

Sources

Sad Saal Dastan Nivisi dar Iran (One Hundred Years of Fiction-Writing in Iran) by Hassan Mirabedini Tehran. ISBN 964-6194-77-X.

Yaad Nameh Mohammad Ali Jamal Zadeh to Ehtemam Ali Dehbashi by Hasan Aabadini, Pub. Saales, first print 1377 Shamsi.

Raah-e-Aab Nameh by Mohammad Ali Jamal Zadeh, pub. Mara'fat, printed on 1339 Shamsi.

Se Panjare Se Zan by Reza Sharifzadeh Khoi, 2008.

Tarikh-e-Ejarayed va Majallat-e- Iran by M.S. Hashemi, Isfehan, 1948-53, IV, pp. 1-5.

Zan-e-Irani by B. Baamdad, Tehran, 1968, II, p. 81.

Fehrist-e-Ruznamehaye Farsi dar Majmu¿aye Ketabkhane Markazi wa Markaz-e- Asnad-e-Daneshgah-e-Tehran by Mortaza Sultani, Tehran, 1975, p.145, No: 335.

Jara¾ed o Majallat IV by Sadr Hashemi, p.263.

Fehrest-e- Ruz-Namaha-ye-Mojud dar Ketabkhana-ye-Milli by Bijan Sartipzade & Kubra Khudaparast, Tehran, 1977, p.38.

Fehrist-e-Majallehaye-Farsi az Ebteda ta Saale 1320 Shamsi by Mortaza Sultani, Tehran, 1977, pp.17-18.

WOMEN STORYWRITERS OF IRAN

DR. BERNA KARAGOZOGLU*

In our community, alike others, whatever female authors write are a part of the general current of contemporary literary works. All the dos and don'ts which limit the domain of contemporary literature are binding for the women's writings too. Interestingly, female authors are after finding ways to be innovative in the form and text of writings, like their male counterparts. But in a society like ours, the fact is women are more socially restricted compared to men and have lesser opportunities for developing their literary potential. What distinguishes their works from men's, is their feminine outlook toward emotional and social issues and their focus on details in shaping the structure of their stories. Especially, in the post-revolutionary era, Iranian women were humans facing historical-cultural upheavals as the result of Islamic Revolution and the imposed war. In order to confront isolation, they wrote narrative-like works, discussing contemporary life with lesser dependence on the outside world's excitements.

Women's Literature can be studied in two dimensions:

1. Stories that male authors write about women and men's special perspective toward female champions.
2. Stories written by women.

The aim of this article is to discuss the second case. It is important to consider since when female authors started writing their stories? What stages have they gone through and what is their stance now? Women have created a variety of works. They have written several novels and stories, proving their serious presence in the literary world. The further attraction of these stories is partly due to the fact that women's world is less known than men's universe. In our stories, issues are mainly considered from the men's point of view and women have rarely had an independent presence. The historical roots, legal and family compulsory measures and numerous traditions finally force women to acquiesce to society's expectations and believe and justify them, therefore, no opportunity arises for a twist in their pre-determined fate.

Female authors who write stories beyond the accepted boundaries set for feminine tendencies and feelings face numerous problems, because they are forced to present contentious and controversial issues. The refreshing aspect of women's literature is that the efforts made to discover one's own identity as a woman, are highly important. This, in turn, results in creation of a new outlook toward the world. With insistence on the social role of women and their inner characteristics, women's image different to their image in the works of male authors is depicted. Especially, during the past decade, female writers are paying attention to the troubled identity of women in the current social developments. In order to reach their inner-self, they slam the paternal and masculine society which has imprisoned women in a world of dos and don'ts.

Women's story writing can be classified in two stages, prior to the victory of Islamic Revolution of Iran:

1. Primary Steps

During the years 1931-1960, there were 15 female authors. Up to 1960, there were 270 active male authors in the field of literary stories. This means there was one female writer for every 18 male authors.

Story writing in Iran was going through its initial stages until 1931. Few men were writing stories. Moreover, the name of no female storywriter was registered in that era. During the years 1931-1941, there were two female story writers: Irandokht Nami wrote the story of the "Unlucky Girl" (1931) and Zahra Khanlari wrote "Parvin and Parviz" (1933) and "Zhaleh or Girls' Leader" (1936). In this era, Fatemeh Sayyah was active in literary criticism. She was the first female Iranian university professor at Tehran University.

During 1941-1950, which was a politically and socially active decade, one can only refer to the name of Simin Daneshvar (Born in 1921) with her literary

*1748 Sokak No. 54, d.8 Kaya Apt. Karsiyaka. City - Izmir Turkey, The author of the article is the Turkish national and completed her Ph.D in Persian language & literature from Tehran Uni., Iran (1748 Sokak no : 54, d.8 Kaya Apt. Karsiyaka, City - Izmir, Turkey).

work "Extinguished Flame", which wasn't one of her blockbusters.

But during 1951-1960, we see the names of eight female writers, such as the following:

- **Malekeh Baqai Kermani (1914-?):** Her father was a lawmaker. She studied in Tehran and Paris. She was one of the activists longing for fulfillment of women's rights. In fact, she wrote several books on Iranian women's living conditions, such as "What Do Women Say?" or the "Bitter Kiss" (1957), which has a nervous and tense atmosphere, to it. She spent her late years in the U.S. and published the collection of stories "Broken Wings" in 1983 in Los Angeles. Her works were the initial stories, which had focused on women's issues of concern from a woman's outlook.
- **Behin Dokht Darai (Born in 1921):** She had a doctorate in Persian Literature. After publication of the story "Herman" (1956) about mother's kindness, she started researching on classical literary works such as "Shahnameh".
- **Mahin Tavalli (Born in 1930):** The spouse of the eminent Poet Fereydoun Tavalli. She published several short stories in "Sokhan" magazine in the form of a collection of stories "Pearly Pin" (1959). After an interval lasting several decades, she published the collection of stories "Broken Fiddle".
- **Keyvan-Dokht Keyvani (Born in 1934):** English language translator, who published books "The Teenage Years" (1951) and the novel "Passing over Water Surface", in addition to wartime memoirs under the name of "Incomplete Notes". She also translated the History of Arab Literature written by Nicholson.
- **Maryam Savoji (1919-?):** She wrote legal texts and was an attorney. She was the first woman that brought up the topic of Women's Rights in 1956 on air at Iran Radio Station. She was a poet and wrote the story "The Girl and the Angel".

Another writer named "Mahsima" wrote the book "Destiny's Chains" (1957) on the family and social status of aristocrat women.

The research on the history of Contemporary Literature shows women have had a lesser role in story writing during 1931-1960.

In fact, the social, family, educational and vocational limitations had prevented women's creative talents from flourishing. For instance, one can name Fakhr-Afaq Parsaay (1896-?) who secretly went to school. When her father discovered this secret, he didn't allow her to sit at the final examinations. However, she studied Persian, Arabic and French at home. She later published "Jahan-e-Zanan" (Women's World) magazine and taught French in Mashhad. She was threatened several times for the articles she wrote and was finally deported to Qom. But she didn't sit idle and continued her activities for fulfillment of the women's rights.

During this period, women were either so busy doing house chores that they didn't find time to develop their sublime talents, or, they still hadn't realized the notion of story writing. Even the ones who wrote stories in this era used nicknames such as Irandokht, Mahsima or Shahrzad. In such an atmosphere, women were not encouraged to publish their works, because no facilities were available. In this period, women were struggling to gain their initial rights. They didn't find the opportunity to gain access to literary centers and circles, because women's participation in the Literary Movement depended on the status they gained within the society.

The pioneering women faced numerous threats and oppositions if they gained access to minimum facilities and opportunities. They established girls' schools and women's associations in big cities and published magazines just for women. For instance, Zandokht Shirazi published "Iranian Girls" magazine, hoping to awaken Iranian women. She also published articles in the "Women's Universe" magazine, which were important for Iranian women. There were several female poets too. In the field of story writing, one can refer to Fakhroddoleh, Nasereddin Shah's daughter. When Nasereddin Shah's story teller, Naqibolmamalek, narrated Amir Arsalan's story to the king, Fakhroddoleh hid behind the curtain and wrote whatever she heard. In fact, although this story was rooted in the story teller's imagination, it was considered as the work of Fakhroddoleh, too.

During the years we are referring to, women attached to distinguished families found opportunities to write. For instance one can mention Fatemeh Sayyah in literary criticism, Zahra Khanlari and Simin

Daneshvar. These women were from the first generation of women who found the opportunity to go on further education. Even some of them studied in European countries. They had an income. They were relieved from doing the house chores and were brought up in culturally-rich families. All these factors provided them with the opportunity to develop the needed literary skills. However, with the exception of Simin Daneshvar, the rest didn't take story writing seriously. Some of them like Khanlari wrote stories for fun, and later lectured at the university and researched in classical literature.

The works written in this era aren't valuable literary books. These works are more important historically because they mark the appearance of several female story writers. Otherwise the female writers haven't created masterpieces and were mainly following the viewpoints and methods of male writers. Meanwhile, Fatemeh Sayyah wrote articles on women's status in European art and literature in several magazines. She was looking for the reasons behind the spiritual weakness and absence of literary creativity in female writers. For this purpose, she also paid attention to social conditions, biological factors, and traditional and religious obstacles.

Despite the naïve and inexperienced nature of female writers' first stories, these works are somehow important because they show women's writing traditions. In fact, knowing these traditions can boost the ego of contemporary writers.

2. Paving the Way

During the years 1961-1970, we witness the flourishing of contemporary literature and arts. Over 25 female writers started writing their books in this period. There are almost 130 male writers throughout this period. So, there is one female writer for every 5 male writers. The statistical gap between male and female authors drop and women gradually find their special literary stance. An increase in the number of female writers can be the sign of changing laws, customs and traditions. In this era, women go for further education; house chores are less troubling, and women have jobs they can rely on for providing their financial needs. All these elements, led to women's ease of mind for writing. Moreover, they gained the right to choose their husbands, which had a profound impact on their potential as creative writers.

In this period, female writers registered the suffering and oppression women felt and provided an insight into the inner senses of women. For the first time, women are not described in the opinion of men, but from a new angle. Story writing forges ahead from a casual work into a disciplined art. In fact, better stories were written in this decade. The writers of this era pave the way for the future storywriters.

Few female writers in this period published their articles and stories in popular magazines. For instance, Khatereh Parvaneh wrote for "Tehran Mosavvar". Meymanat Dana and Zhila Sazegar wrote for "Ettelaat Banovan" and Farideh Golbou published her stories in "Zan-e-Rouz" magazine. The sentimental story that Qodsi Nasiri wrote under the name of "Orphans" (1968) was re-published several times. This novel is the story of a kid who runs away from home due to maltreatment by her step mother. These writers are accustomed to writing love stories and educational narrations.

But for the first time ever, we come across a group of writers who follow up story writing persistently. In other words, they created a new style for female writers. Some of these authors become first-rate Iranian storywriters. Simin Daneshvar is one of these writers, who started her activities two decades ago and published her major novel "Sovashoun" (1969) in this period. We should mention the names of female writers such as Mahshid Amir-Shahi, Goli Taraqi, Mihan Bahrami and Mehri Yalfani, in this decade. Amir-Shahi, Taraqi and Bahrami studied in Europe and the U.S. They later started writing stories and lecturing at the university, after their return to Iran. Amir-Shahi explains satirical personal adventures in her stories such as "Sar Bibi Khanoum" (1968) "After the Last Day" (1969) and "The First Singular Person" (1971). A part of her stories are emotional descriptions of the years of childhood. In some other works, she refers to women's fears and aspirations.

Taraqi (Born in 1939) wrote the novel "I am also Che-Guara" (1969) and the novel "Winter Dream" (1973) about humans who are dreaming about getting rid of their degrading life style. But since they can't make a decision, they lump it. The critical, social and philosophical viewpoints are dominant in her stories. Meanwhile, Amir-Shahi's stories are more feminine. In her second stage in writing, Taraqi experiences such an

atmosphere in her works such as "Scattered Memories" (1993) and "Two Worlds" (2002). These tales are either about the nostalgia rooted in the childhood years or the difficulties of living overseas.

Bahrami's stories such as "Zanbaq-e-Nachin" (1962) and "Animal" (1985) have a more realistic atmosphere to it. She describes rich women's life style in old Tehran. Bahrami is less prolific compared to the two above-mentioned writers and doesn't pay attention to their stylistic experiences.

Unlike Bahrami, Yalfani (Born in 1936) immigrated overseas. She published the tales of "Good Days" (1966) and the novel "Prior to Autumn" (1980) in Iran, but her feminine outlook is further shown in her recent books.

Other than the above-mentioned authors, one can refer to ones who weren't story writers, as such. For instance, Tahereh Safazadeh, was the poet who wrote "Bitter Bonds" (1961), or Nour-ul-Hoda Manganeh, a feminist who published the well-known "Bibi" magazine. She studied psychology in Beirut and published several poems. She also wrote "A Part of My Memoirs"(1965), which delineated the fate of an Iranian woman. Moreover, we can name Alice Arzoumanian, who describes the anxieties of puberty in the novel "Hameh Az Yek". The adventure mentions a Christian family, showing the life of a girl from childhood to adulthood.

Meanwhile, the two periods of 1971-1980 and 1981-1990 are similar statistically. This means, in both periods, 28 female authors have started writing. However during 1971-1980, 198 male writers wrote their first books. Therefore there were 7 male authors for every one female writer. But, in the next decade, 140 male authors start their career, while the number of female writers hasn't changed much. Hence, there were five male authors for every one female writer in 1981-1990.

During this 20-year period, several journalists wrote stories too. But their impact wasn't very significant. There were Minoo Banakar from Etellaat Haftegi weekly, Azar Midokht Daneshjou and Shohreh Vakili from Sepid va Siah magazine and Shokouh Mirzadegi from Ferdowsi magazine. Mirzadegi published her most important novel "An Alien in Me" (1993) after her immigration to Europe.

There are also other women who write stories for the fun of it. Their works can be recalled as narrations or memoirs, such as the Painter Mansoureh Husseini (Born in 1937), who wrote the novel "Muddy Boots", with a simple and poetic style.

Sources

Sad Saal Dastan Nivisi dar Iran (One Hundred Years of Fiction-Writing in Iran) by Hassan Mirabedini Tehran. ISBN 964-6194-77-X.

Yaad Nameh Mohammad Ali Jamal Zadeh to Ehtemam Ali Dehbashi by Hasan Aabadini, Pub. Saales, first print 1377 Shamsi.

Raah-e-Aab Nameh by Mohammad Ali Jamal Zadeh, pub. Mara'fat, printed on 1339 Shamsi.

Se Panjare Se Zan by Reza Sharifzadeh Khoi, 2008.

Tarikh-e-Ejarayed va Majallat-e- Iran by M.S. Hashemi, Isfehan, 1948-53, IV, pp. 1-5.

Zan-e-Irani by B. Baamdad, Tehran, 1968, II, p. 81.

Fehrist-e-Ruznamehaye Farsi dar Majmu¿aye Ketabkhane Markazi wa Markaz-e- Asnad-e-Daneshgah-e-Tehran by Mortaza Sultani, Tehran, 1975, p.145, No: 335.

Jara¾ed o Majallat IV by Sadr Hashemi, p.263.

Fehrest-e- Ruz-Namaha-ye-Mojud dar Ketabkhana-ye-Milli by Bijan Sartipzade & Kubra Khudaparast, Tehran, 1977, p.38.

Fehrist-e-Majallehaye-Farsi az Ebteda ta Saale 1320 Shamsi by Mortaza Sultani, Tehran, 1977, pp.17-18.

SOCIAL SCIENCE RESEARCH IN INDIA – ISSUES AND CONCERNS

DR. GUNJAN DUBEY AND NEELIMA JOSHI***

Research is a quest for new knowledge, novel ideas and innovative practices. It raises questions and answers them. It identifies problems and attempts to find out the solution. It is a process of continuous scrutiny, evaluation and renewal, since today's facts are tomorrow's outdated information and yesterday's myth may become tomorrow's reality. Hence, research as a process, must engage itself in continuous renewal of knowledge and ideas [1]. All around us we notice human advancement in a variety of ways. It can all be attributed to research. Indeed, modern achievements are the result of conscious well planned target oriented research. What we call advancement of civilization, is in reality made up of knowledge created by innumerable scientists of all branches and hue. All progress is definable in terms of quality research alone with all other considerations constituting the very core of that effort [2]. The Higher education system of a country plays significant role in the creation of intelligent and skilled human resources. Higher education is all about a process of transformation of students from raw material to polished youth capable of meeting the challenges in their carriers as well as in their life. According to UGCs annual report (2011), at the time of independence of India, there were only 20 universities and 500 colleges in the country with 2.1 lakh students enrolled in higher education institutions. As on 31-03-11, the number of universities has gone upto 523 and 33,023 colleges in the higher education sector. [3]

Present Scenario

Although our system is quantitatively large, yet, it is very small in the context that it caters to the need of only 17% of the total youth population in the age group of 18-24 years. While our gross enrolment ratio (GER) is 17%, the world average was 26% in 2008 and the figure for developed counties was 55%.[4] According to the academic ranking of world universities, in the year 2011, out of 600 odd universities in India, none figured in the list of top 500, except a couple of IIT's which made it to the lower ranks. Further analysis of results showed that research aspect of our universities is very weak and less than 1% of the students enrolled in our universities pursue doctoral research.[5] The number of research degrees of Ph.D. and M.Phil awarded during 2009-10 was 11,161 and 10,583 respectively (a decrease of 18.9% as compared to 2008-09). India has 7.8 scientists per 1000 population compared to 180.66 in Canada, 53.13 in Korea and 21.15 in the US. While speaking at the 90th annual convocations of Banaras Hindu University of 15th March 2008, Prime Minister Dr. Manmohan Singh expressed his disappointment over the non-availability and quality of higher education in India. He stated that only 10% of India's youth go to college as against 40-50% in the developed western countries. He also referred that the quality of education has been absolutely low, and mentioned that two-third of the Indian Universities are providing sub-standard education while 90% colleges are below average."

Shortcomings of Research in India

According to the theory of education, if there is no significant research in college then there is no significant quality in education. Quality of education does not grow where research is absent. Research and education are like two ends of a bow. The arrow does not move forward unless the two ends of the bow are tightly tied together by a string. An institution binds the two ends together, namely education and research, to provide quality education.

1. Lack of industry-institution interaction

In the universities abroad there are many research companies located on the periphery of the colleges. They draw ideas from research conducted by professors and students in college and student work in these companies on research projects. Company researchers also teach in colleges, thus, quality of both research and education goes up. Our universities, on the other hand, have rigid, inflexible outdated rules and regulations. Indian Universities are observed to be inward looking and not having adequate interaction with

*Associate Professor, Department of Education, Aligarh Muslim University, Aligarh.
**Research Scholar, Department of Education, Aligarh Muslim University, Aligarh.

the world outside. They do not have connections as much needed with their counterparts abroad. They teach irrelevant knowledge from shelf, mostly yesterday's knowledge is coming from abroad today.[6] There is a mismatch between the research efforts and the usability of research findings.

2. Lack of awareness towards pursuing research

Awareness and acceptance towards pursuing teaching and research as a career is very less in India. The Indian society especially the younger generation is not well informed of the career opportunities, excitement and freedom that a research career offers. Furthermore, societal pressures affect career choice significantly. A multi-pronged approach needs to be adopted to bring a change in the national mindset towards recognition and acceptance of a career in research.[7]

3. Plagiarism

The overall quality level of educational research in higher educational institution is below average level.[8] The research outputs of the institutes of higher learning including universities are assuming alarming dimensions. Instances of dubious research studies are surfacing in the media. Leading physicists of Stanford University, including three noble laureates, wrote to President of India demanding action against a professor for his alleged acts of plagiarism.[9] There are several other incidents in which theses of one university are copied in other universities. Whole chapters are taken to publish in someone else name.

4. Neglecting social problems

Apart from such instances of plagiarism, a criticism most often leveled against research in India is that it fails to report the problems of the society. There exists a wide gap between post graduate research on the one hand and the practitioners and policy makers on the other, thus resulting in a least role of research in contributing for public welfare. Thus, the years of work done by researcher, the cost paid by the universities and the UGC, find no use to the society since many Ph.D. thesis of our country serve the purpose of decorating the racks of university libraries. The new generation researchers are not bothered about the issues and concerns of the society, rather, they find an easy topic for which they can easily get the data and finish the business at any cost to get the degree as early as possible.

Scholarship offered nowadays to research scholars is attracting even the non-sincere and uninterested students towards research.

5. Remuneration and Brain Drain

In India, research is an obvious last choice even for interested and talented people, due to financial unattractiveness, and substantial investment of the prime years in the lives. Students opt for better paying career options. Good students often leave India for a better environment that offers a variety of choices, opportunities and intellectual freedom. According to an article in The Hindu (Jan 19, 2013) "First set up labs, then dream the Nobel". Only a few Indians are willing to pursue a career in research in their own country as the enabling environment for it is missing. A recent survey by National Bureau of Economic Research in United State revealed that Switzerland has the highest rate of immigrant scientists and the United State unsurprisingly, is the most popular academic destination. For India 40% of its researchers are emigrating to pursue their research abroad.[10]

6. Funding

Funding remains a key issue in facilitating quality research in most universities. The low quantum of funds, the cumbersome process of acquiring them and lack of fund raising capabilities in the university have severely hampered the growth of research.

7. Infrastructure

An important part of research in some social science subjects like psychology is the laboratory. Laboratories play an important role in creating research attitudes, arousing interest and curiosity. The present status of the research laboratories of many Indian universities is alarming. They are not equipped with proper tools and are not technologically advanced. Furthermore, the researchers are not provided with laboratory training.

Computers and internet are inseparable part of research. A researcher has to update his knowledge at every level of his research and such facilities are not provided to every researcher by most of the universities since they are not technically progressive.

Libraries are the heart, the soul and the pivot around which all activities of any institution revolve. In

this electronic era many libraries are still working in the old traditional way and the information provided by them has become obsolete.

Suggestions for Improvement

Universities must look forward not just to quantify their researches but to enhance the quality of their researches and use them for the betterment of society and in policy making some of the factors may be taken into account to improve the quality of researches in our universities, in the area of social sciences.

- Media should be encouraged and incentivized towards highlighting, publicizing and promotion of research related programs and various achievements of academics and scientists.
- Annual R&D shows can be held, where leading research institutes and educationists interact with undergraduate students, thereby providing wide exposure.
- Career awareness workshops and seminars highlighting research careers should be regularly organized by universities.
- The researchers must be guided to select a research theme that is relevant, contemporary, that has high social utility value and that can help in the development and refinement of theory or policy formulation.
- The entry level examination should be conducted to ensure good quality intake of doctoral students. Strict criteria need to be devised so that only serious meritorious students with specific interest in research are allowed to go for Ph.D.
- A mechanism should be developed for monitoring for possibilities of plagiarism. To enable an overall healthy research environment, Ph.D. students should be taught ethics and standards of academic research as part of curriculum.
- Students must be continuously monitored and mentored to ensure that the research output of requisite quality. Internal quality assurance cells (IQAC) must be set up in every university to maintain the quality.[11]
- Regular seminars by students would ensure that the students adhere to their research work plan and show progress. Independent committees can also be set up before which the students make regular presentations. Such committees should provide feedback and counsel the research scholars and should check plagiarism.
- All educational research papers should be carefully assessed before acceptance for publications in journals. Publisher and funding agencies can take help of anti-plagiarism software for quality control in educational research.
- There should be regular upgradation of the amount of fellowships offered for Ph.D students and in general for the entire academic profession.
- Teaching assistantship to bright Ph.D. students should be provided to add to their earnings. This would in turn, train and prepare them for an academic career.
- Subsidized insurance, loans etc could be looked for.
- Generous travel grants should be ensured.
- Greater autonomy and a congenial environment to foster independent thinking and working should be given to researchers.
- Adjunct positions in research institutes should be created for inviting NRIs interested in serving in their own country.
- Recruiting companies should contribute towards university research funds. Industries should be encouraged to sponsor and collaborate on research projects.
- Universities should formulate strategies to convert research findings into commercial applications, thus generating funds.
- Government funding agencies should proactively encourage and guide faculty members from universities to submit research proposals. A system of open competition for research grants should be developed.
- Collaborative funding between countries and universities should be encouraged.
- To increase research funding in the longer term, alumni/ corporate fellowship should be looked for.

- Given the current state of affairs there is an urgent need to begin an intervention aimed at addressing the quality issue in laboratory training. It is important that even schools are provided with good laboratories and specific attention should be paid to laboratory training at all levels.
- The campuses should be made wi-fi and computer facilities should be provided to every researcher so as to keep pace with the researches done abroad.
- Library and electronic journals should be updated regularly and provided free of cost to the Ph.D. students by the universities. Latest books of both Indian and foreign writers should be provided to every researcher related to his/her research topic.
- In the current environment, in order to adapt successfully to the technological changes traditional libraries should be transformed into digital libraries that encompass both electronic and paper materials.[12]

Conclusion

Although the Indian education system has expanded manifold since independence yet there are serious shortcomings in this system as discussed above due to which the students of our country are not able to compete with the students of other advanced countries in the employment marker at the global level. India's dream of becoming a developed nation by the year 2020 can be fulfilled only if able human resources are produced and innovative knowledge is gained. It is only possible through qualitative teaching and research.

References

1. Chaudhary, U.S. and Chaudhary, S. (2007). "Research in Social Science: Overcoming the Phobia for Subjectivity." University News, vol 45 No. 14, p 1-.
2. Singh, R.P. (2005). "Research: Meaning: Function and Progress," University News, Vol. 43 No. 24 p 3-9.
3. www.ugc.ac.in/oldpdf/pub/annualreport/anualreport_english1011.pdf
4. Chauhan, C.P.S., "Educational Research in India-Past, Present and Future", XIII Annual Conference and National Seminar, AIAT, Nov. 19-20, 2012, New Delhi.
5. http://:arwu.org
6. Naik, B.M. (2011). "Colleges Should Do More in Research and Innovation to Improve Quality," University News, Vol. 49 No. 37 p.1-7
7. http://knowledgecommission.gov.in/report2006/default.asp
8. Dodiya(2012) "Quality assessment of educational research in india" retrieved from the website (http://researchjournals.in/documents/published/2218.pdf)
9. Hundekar, S.B., Shollapur,M.R. (2005). Research Ethics: A Need for Introspection, University News, Vol 43, No. 31 p.1-3
10. http://spectrum.ieee.org/at-work/tech-careers/the-global-brain-trade
11. Powar, K.B. (2005). Quality in Higher Education, New Delhi : Anamaya Publishers, p.160
12. Sharda, Preeti (2004) "Upgradation of Libraries in the Present Context", in, Crisis in Higher Education, Edited A. Bashar, p.89-101.

OLDEST SURVIVING KARDAMEŚVARA TEMPLE OF VARANASI

(Study in Uniqueness, Placement and Iconography)

PROF. M.N.P. TIWARI* AND DR. ANAND PRAKASH SRIVASTAVA**

Varanasi, also known as Kāśī in larger territorial context, is one of the oldest living cities of the world which, as rightly said, is older than history and tradition. During the Gahaḍavāla period in 11th - 12th century C.E.[1], the socio-cultural and artistic activities in Varanasi reached its culmination. As a consequence hundreds of temples were erected with thousands of sculptures carved thereon. We all know that Kāśī -Varanasi in Indian tradition is said to be permanent abode of Śiva Mahādeva, the Great god of dissolution (**Saṃhāra**). It is due to this fact that many Śiva temples, datable between Gupta period and 20th century C.E., were built in Varanasi. It is unfortunate to note that due to severe damages caused to the temples during medieval period presently the city has only one ancient surviving temple which is dedicated to Śiva and known as Kardameśvara temple. The present paper aims at discussing landmarks and uniqueness of the temple in reference to the placement of sculptures and their iconography. It is also intended to bring the importance and uniqueness of the temple to the notice of the tourists and visitors and also of the Government Agencies like Archaeological Survey of India, State Archaeological Department and Department of Tourism.

The small but important Kardameśvara temple is situated in Kandawa village. Its location about 3 miles south-west of the Banaras Hindi University on the **Pancakrośī Yātrā** route[2] enhances its importance. It was built during the Gahaḍavāla period in 12th century C.E. possibly under the patronage of Govinda Chandra. The **nirandhāra** type (without inner **pradakshiṇāpatha**) of temple rests on high plinth and its architectural features are of **Nāgara** style. The **Kāśīkhaṇḍa** of **Skanda-purāṇa** (13th centurey C.E.) also mentions about the existence of Kardameśvara temple. The temple is comparable to the Chandella temple of Khajurāho, particularly the Duladeo Śiva temple of 12th century C.E.. Thousands of pilgrims, tourists and other types of visitors go to visit **Kāśī** Viśveśvara and other temples in the city, belonging to 18th and 20th century C.E., but this ancient temple of Śiva is visited by very few people and that too mainly by the pilgrims during the course of **Pancakrośī Yātrā** (five days religious **Parikramā** of **Kāśī**). The pilgrims spend one night in Kandwa village and offer worship in the temple.

The temple finds mention in Havell's book **'Benares- the Sacred City'**, after which Prof. V.S. Agrawala, the great scholar of Indian Art and Indology, has written an article on this temple which is published in the **Journal of the U.P. Historical Society** (Vol. XXII, Pts. 1-2, pp 211-13). He also published a small note on this temple under the title 'Kardameśvara Temple' in his book **Studies in India Art**. After Prof. V.S. Agrawala, Prof. L.K. Tripathi, another authority of Ancient Indian architecture, has published a long article discussing in detail the architectural features and divine images of this temple. The article is published under the title **'The Kardameśvara Temple at Varanasi'** in **Bharati** (Bulletin of College of Indology, Banaras Hindu University, No. 6, Pt. I, 1962-63, pp. 137-156). Further in the book titled **Kāśī Ke Mandir Aur Muṛtiyān** jointly authored by Prof. Kamal Giri, Prof. M.N.P. Tiwari and Dr. Vijaya Prakash Singh discussions are given on iconographic features of the images. These works throw adequate light on the architecture and iconographic representations of the temple.

We shall however discuss more about the schema of the sculptural representations of divine images on the outer walls of the temple and on the doorways. The uniqueness of the temple is that while all the early-medieval and medieval Indian temples of north India essentially contain the figures of **Aṣṭadikpāla** (guardian deities of eight directions) on the outer walls of the temples, the Kardameśvara temple do not have their figures. Another interesting point is that it doesnot have the usual **narathara**, (running panel in between

*Professor, Department of History of Art, Banaras Hindu University, Varanasi
**Former UGC Research Associate, Department of History of Art, Banaras Hindu University, Varanasi

adhiṣṭhāna and **jaṅghā**) representing naratives, showing scenes from **Rāmāyaṇa, Mahābhārata** and **Kṛṣṇalīlā** alongwith day-to-day contemporary life. The temple does not have any **mithuna** (loving couple) or erotic figures. The absence of the figures of Sūrya on the temple is also surprising, specially when all other four deities of **Pancadeva** or **Pañcāyatana** worship (Śiva, Viṣṇu, Śakti, Gaṇeśa) are represented on this temple. It appears that sculptural representations centred around the Brahamanical, trinity (Brahmā-Viṣṇu-Śiva) in which Śiva apparently predominates having maximum number of figures (Seven) and also in respect of variety of forms. The presence of Nāga-Nāgī figures as **Upadevatā** is also meaningful in the context of the dedication of the temple to Śiva and also situation of temple in Varanasi, which has been an important place of Nāga worship in past and present.

The main figures in the **rathikās** (pillared niches) of exterior walls depict Śiva as Umā-Maheśvara (also called Hara-Gaurī- 3 figures), Nateśa, Andhakāri (holding the elephant skin in two upperhands to suggest the **saṁghāṭ**-combined form of Andhakāri and Gajāntaka) and three-faced Maheśa. Next to Śiva in prominence is Viṣṇu who is shown as **ekal** Viṣṇu (2 figures) and Vāmana. The other important figures include Balarāma-Revatī, Brahmā, Śakti as Gaṅgā-Yamunā (shown on lower doorjambs), Mahiṣamardinī (2 figures one on north wall and one in **antarāla** rathikā), dancing Gaṇeśa (in **antarāla rathikā** and also in diminutive form in Umā-Maheśvara image) and Kārttikeya (shown only in Umā-Maheśvara images in small form).

The temple consists of the rectangular **ardhamaṇḍapa, antarāla** (Vestibule) and **garbhagṛha** in plan and **jagatī** (plinth), **adhiṣṭhāna, jaṅghā** (facade), **varaṇḍikā** and **śikhara** in elevation which were the usual architectural component features of north Indian temples. The temple is **pañcaratha** in plan and elevation while its **garbhagṛha** is square in plan. The **garbhagṛha** measures 12' x 12' from out side and 8'8" x 8'6" from inside. It enshrines Śivaliñga which as usual rests on **Yonipaṭṭa**. Its very much defaced doorway was containing figures of two river goddesses Gaṅgā and Yamunā, of which presently only the figure of Gaṅgā with **makara vāhana** is identifiable. In two **rathikās of antarāla** much mutilated figures of dancing Gaṇeśa and Mahiṣamardinī are carved respectively on north and south. Both these images of Śaktī and Gaṇeśa have association with Śiva. The rhythmic movement in the dancing figure of Gaṇeśa and poised action and dynamism in the figure of Mahiṣamardinī killing the demon Mahiṣāsura have rare appeal of life and animation. The other Mahiṣamardinī figure carved on north facade is better preserved and likewise show the action of goddess with placid face which reflects the divine power of Great goddess who truly is an embodiment of collective power as mentioned in **Mārkaṇḍeya Purāṇa**.

The four **rathikā** figures of the south facade are specially noteworthy since they all contain Śiva figures. Of these, three examples depict Umā-Maheśvara while remaining one represents Śiva as Maheśa. In all the UmŚ-Maheśvara figures Pārvatī either sits nearby or on the left lap of Śiva. Both Śiva and Umā tenderly look at each other with divine grace and reflections of the Oneness of the two (advaita) as beautyfully mentioned by Kālidāsa in his work **Raghuvaṁśa**3. (first Verse). The bull and lion mounts respectively of Śiva and Pārvati are carved on two sides and at top there appear the figures of Brahmā and Viṣṇu in **parikara** which was a common feature of early medieval and medieval Indian images to reveal the harmony in between different cults.

In two examples the presence of Gaṇeśa and Kārttikeya on two sides of the **āsana** of Śiva-Pārvati is something what we find at other places also and which show that in Umā-Maheśvara images Śiva **parivāra** is present. In one case at the top five Śiva **liṅgas** are also carved which is a rare feature and which possibly is suggestive of the **Pancānana** (five faced) form of Śiva, in which he controls the **Pañcatattvas** (fire, water, earth, air and sky), essential for the life. It may also symbolize the **Pañcākṣaramantra**- (Oṁ Namaḥ Śivāya)[4].

The central **rathikā** on south exhibits the figure of three-faced, six-armed Śiva sitting crosslegged in **yoga-vyākhyāna-mudrā** and having trident, **lakuṭa, khaṭvāṅga** and bell-like attributes. The image identified as Maheśa-mūrti is somewhat unusual because **lakuṭa** is suggestive of the Lakulīśa form. The **khaṭvāṅga** and bell however are suggestive of terrific aspect of Śiva. It may be suggested that the six-armed Maheśamūrti

PLACEMENT OF IMAGES ON THE OUTERWALLS (*JAÑGHĀ RATHIKĀS*) OF THE TEMPLE

SOUTHERN FAÇADE

Upper Jaṅghâ

Umâ-Maheúvara on *Nandī*
Nâga-Nâgī image with five hooded snake canopy

Lower Jaṅghâ

Umâ-Maheúvara in *lalītâsana* with Gaṇeúa and Kârttikeya on left corner, Nandī and Lion below.	**Maheúa Mûrti** in central *Rathikâ* [six armed- *Triúûla* & *Lakuṭa* (right) and *Khaṭvâṅga* & *Ghaṇṭa* (left)] and two remaining hands in *Vyakhyâna-mudrâ* with *Akṣamâlâ*) seated in *Padmâsana* on louts, Nandī in front.	**Umâ-Maheúvara** seated on Nandī, upper part contains five Liṅgas, small figures of Gaṇeúa and Kârttikeya and Śhṛngi Ṛṣi figures near *Āsana*.

WESTERN FAÇADE

Upper Jaṅghâ

Viṣṇu Standing (four-armed- *Gaḍâ, Padma, Cakra* & *Saṅkha*)

Lower Jaṅghâ

Brahmâ standing (four-armed- *Sruva, Ākṣamâlâ*, manuscript & *Kamaṇḍalu*) and *Haṁsa-vâhana*.	**Naṭarâja** (four-armed- *Ḍaṁaru, Triúûla*, skull-cup & *Ghaṇṭa*), on pedestal *Nandī* and *Gaṇa* playing on drum.	**Viṣṇu** (four-armed- *Gaḍâ, Padma, Saṅkha*), on pedestal shown *Garuḍa* and four attendant figures in the *Parikara*.

NORTHERN FAÇADE

Upper Jaṅghâ

Nâga-Nâgī seated (seven hooded snake canopy, holds water-vessel and *Abhayâksh*) lustrated by two Nâga-Nâgī attendant figures (with snake canopy).	**Nâga** (with seven hooded snake canopy, holds water-vessel).	**Vâmana Viṣṇu** in central niche (two-armed- *Varada-mudrâ* & conch) *Garuḍa* in human form and Laṣmī, worshipper with folded hand.

Lower Jaṅghâ

Ardhanâriúvara (four-armed- *Triúûla* & *Darpaṇâ in right and left hands*)	**Balrâma - Revati** (Balrâma with seven hooded snake canopy, four-armed- *Hala*, wine-cup, *Mûsala*) one hand of both in *Ālingaṅa*-pose.	**Andhakâri** alongwith Gajântaka features (eight-armed- *Gajacarma* in two upper hand, skull-cup & trident piercing into the body of Andhaka demon), left leg forward *Pratyâliḍha-mudrâ*.	**Mahiṣamardinī** (four-armed- piercing the trident into the neck of buffalo demon that is shown in human form and emerging from the beheaded neck of buffalo.

01. General view - Kardameśvara Temple, Kandawa, Varanasi, 12th century CE

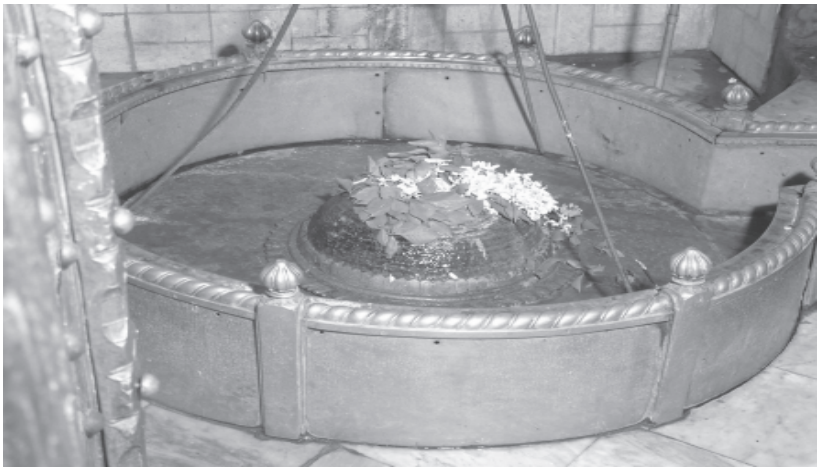

02. Śiva Liṇga, garbhagṛha, Kardameśvara Temple

03. Nateśa, western bhadra-rathikâ, Kardameśvara Temple

04. Umâ-Maheśvara, accompanied by Ganeśa and Kârttikeya, southern façade, Kardameśvara Temple

05. Ardhanriśvara (re-touched in 13th cent.), northern façade, Kardameśvara Temple

06. Mahiśamardini, northern façade, Kardameśvara Temple

represents **yoga, saṁhāra** and **kalyāṇa** aspects of Śiva. Śiva with bulging eyes is **trinetra** and wears the **naramuṇḍamālā**. The two faces like Elephantā and Ellorā examples are not shown because fourth face on back is not possible to show in relief images while fifth face of **Iśāna**-sky is beyond comprehension (**avyakta**). The placement of the above four figures of Śiva on south facade is meaningful which is subject to further probing.

The temple bears witness to the renovation and reconstruction work mainly in the **śikhara**. The images are mostly defaced but their iconographic features however are discernible. The well preserved images on the temple include three figures of Umā-Maheśvara, Maheśamūrti, Visṇu (standing in **Sambhaṅga** with disc and mace) and Balarāma-Revatī (Balarāma as usual with plough and wine cup). The other figures of Brahmā, Andhakāri, Nateśa, Mahiṣamardinī are more on less mutilated and retouched. Their decorated pointed **mukuṭas**, attributes and other features distinctly suggest that retouching was done subsequently in 13th-14th century C.E.

On the south **adhiṣṭhāna** is a panel of gupta period which shows **Gaṇa** figures which suggest that this temple site was important centre of art activity right from the time of Gupta period to the 18th century C.E. A few isolated Gahaḍavāla period mutilated images of Sūrya and Viṣṇū are also studded in walls close to the temple.

Thus the 12th century Kardameśvara temple of Varanasi is not merely the ancient most surviving temple in Varanasi-which is still in worship. Its special importance lies in the fact that it is the place of first night halt during the course of **Pañcakrośī Yātrā** for the pilgrims who worship in the temple with devotion in the second morning and proceed further for next day destination-Bhīmachaṇḍī. It means that the temple was historically important from the Gahaḍavāla period. The uniqueness of the temple is the absence of **Aṣṭadikpāla** figures on the temple corner walls which was an indispensible feature of north Indian temples. The southern wall of temple is completely devoted to Śiva and there by his figures occur on wall which in three examples represent Umā-Maheśvara and in one example it is Maheśamūrti. It is equally important to find three different forms of Śiva in the **bhadra rathikās** (central niches) of the facade on three sides. These forms depict Śiva as Maheśa, Naṭarāja and Andhakārī. The walls on west and north, on the other hand, represent alongwith the images of Śiva (Nateśa, Andhakāri), the figures of Visṇū (Ekal, Vāmana), Brahmā, Śakti, Balarāma-Revatī and Nāgā-Nāgī.

Foot-Notes

1. E.B. Havell, **Benaras- the Sacred City**; Kolkata, 1968 (Rep.) pp. 41-50; Dina L. Eck- **Banaras-City of Light**, London, 1983, pp. 150-154.
2. For details of architecture and Sculpture of temple see- V.S. Agrawala, 'Kardameśvara temple', **Journal of the U.P. Historical Society**, Vol. XXII, pts. 1-2, pp. 211-213; V.S. Agrawala, **Studies in Indian Art**, Varanasi, 1965, pp. 269-70; Kamal Giri, M.N.P. Tiwari, Vijaya Prakas Singh, **Kāśi Ke Mandir aur Mūrtiyān**, Jila sanskritik kendra, Varanasi, Rachna Sharma, **Kāshī-Khaṇḍa Aur Kāśi**, Varanasi, 2010.
3. Vāgarthāviva saṁpṛktau Vāgartha pratipattaye!
   Jagataḥ Pitarau vande Pārvati Parmeśvarauh
   -**Raghuvaṁśa**-Sarga 01, Verse 01.
4. This was suggested by the eminent scholar of Indian Art Dr. N.P. Joshi.

●

CORRIGENDUM

The second photograph on the front cover second page of the "PRAJNA" Volume. No. 59, Part 01, Yr. 2013-14 shows Prof. T.V. Ramakrishnan. The details of the photograph printed thereof inadvertently mention the name of Prof. U.R. Rao in place of Prof. T.V. Ramakrishnan which is highly regretted.

EDITOR
Prajna Journal

NOTIONS AND NUANCES OF IDENTITY: A READING OF SHASHI THAROOR'S *RIOT*

BHUBAN CHANDRA TALUKDAR*

The discourse of identity has gained unprecedented attention from the scholars, litterateur and critics alike since the second half of the 20th century. This has been specially so since the last two or three decades of the preceding century as a fall out of the postmodern philosophy that affected all disciplines of thought and dismantled old ideas paving the way for new ones. Many of the notions that prevailed earlier have become obsolete while new ideas surrounding identity have gained ground. Postmodern thinkers and their philosophy have been instrumental in providing rationality to many new ideas and thoughts that are in themselves watersheds in relation to earlier traditions. The notion of identity is one such idea that has been widely discussed across the globe in different contexts by the intellectuals. Besides, globalisation and the policy of economic liberalisation adopted by many nations of the world have also been influential in the proliferation of the new ideas of identity. These sweeping global phenomena have worked paradoxically in that they have encouraged people to retain their traditional and ethnic practices and at the same time embrace and accommodate new ideas and cultures that are continental or global in nature. This in turn has resulted in a heightened emphasis on "postmodern heterogeneity" that has been augmented by economic and cultural globalisation as by "promoting diversity in cultural identity" (Papastergiadis 77) globalisation has given birth to glocal culture.

In the process of the merging of local and global cultures, human identity has undergone a complete "reorientation" (Sen 9). The earlier notion of singular identity has been discarded and the notion of plurality of one's identity has come into existence. One's identity does not remain confined to one single community as there are multiple claims on him or her from different groups. Depending on a person's culture, language, place of origin, religious affiliations etc. one possesses diverse identities simultaneously all of which are equally valid. Amartya Sen's comment on (his) identity and belonging assumes significance here as he explains:

> There are a great variety of categories to which we simultaneously belong. I can be at the same time, an Asian, an Indian citizen, a Bengali with Bangladeshi ancestry, an American or British resident, an economist, a dabbler in philosophy, an author, a Sanskritist, a strong believer in secularism and democracy, a man, a feminist, a heterosexual, a defender of gay and lesbian rights, with a nonreligious lifestyle, from a Hindu background, a non-Brahmin, a nonbeliever in an afterlife (and also, in case the question is asked, a nonbeliever in a "before-life" as well)….(19)

He further observes that "Belonging to each one of the membership groups can be quite important, depending on the particular context… the importance of one identity need not obliterate the importance of others" (19). Such plurality or multiplicity of identity hints at, to follow Sen, the role of choice and logic in choosing to identify ourselves with others. At the same time, this also denotes a sense of uncertainty to choose one from the multiplicity of selves that we have. Alberto Melucci's opinion in the context of such difficulty is worth quoting here:

> Our self simultaneously comprises a number of components, and the deepest-seated aspect of uncertainty is structured precisely by our difficulty in identifying with one of them, and by the requirement that we should do so in order to act. Hence, not only it is difficult to identify ourselves over time and to state that we still are who we used to be; also — and perhaps even more so — it is hard to decide at any particular moment which self among many is ours. (63)

Significantly, none of the identity groups can claim exclusive belongingness to it from a person. But contradictorily enough, it is precisely this that is at the core of many contemporary problems that stem from the illusion of singularity of one's identity. Much of the conflicts at different levels and of varying magnitude,

*Teacher Fellow, Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi

that have torn contemporary society apart and emerged almost as a constant contemporary social reality across the nations, have their roots in the claims or clamours for exclusivity made by different religious or cultural groups. This has further problematised the issue of identity as, to quote Sen, "the incitement to ignore all affiliations and loyalties other than those emanating from one restrictive identity can be deeply delusive and also contribute to social tension and violence" (21). One's sense of identity that follows the application of logic can give one immense joy and confidence whereas blind subscription to narrow views of determining identity has the potentiality to "firmly exclude many people" which would entail "the fury of dichotomised identity ready to inflict hateful penalties on the other side" (Sen 3).

The identity discourse, in the particular context of India, poses certain problems before us. Some of these problems emanate from the very history of India. Indian history of pre-Independent period is replete with conflicts, conversions (voluntary and forced), accommodations and negotiations while Independent India has become a multicultural society at least in terms of its demography. Though cultural heterogeneity has been a hallmark of Indian democracy, the multiple religious and cultural practices and claims of its diverse religious and ethnic communities had to be accommodated through due recognition of the diversity by means of policy making. But even after such efforts by successive governments since Independence, India has not been able to contain cultural and communal conflicts and narrow compartmentalisation of its population. Further, in the age of postmodern fragmentation of everything including identity, the emergence of new modes of economic, political and cultural collaborations among the nations have placed most of the traditional practices on the verge of extinction. Yogendra Singh aptly observes in this context:

> the continuance of composite culture as represented in the traditional order of culture and cultural complexes of India is under severe pressure and is getting eroded. It is mainly because of the increasing obsolescence of the traditional cultural order on account of the modern forces of competitive politics, uneven economic growth and the tensions arising out of the impediments to social and cultural mobility among a large number of communities. This has reinforced self-consciousness of cultural identities among communities on lines of religion, ethnicity, caste and language etc. (216)

Conflicting identities and interests of religious and cultural communities in India have often led to eruption of violent clash and even riots that have marred her image of being a secular democracy.

It is true that one cannot totally ignore the religious practices and sentiments as they form a very vital part of one's cultural being. But at the same time, one cannot allow religion to segregate human society and the world into some exclusive divisions where there is no space for those having different religious affiliations. The present paper discusses Shashi Tharoor's *Riot* (2001) as an argument for embracing the idea of the plurality of human identity for the creation as well as perpetuation of a polyphonic society. It will analyse how Tharoor allows his characters to express their respective views regarding identity and how through their views and counterviews a repudiation of the received notions of identity is effected by Tharoor to encompass the nuances of identity and permeate what he writes in his essay, "The Future of Civil Conflict": "the idea of multiple identities and multiple loyalties, all coming together in allegiance to a larger idea of India" (11).

Paul R. Brass in his "Introduction: Discourses of Ethnicity, Communalism and Violence" terms the confrontation between the Hindu and the Muslim communities in South Asia as the "most pernicious and violence-producing 'sub-discourse'" (37). Tharoor in *Riot* deliberates on the issue of Hindu and Muslim communal identity in India through this so-called "sub-discourse". The opposing and at times confrontational views and opinions of the leading characters expressed in the course of the narrative of the novel bring to the fore the traditional notions of identity be it personal, communal or national — all of which require a logical and rational scrutiny. The need to scrutinise becomes more important when we consider the impact of globalisation and other such phenomena that have blurred the geographical boundaries of the nations across the world. The very beginning pages of the novel strike us as they subtly emphasise the existence of global organisations like HELP-US, multinational giants like Coca-Cola company "which was expelled from the

country in 1977" (R 3) and the orthodox traditionality of a few of the representatives of the major communities in India. Though the waves of global policies and thoughts had started to reach India in those days, the 'representatives' more or less betray their blind attachment to orthodox views and a consequent sense of disbelief for the people of other communities which are the root causes of the problem of communal riot that the novel deals with.

To analyse the issue of identity, as treated in the novel, a discussion of the views and opinions of a few of the leading characters, some of which act as the 'spokesmen' of the conflicting communities, becomes imperative. In an interview Ram Charan Gupta delves deep into myths, legends and religious history of the country to present his arguments before Mr. Diggs, the American journalist. In a manner typical to a local orthodox Hindu leader like him, Gupta sketches the entire history of the events related to the Ram Janmabhoomi Temple/Babri Masjid controversy till the eventful riot that occupies the centre-stage of the narrative. In his interview he touches many vital issues that 'determine' Hindu religious identity and belittle that of the Muslims in India. He portrays the Muslims as oppressors, traitors, fanatics, terrorists and equates them with the evil forces. His opinions like "For hundreds of years we suffered under the Muslim yoke" (R 53) and "these Muslims are evil people…. They are more loyal to a foreign religion, Islam, than to India. They are all converts from the Hindu faith of their ancestors, but they refuse to acknowledge this, pretending instead that they are all descended from conquerors from Arabia or Persia or Samarkand" (R 54) make the point clear to us.

In his interview the interconnectedness among riots, rituals and public space in the construction of identity, here in the context of the novel communal identity, is also revealed. He informs Mr. Diggs about the ritual of Ram Sila Poojan in these terms: "Bricks bearing the name of Ram, each brick consecrated in a special puja, worshipped in its local shrine, and then brought to Ayodhya. This was the Ram Sila Poojan, the veneration of the bricks of Ram. The building bricks of a great new temple, to commemorate the birth of our great and divine king" (R 53). Such rituals that involve the public space though contribute to the construction of communal identity, also often lead to violence and riot if the public space used happens to be a sensitive or troubled area. This is exactly what happens in Zalilgarh as the ritual procession that culminates in a riot was passing through a sensitive Muslim area. This process of 'sacred' rituals further escalates the creation of 'the other' holding them as impure. Mr. Gupta, who represents the Hindus, declares the Muslims as "these Muslims are evil people" (R 57). Such generalisation by the local religious leader encourages his followers to integrate and in 'othering' the Muslims. Peter van der Veer's comment on role of religious rituals is worth quoting here where he opines: "While the ritual process integrates the individuals in a community of worshippers, it sets it apart from those who do not worship. Moreover, in a number of cases, it tends to portray 'the other' as 'demonic', 'threatening' and 'impure'" (156-7). Gupta's opinions and descriptions regarding the Ram Sila Poojan in the interview accomplish more or less all these functions of a ritual mentioned by Veer. Thus, Mr. Gupta defines Hindu identity with the help of Hindu myths, legends and history and in doing so he also takes recourse to the tactics of 'othering' and 'demonising' the identity of Muslims.

In stark contrast to Mr. Gupta, Mohammed Sarwar, an associate professor of history in Delhi University, shows better understanding of what constitutes Muslim identity as well as the history and culture of India and argues for a tolerant view to be maintained by all communities. His initial mild and tolerant views can be easily understood from the fact that in his student days he used to follow communism as a faith and in professional life he follows, as he himself says "two other faiths that I realised meant more to me" (R 88) — Democracy and Islam. In his interview to Randy Diggs Sarwar shows his inclination to a united India and is very critical of the Partition of 1947. He says,

> most of the country's Islamic leaders… were bitterly opposed to the movement for Pakistan. They felt that Islam should prevail over the world at large and certainly over India as a whole, and they thought it treasonous — both to India and to Islam itself — to advocate that the religion be territorially circumscribed as Jinnah and the Muslim Leaguers did" (R 109).

To substantiate his views Sarwar cites Moulana Azad as the greatest "testament of the faith of a

religious Muslim in a united India" (R 107). As a well-versed teacher of Indian history he fondly emphasises on Maulana Azad's speech delivered as the president of Indian National Congress at Ramgarh in 1940 where Azad declared his pride at being an Indian Muslim. To highlight the fact that Muslims are an integral part of India's national identity he further quotes from the same speech when Azad said:

> 'I am indispensible to this noble edifice. Without me this splendid structure of India is incomplete. I am an essential element which has gone to build India…. It was India's historic destiny that many human races and cultures and religions should flow to her, and that many a caravan should rest here…. One of the last of these caravans was that of the followers of Islam…. We gave her what she needed most, the most precious of gifts from Islam's treasury, the message of human equality'. (R 108)

Sarwar's belief in the merits of Maulana Azad's speech and his severe criticism of the Partition are ample evidences that impress upon us his faith in a unified Indian identity. But gradually this impression seems to melt at the abrupt change in his tone as he criticises the Hindu fanatics and speaks to Mr. Diggs about the circumstances the Muslims in India have to face as well as the change in the attitudes regarding what defines Indianness. He lashes out at the "Hindu chauvinists" who "call on Muslims to 'assimilate' properly, to 'acknowledge' our Hindu origins and subordinate ourselves to their notion of the Indian ethos" (R 110). He informs "there is prejudice in this country" by which, unlike him because of his intellectual position as he himself says, "millions of my fellow Muslims" (R 112) are affected. Referring to the "change in the dominant ethos of the country, in the attitudes of mind that define what it means to be Indian" he speaks of witnessing "more and more the demonization of a collectivity" (R 113) and regrets that "the national mind has been afflicted with the intellectual cancer of thinking of 'us' and 'them'" (R 114). At the end of his interview, he talks about an India that accommodates equal space to both the Hindu and Muslim cultural identities. Thus, most of the views expressed by Sarwar point towards his being a firm believer in democracy, but at times, his mildness gives way to critical intolerance of the Hindu fundamentalists.

On an entirely different plane from Gupta and Sarwar, Mr. V. Lakshman, the District Magistrate of Zalilgarh, offers his views on identity, causes of division and violence in India. He expresses the views before Priscilla Hart, an American citizen who comes to India in connection with her research field-work. His views are based on practical realities in India, and, therefore, they are comprehensive perceptions from an administrator's point of view. In his discussion with Priscilla on the issue of different sources of division among people in India, he begins with linguistic identity and illustrates region, caste, class and religion as the other sources of disintegration. While illustrating each of these sources he displays a genuine knowledge of the situations in the Indian context. The most striking are his views on the center/periphery relationship between Delhi and Northeast, communalism and how all the disgruntled voices have been pacified. In the context of the Northeast and its relationship with North and South India he remarks: "both are seen as distant and self-obsessed by the neglected Northeast. There's a real risk of disaffection here, especially as long as power remains concentrated in Delhi and the outlying states find themselves on the periphery" (R 42). The strong sense of dissatisfaction till recent times in the minds of the people of Northeast, who are highly conscious of their unique ethno-linguistic identity, is echoed in the opinion of the administrator. Talking about religion, he reflects on the merits of Hinduism "for encouraging social peace" (R 43). He regrets that "religion also breeds what we in this country call 'communalism' — the sense of religious chauvinism that transforms itself into bigotry, and sometimes violence, against the followers of other faiths" (R 44). Expressing his deep faith in the Indian federal democratic system he lauds the basic principle that lets "everyone feel they are as much Indian as everyone else… democracy protects the multiple identities of Indians, so that people feel you can be a good Muslim and a good Bihari and a good Indian all at once" (R 44-5). He goes on to question the rise of militant Hinduism that challenges "the very basis of the Indianness" (R 45). Thus, he reflects on all the important aspects of India's contemporary situations in terms of identity question. He represents those who, endowed with modern education, are open to receive everyone on equal terms without discrimination.

Another important issue that figures in the narrative of the novel is the identity of women. Though not treated at length the novelist gives space to the issue of female identity that is doing the rounds for quite some time. In the context of Sita's subjection to 'agni-pariksha' by Lord Ram and Sita's request to "the earth to open up, literally, and swallow her" (R 63) Priscilla Hart questions the very credibility of Lord Ram as a husband. She writes in her scrapbook: "What the hell does this say about India? Appearances are more important than truths. Gossip is more potent than facts. Loyalty is all one way, from the woman to the man. And when society stacks up all the odds against a woman, she'd better not count on the man's support. She has no way out other than to end her own life" (R 63). Such observation by a foreign woman raises serious questions about the very basis of Indian patriarchal society where women have almost always been subjugated by men. The case is more so especially in rural and traditional families and it is worse in the cases of poor and illiterate women where they are not even granted liberty over their own body. Fatima Bi and Sundari in the novel are glaring examples of such oppression. When Fatima gets frequently beaten by her husband Ali for her unwillingness to conceive for the eighth time, the latter suffers the trauma of being put to fire by her husband Rupesh and his mother for not conceiving a male child. To subvert the dominance over women Tharoor introduces the NGO, HELP-US, and its volunteer Priscilla Hart in the narrative as a ploy that works for liberation and empowerment of women. By creating awareness among the women about their health and birth control an attempt is made to enable the underprivileged rural womenfolk to curve out an identity for themselves.

Thus, Tharoor presents in the novel the voices and opinions of the representatives of different sections of Indian society who express what define their identity. The characters base their arguments on their knowledge and perceptions of received history which are countered by the author through the narrative. Sathyaraj V. and Joe Varghese Yeldho significantly observe in this context that "Tharoor, by simultaneously offering divisive and variant notions of the historical impetus, brings into sharp focus the limitations of historical knowledge that… survives with the nebulous notions of 'truth' and 'reality'" (59). The received views and notions regarding identity, as expressed by characters like Ram Charan Gupta, fail to impress as Tharoor, the adept former UN diplomat, suggests that all these are not inclusive enough to portray a sincere notion of what constitutes a true idea of Indianness. In the process, he offers as Tabish Khair has observed: "a reasoned critique of Hindu nationalism and Muslim communalism" (306). Tharoor strongly believes in "the idea of India is of one land embracing many. It is the idea that a nation may endure differences of caste, creed, color, culture, conviction, cuisine, costume and custom" ("The Future" 11) and suggests in *Riot* that the need of the hour is to adopt an all-inclusive idea of a society giving equal space to the polyphonic voices that emerge from the cross-sections of the society.

Works Cited

Brass, Paul R. "Introduction: Discourses of Ethnicity, Communalism and Violence." *Riots and Pogroms*. Ed. Paul R. Brass. Hampshire: Macmillan, 1996. 1-55. Print.

Khair, Tabish. "Shashi Tharoor." *A Companion to Indian Fiction in English*. Ed. Pier Paolo Piciucco. New Delhi: Atlantic, 2004. 300-311. Print.

Melucci, Alberto. "Identity and Difference in a Globalized World." *Debating Cultural Hybridity: Multi-Cultural Identities and the Politics of Anti-Racism*. Ed. Pnina Werbner and Tariq Modood. London: Zed, 1997. 58-69. Print.

Papastergiadis, Nikos. *The Turbulence of Migration*. Malden: Polity, 2000. Print.

Sen, Amartya. *Identity and Violence: The Illusion of Destiny*. London: Penguin, 2007. Print.

Singh, Yogendra. "Composite Culture, Community and Identity: Interface with Social Change in India." *Composite Culture in a Multicultural Society*. Ed. Bipan Chandra and Sucheta Mahajan. New Delhi: Pearson Longman, 2007. 195-215. Print.

Tharoor, Shashi. *Riot*. New Delhi: Penguin, 2001. Print. (Herein referred to in the text as R)

---. "The Future of Civil Conflict." *World Policy Journal* 16.1 (Spring 1999): 1-11. *JSTOR*. Web. 22 July 2013.

V. Sathyaraj and Joe Varghese Yeldho. "History in Shreds: A Reading of Shashi Tharoor's *Riot*." *Indian Writing in English*. Ed. Binod Mishra and Sanjay Kumar. New Delhi: Atlantic, 2006. 57-65. Print.

Veer, Peter van der. "Riots and Rituals: The Construction of Violence and Public Space in Hindu Nationalism." *Riots and Pogroms*. Ed. Paul R. Brass. Hampshire: Macmillan, 1996. 154-176. Print.

''प्रज्ञा'' : नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगीः प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

   ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

   (अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

   (ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

   (स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक ''प्रज्ञा''** को देता हूँ।

   लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

   दिनांक एवं स्थान .....

   मोबाइल/टेलिफोन नं० .....

●

PRAJÑĀ : RULES AND GUIDELINES

1. As far as possible, **"Prajñā"** will be published twice a year : One issue at the time of start of the academic session, the other on the occasion of the Malaviya Jayanti.
2. The Teachers/Research Scholars of B.H.U. intending to publish their articles/research papers in the first issue of **"Prajñā"** are required to submit their manuscripts in the office of **"Prajñā"** before 30th November. The deadline for the submission of articles/ research papers for the second issue shall be 30th April. The research papers/articles of research scholars should be forwarded and recommended by the Supervisor/Head of the Department concerned.
3. The authors contributting their research papers/ articles shall get two copies of **"Prajñā"** : The first one would be the author's copy and second will be in lieu of 10 reprints of their articles.
4. All donations/subscriptions should be sent to the Editor, **"Prajñā"** B.H.U. Journal, Varanasi-221005.
5. **Guidelines for preparation of Manuscript of Articles/Research Papers :**
   a. Article/Research Papers should be Computer typed. Authors are required to submit a C.D. of their manuscripts alongwith the hard copy.
   b. The manuscript should be typed in double-space with 2 cm margin on the A-4 size bond paper.
   c. **For the manuscripts in Hindi and Sanskrit, the following instructions be followed :**

      APS-DV-Priyanka Roman Font, Title – 17 point black, Author's Name–13 point italic black, Text 13 point, folio 11 point and footnote 9 point.

   d. **For the manuscripts in English, the following instructions be followed :**

      'Times New Roman' font, Title-14 point All caps black, Author's Name - 11 point All caps italic black, Text-11 point upper lower, Footnote and Folio - 9 point. Text should be composed on A-4 size in the above font.

   e. **The Research papers/articles should not go beyond a maximum of 10 typed pages.**
6. **The declaration of the author for publication of articles in the "Prajñā" journal:**

   I, the author of the research paper/article entitled "....." declare that :

   a. I take the responsibility of the content and material of my paper as I myself have written it and also have read the manuscript of my paper carefully. Also, I hereby give my consent to publish my paper in the **"Prajñā"** journal.
   b. This article/research paper is my original work and no part of it's similar version is published or has been sent for publication anywhere else.
   c. I authorise the Editorial Board of the **"Prajñā"** journal to modify and edit the manuscript. I also give my consent to the Editor of **"Prajñā"** to own the copyright of my research paper/article.

   Author's Name and signature .....

   Date and Place .....

   Mobile/Telephone.....

●

शिक्षक दिवस- दिनांक 05.09.2013 के अवसर पर 'प्रज्ञा' अंक-59, भाग-1, वर्ष 2013-14 का लोकार्पण मुख्य अतिथि प्रो. पृथ्वीश नाग एवं पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह, कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कर कमलों द्वारा हुआ। इस अवसर पर लिया गया चित्र :

बायें से : प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल; प्रो. विनय कुमार सिंह, छात्र अधिष्ठाता; पद्मश्री डॉ. लालजी सिंह, कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; प्रो. पृथ्वीश नाग, कुलपति, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ; एवं प्रो. जी. एस. यादव, कुलसचिव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

(स्थान- के. एन. उडुप्पा प्रेक्षागृह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

ISSN: 0554-9884

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

Objectives of the University

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.